हिन्दी आलोचना : स्वरूप और विकास

(1900 ई. से 1920 ई. तक)

HINDI ALOCHANA : SWARUP AUR VIKAS

(1900 AD SE 1920 AD)

HINDI CRITICISM : STRUCTURE AND DEVELOPMENT

(FROM -1900 TO 1920 AD)

(पी-एच.डी. (हिन्दी) की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध)

शोध निर्देशक
प्रो. ओमप्रकाश सिंह

शोधार्थी
वंशीधर उपाध्याय

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

2018

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली-110067, भारत / New Delhi-110 067, india

Dated 23 / 07 / 2018

DECLARATION

I declare that the research work done in this Ph.D. Thesis entitle **"HINDI ALOCHANA: SWARUP AUR VIKAS" (1900 AD SE 1920 AD) HINDI CRITICISM: STRUCTURE AND DEVELOPMENT (FROM -1900 TO 1920 AD)** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

VANSHIDHAR UPADHYAY
(Research Scholar)

PROF. OMPRAKASH SINGH
(SUPERVISOR)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. GOBIND PRASAD
(CHAIRPERSON)
CIL/SLL&CS/JNU

समर्पण

स्व. डॉ. रविशंकर उपाध्याय की स्मृति को सादर

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

भूमिका **i—vii**

पहला अध्याय : हिन्दी आलोचना का उद्‌भव और विकास **1—36**

1.1 शास्त्रीय आलोचना और हिन्दी आलोचना

1.2 पाश्चात्य शिक्षा पद्धति

1.3 हिन्दी आलोचना की पृष्टभूमि और भारतेन्दुयुगीन आलोचना

दूसरा अध्याय : आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी युगीन साहित्यिक परिदृश्य **37—82**

2.1 1857 की जंग-ए-आजादी : नवजागरण और खड़ी बोली का साहित्य

2.2 तत्कालीन परिदृश्य और साहित्य

2.3 हिन्दी आलोचना का सम्वर्धन काल : द्विवेदीयुग

तीसरा अध्याय : तत्कालीन आलोचक और उनकी आलोचना दृष्टि **83—119**

3.1 महावीरप्रसाद द्विवेदी

3.2 मिश्रबन्धु (श्याम बिहारी मिश्र, गणेश बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र)

3.3 पद्‌मसिंह शर्मा

3.4 कृष्ण बिहारी मिश्र

3.5 श्यामसुन्दर दास

3.6 लाला भगवानदीन

3.7 बालमुकुन्द गुप्त

चौथा अध्याय : युगीन आलोचना के विविध रूप **120—162**

4.1 सैद्धान्तिक आलोचना

4.2 व्यावहारिक आलोचना

4.3 तुलनात्मक आलोचना

4.4 टीका-साहित्य और पुस्तक समीक्षा

.... क्रमशः जारी

पांचवा अध्याय : तत्कालीन साहित्यिक विवाद और आलोचना के द्वन्द्व **163–201**

5.1 हिन्दी-उर्दू का विवाद

5.2 खड़ी बोली और ब्रजभाषा का विवाद

5.3 अनस्थिरता संबंधी विवाद

5.4 परम्परा और नवीनता का द्वन्द्व

उपसंहार **202–209**

संदर्भ-ग्रंथ-सूची **210–220**

.....

भूमिका

भूमिका

सन् 1900 ई. से 1920 ई. तक का समय भारतीय इतिहास और हिन्दी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। यह वही समय है जब भारतीय जनमानस और साहित्य दोनों नयी सम्भावनाओं की तरफ अग्रसर हो रहे थे। एक तरफ स्वाधीनता आन्दोलन व्यापक जन–आन्दोलन का रूप ले रहा था तो वहीं दूसरी तरफ साहित्य अपने स्वरूप को नयी दृष्टि के साथ विस्तार दे रहा था। सत्ता के पुराने समीकरण बदल रहे थे और नए समीकरण जन्म ले रहे थे। जब सत्ता के पुराने समीकरण बदलते हैं और नए जन्म लेते हैं तो उनमें एक संघर्ष चलता है। यह संघर्ष क्या शक्ल लेगा, यह तत्कालीन समय के प्रचलित सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे के बदलाव पर निर्भर करता है। इस बदलाव को वास्तविक स्वरूप में पहचानने के लिए तत्कालीन समय का साहित्य सबसे प्रामाणिक दस्तावेज होता है। अतः भारत के स्वाधीनता आन्दोलन और हिन्दी आलोचना के अन्तर्द्वन्द्व को समझना है तो सन् 1900 से 1920 ई. तक के साहित्य को समझना तथा उसके अन्तर्द्वन्द्व को व्याख्यायित करना जरूरी है। 1900 से 1920 तक का साहित्य एक तरफ जहाँ 1857 की जंग–ए–आजादी से जुड़ा हुआ है तो वही दूसरी तरफ छायावाद जैसे साहित्यिक आन्दोलन के सूत्रपात से।

1857 ई. की जंग-ए-आजादी के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विकृत चेहरा भारतीय जनमानस के सामने आता है। इस जंग–ए–आजादी की लड़ाई के साथ ही भारतीय समाज में (जीवन के सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में) परिवर्तन की एक धमक सुनाई पड़ती है। तत्त्कालीन साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहता है। भारत में नयी शासन व्यवस्था के सूत्रपात के साथ ही शिक्षा, संस्कृति और वाणिज्य तक में नयी पद्धतियों का समावेश होता है। इस समावेश से भारतीय जनमानस की चेतना भी प्रभावित होती है। इसी परिवर्तन को इस युग के लेखक महसूस करते हैं और अपने साहित्य में उसका चित्रण करते हैं। भारतेन्दु मण्डल के लेखकों के यहाँ 1857 की धमक और साम्राज्यवाद विरोध का स्वर सुनाई पड़ता है, लेकिन साम्राज्यवाद विरोध का स्वर भारतेन्दु युग में उतना प्रखर नहीं है, जितना आगे चलकर द्विवेदी युग में है। किसी भी समय, समाज, साहित्य आदि के बीच नई प्रवृत्ति और प्रणालियों से किस तरह द्वन्द्वात्मक संबंध बनेगा, उसका विश्लेषण और निरूपण कैसे होगा इसके लिए कुछ समय अपेक्षित है। सन् 1900 ई. से 1920 ई. तक का ही वह कालखंड है, वह भारतीय इतिहास और हिन्दी साहित्य के अन्तर्द्वन्द्वों को समझने के लिए आवश्यक जान पड़ता है।

साहित्य की दृष्टि से और खासकर आलोचना के विकासक्रम को समझने के लिए भी इस युग (1900 से 1920 ई. का कालखंड) का विशेष महत्त्व है। इसका कारण यह है कि इस युग के पीछे हिन्दी गद्य का उद्‌भव है तो आगे छायावाद जैसा समृद्ध काव्यान्दोलन। एक तरफ भारतेन्दु जैसे प्रखर साहित्यकार हैं तो दूसरी तरफ प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी जैसे प्रसिद्ध कवि। कहना न होगा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे महत्त्वपूर्ण आलोचक और प्रेमचन्द जैसे कथा सम्राट की दृष्टिबोध का समय भी यही कालखंड है। ध्यान से देखे तो सन् 1900 से 1920 ई. का कालखंड ही वह महत्त्वपूर्ण ईकाई है, जहाँ हिन्दी आलोचना के मूल्य निर्धारित होते हैं। हिन्दी साहित्य में जिस वैचारिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि की परम्परा का प्रवर्तन भारतेन्दु मण्डल के लेखकों ने किया था, उसे नवीन ज्ञान–विज्ञान, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक सन्दर्भों से जोड़कर विस्तार देने का कार्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा उनके समकालीन लेखकों ने किया। सन् 1900 ई. से 1920 ई. के बीच का लेखन कार्य अनेक धाराओं में विभक्त मिलता है, लेकिन यहाँ मुख्य रूप से आलोचनात्मक लेखन को आधार बनाकर इस शोध कार्य को तैयार किया गया है। इसका कारण यह है कि हिन्दी आलोचना के स्वरूप और विकास को समझने के लिए इस युग के आलोचनात्मक प्रतिमानों का परीक्षण जरूरी है।

हिन्दी आलोचना की शुरुआत भारतेन्दु मण्डल के लेखकों ने कर दी थी, पर उसका सम्यक् विकास उस युग में नहीं हो पाया था। उस युग (भारतेन्दु युग) में हिन्दी आलोचना का न तो कोई स्वरूप निर्धारण हो सका था न ही कोई व्यापक दृष्टि ही विकसित हो पाई थी। यह दोनों कार्य सन् 1900 ई. से 1920 ई. के बीच के लेखकों ने किया। ये विचारक हिन्दी आलोचना को समृद्ध बनाने के लिए देश–विदेश में विकासमान ज्ञान–राशि से सम्पर्क बनाए हुए तो थे ही, भारतीय परम्परा और साहित्य का भी मूल्यांकन प्रस्तुत कर रहे थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी जहाँ 'सम्पत्तिशास्त्र' और 'कालिदास की निरंकुशता' जैसी कृतियाँ लिख रहे थे, वहीं मिश्रबंधु 'हिन्दी नवरत्न' और हिन्दी साहित्येतिहास के व्यापक लोकवादी आधार को रच रहे थे। एक तरफ रीतिकालीन चेतना के विरोध का स्वर सुनाई पड़ रहा था तो इसी काल में दूसरी तरफ देव और बिहारी जैसे कवियों पर साहित्यिक आलोचनाएँ लिखी जा रही थी। कबीर जैसे कवि को लेकर श्यामसुन्दर दास उपस्थित होते हैं तथा हिन्दी आलोचना के आवश्यक उपादानों को एकत्र, व्यवस्थित और संयोजित करते हैं। इसी कालखंड में भाषा एक व्यवस्थित स्वरूप भी पाती है। कहना न होगा कि इस युग के आलोचकों ने हिन्दी आलोचना को एक विस्तृत फलक प्रदान किया। हिन्दी आलोचना के स्वरूप और विकास पर जब भी बात होगी, इस युग के लेखकों का सम्यक् मूल्यांकन अपेक्षित होगा।

इस युग की आलोचना सिर्फ साहित्यिक आलोचना तक ही सीमित नहीं है। उसमें राजनीति, समाज, धर्म, संस्कृति आदि विविध क्षेत्रों की समस्याओं पर कई स्तरों से विचार किया गया है। इस युग की आलोचना को 'सांस्कृतिक समीक्षा' के रूप में देखना ज्यादा तर्कसम्मत है। इस युग की आलोचना में साहित्यिक समीक्षा के साथ–साथ सभ्यता समीक्षा का भी स्वरूप झलकता है। यही कारण है कि इस युग की आलोचना में ज्ञान के अन्य अनुशासनों के साथ एक संवाद भी है। यह दीगर बात है कि इस संवाद में कहीं–कहीं आलोचना अन्य अनुशासनों का ही आधार बन जाती है, और साहित्यिक मूल्य कुछ कमजोर पड़ जाते हैं। इसीलिए इस काल की आलोचना में उपयोगितावादी तथा इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति ज्यादा दिखाई पड़ती है। वास्तविकता यह कि यह दृष्टि एक निश्चित उद्देश्य के कारण झलकती है। देश गुलामी की जंजीर से जकड़ा हुआ था। धार्मिक रूढ़ियाँ, जाति–भेद, लिंग–भेद, जैसी समस्याओं ने भी जनता को जकड़ रखा था। जीवन के इन समस्याओं को खोलकर चित्रित करना और जनता को जागरूक बनाना इन साहित्यकारों का प्रथम लक्ष्य था। इसी कारण इस युग के लेखकों ने देश, समाज, साहित्य, संस्कृति सभी क्षेत्रों में अपनी आलोचना को विस्तार दिया। इसका व्यापक प्रभाव हिन्दी आलोचना पर परिलक्षित होता है।

इस युग से पहले हिन्दी आलोचना के सैद्धान्तिक रूप को कोई ठोस आधार प्राप्त नहीं था। व्यावहारिक आलोचना तो लगभग अविकसित सी ही थी। हिन्दी में उस समय साहित्य की नयी विधाएँ – उपन्यास, कहानी, निबंध आदि के लिए कोई आलोचनात्मक प्रतिमान विकसित भी नहीं हुए थे। उनके विवेचन के लिए नए प्रतिमानों की आवश्यकता थी। हिन्दी आलोचना के जो प्रतिमान इस युग में बने, उसमें इस युग के आलोचकों की क्या भूमिका रही? तथा हिन्दी आलोचना के विकास में यह कालखंड क्यों और किस रूप में महत्त्वपूर्ण है? इसको समझने के लिए इस शोध प्रबंध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है।

पहला अध्याय – 'हिन्दी आलोचना स्वरूप और विकास' है। इस अध्याय में हिन्दी गद्य के विकास के साथ हिन्दी आलोचना को जोड़ते हुए यह दिखाया गया है कि हिन्दी आलोचना कैसे काव्यशास्त्रीय आलोचना से अलग है। हिन्दी आलोचना के उद्भव की अपनी परिस्थिति और पृष्ठभूमि है, इसका सम्यक् विशेषण भी इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही पाश्चात्य शिक्षा पद्धति और हिन्दी आलोचना के अन्तर्द्वन्द्व को भी विश्लेषित किया गया है। इस अध्याय में भारतेन्दु युगीन साहित्यिक चेतना को विश्लेषित किया गया है, जिससे यह जान पड़े कि वह कौन–कौन सी प्रवृत्ति थी जिसका विकास आगे चलकर द्विवेदी

युग में हुआ। हिन्दी आलोचना के विकास में इस युग के साहित्यकारों की क्या भूमिका रही है। इसका विश्लेषण और मूल्यांकन भी इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

दूसरा अध्याय – दूसरे अध्याय का शीर्षक है 'आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी युगीन साहित्यिक परिदृश्य'। इस अध्याय में द्विवेदी युग को समझने के लिए 1857 की जंग–ए–आजादी, नवजागरण और खड़ी बोली के अन्तर्द्वन्द्व को व्याख्यायित किया गया है। किसी भी युग के साहित्य कर्म को समझने के लिए उस युग की परिस्थितियों को जानना महत्त्वपूर्ण होता है। क्योंकि रचना अपने समय से संवाद करती हुई ही विकसित होती है। अतः उस युग की आलोचना को समझने के लिए तत्त्कालीन परिदृश्य और साहित्य के अन्तःसंबंध को समझना आवश्यक है। इस अध्याय में तत्त्कालीन परिस्थितियों के बदलते स्वरूप के विश्लेषण के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में जो बदलाव आए है, उसका विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। द्विवेदीयुगीन आलोचना के महत्त्व का विश्लेषण भी और उसके स्वरूप का विस्तार हिन्दी आलोचना के लिए कितना महत्त्वपूर्ण है इसका भी सम्यक मूल्यांकन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

तीसरा अध्याय – इस शोध प्रबंध के तीसरे अध्याय में 'तत्त्कालीन आलोचक और उनकी आलोचना दृष्टि' को विश्लेषित किया गया है। किसी भी समय और समाज की चेतना का विस्तार और उत्स उस युग के रचनाकारों में झलकता है। आलोचक इसी चेतना और सांस्कृतिक सरोकार को अपनी सृजनात्मकता से उद्दीप्त करता है। इस युग के प्रमुख आलोचकों ने अपनी विषयवस्तु में जिस चेतना का विकास किया उसकी दृष्टि क्या है? इसका सम्यक् मूल्यांकन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी में आलोचनात्मक प्रतिमानों के निर्धारण में इन रचनाकारों की क्या भूमिका है, तथा हिन्दी आलोचना के जो मूल्य बने हैं, उसको इस युग के आलोचकों ने कैसे खड़ा किया है? उसके अन्तर्द्वन्द्व क्या हैं? इन प्रश्नों पर तार्किक ढग से इस अध्याय में विचार किया गया है।

चौथा अध्याय – इस शोध प्रबंध का चौथा अध्याय 'युगीन आलोचना के विविध रूप' है। इस अध्याय में आलोचना के स्वरूप का विकास कैसे हुआ इसका वर्णन प्रस्तुत किया गया है। आलोचना के सैद्धान्तिक स्वरूप के साथ–साथ व्यावहारिक आलोचना, तुलनात्मक आलोचना तथा पुस्तक समीक्षा और टीका आलोचना, किस रूप में हिन्दी आलोचना की आधार बनी, उसको ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में रखकर देखा गया है। इन समीक्षाओं और आलोचनात्मक रूपों का हिन्दी आलोचना के विकास में क्या योगदान रहा है? इसका सम्यक् मूल्यांकन और परीक्षण इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

पाँचवा अध्याय – शोध प्रबंध के इस अध्याय में 'तत्त्कालीन साहित्यिक विवाद और आलोचना के द्वन्द्व' का सम्यक मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। किसी भी समय के आलोचनात्मक विवेक को समझने के लिए उस युग के साहित्यिक विवादों को समझना आवश्यक और तर्कसम्मत है। इसका कारण यह है कि तत्त्कालीन युग में जो आलोचनात्मक अवधारणा विकसित होती है, उसका इन विवादों से गहरा संबंध होता है। इन विवादों को जब तक नहीं समझा जाएगा, तब तक उस युग की आलोचना के स्वरूप और विकास को समझ पाना मुश्किल है। इस युग (सन् 1900 से 1920 तक) के आलोचनात्मक मानदण्ड को समझने के लिए इस युग में हुए महत्त्वपूर्ण विवादों को विश्लेषित किया गया है। इन विवादों का क्या अन्तर्द्वन्द्व था उसको तार्किक ढंग से इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इन विवादों के कारण, तत्कालीन आलोचना में उत्पन्न अन्तर्विरोध तथा हिन्दी आलोचना के विकास में इन विवादों की भूमिका का भी समीक्षात्मक विवेचन और विश्लेषण इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

उपसंहार – शीर्षक से शोध प्रबंध के अंत में विभिन्न अध्यायों के तथ्यों और निष्कर्षों का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। इस मूल्यांकन का आधार तत्त्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के साथ आलोचना की विकासधारा को जोड़कर विवेचित किया गया है। इस सन्दर्भ में सन् 1900 से 1920 ई. के बीच की आलोचना का वर्तमान समय की आलोचना से क्या सम्बन्ध है? तथा उसकी सार्थकता और सीमा क्या है? इसके निहितार्थ पर यहाँ विचार किया गया है।

लघु शोध प्रबंध लिखने के क्रम में ही 'हिन्दी आलोचना के स्वरूप और विकास' को लेकर मेरे मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई। प्रारम्भिक हिन्दी आलोचना के विकास के बाद सर्वाधिक चर्चा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की होती है। बीच का यानी 20वीं शताब्दी के शुरुआती दो दशकों में हिन्दी आलोचना की दिशा और दशा क्या रही है? इसकी कोई मुकम्मल तस्वीर देखने को नहीं मिलती है। अगर बात होती भी है तो केवल भाषा सुधार, देव–बिहारी विवाद और महावीरप्रसाद द्विवेदी तक ही चलताऊ ढंग से विचार कर आलोचक आगे बढ़ जाते हैं। मुझे बार–बार यह लगता था कि आचार्य शुक्ल के जो मानदण्ड बने हैं, वह सन् 1900 से 1920 ई. के बीच की आलोचना को देखते और समझते हुए बने हैं। हिन्दी आलोचना के अन्तर्द्वन्द्व की पहचान के लिए जरूरी था कि 20वीं शताब्दी के शुरुआती दो दशकों के प्रमुख आलोचक और उनकी आलोचना दृष्टि को समझा जाए, जिससे हिन्दी आलोचना के स्वरूप और विकास की वास्तविक तस्वीर साफ हो सके। इन्हीं कुछ बुनियादी सवालों को मैंने अपने शोध निर्देशक प्रो. ओमप्रकाश सिंह के साथ साझा किया। शोध में दाखिला लेने के पश्चात अपनी पूर्व की जिज्ञासा को अगर मैं कार्य रूप में तब्दील कर पाया, तो इसका पूरा श्रेय मेरे शोध निर्देशक को जाता है। सामग्री संचयन से लेकर विषय प्रस्तुतीकरण और विश्लेषण में

आपका मार्गदर्शन नहीं मिलता तो यह शोध कार्य पूरा नहीं हो पाता। इस समस्त कार्य का परिष्कार तथा सार्थक रूप देने में आपकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है। विचारों को सही तर्कों के आधार पर परखना और उसे सही भाषा में ढ़ालना मैंने आप ही से जाना और सीखा है। आपके प्रति किसी भी तरह की कृतज्ञता महज एक औपचारिकता होगी। आपका स्थान और सम्मान इससे कहीं ज्यादा है।

गाँव से लेकर जे.एन.यू. तक का सफर अगर मैं कर पाया तो सिर्फ स्व. रविशंकर उपाध्याय की वजह से। रविशंकर उपाध्याय मेरे लिए सिर्फ व्यक्ति या नाम नहीं हैं। वह मेरी चेतना का वह हिस्सा हैं, जिसके आलोक में मैंने अपने जीवन का विस्तार पाया है। यह मेरा दुर्भाग्य है कि जिनके निमित्त मैंने उच्च शिक्षा में कदम रखा और जिसकी ऊँगली पकड़कर मैंने जीवन और साहित्य का ककहरा सीखा, वह आज हमारे बीच नहीं हैं। आज आप जिन्दा होते तो इस शोध कार्य को देखकर आपकी प्रसन्नता देखते ही बनती। आपके न होने से मेरे जीवन में जो खालीपन है उसकी भरपाई तो सम्भव नहीं, लेकिन आपके उम्मीदों को कुछ भी साकार रूप दे पाऊँ, यही मेरे जीवन की आकांक्षा और सार्थकता है।

मेरे जीवन की इस यात्रा का अहम पड़ाव काशी हिन्दू विश्वविद्यालय रहा है। यहाँ शिक्षकों के साहचर्य और बड़े भाईयों तथा मित्रों के सानिध्य में रहकर साहित्य–संस्कृति और राजनीति को लेकर जो समझ बनी, उसने अकादमिक जीवन के प्रति लगाव को और अधिक पुष्ट किया। आज भी उनका सहयोग हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है। इन शिक्षकों और बड़े भाईयों के प्रति आभार महज औपचारिकता ही होगी।

बी.एच.यू. ने जो मुझे पहचान दिया उसका विस्तार जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में आने के साथ हुआ। जे.एन.यू. में दाखिला की सूचना मेरे लिए एक बड़ी उपलब्धि को पा लेने की तरह थी। जब मैं इस दाखिले को उपलब्धि कह रहा हूँ तो इसकी एकमात्र वजह यह है कि जीवन और साहित्य को देखने–समझने की वैचारिक समझदारी क्या होती है? मैं इससे महरूम रह जाता अगर इस संस्था से मेरा जुड़ाव न होता। यह विश्वविद्यालय अकादमिक गतिविधियों के साथ–साथ सांस्कृतिक और सामाजिक बहसों का केन्द्र भी है। पढ़ाई के साथ–साथ जीवन के विविध पहलुओं को देखने की समझदारी जो भी थोड़ी बहुत बन पायी, उसमें इस विश्वविद्यालय की भूमिका अप्रतिम है। इस विश्वविद्यालय ने मनुष्य होने के वास्तविक अर्थ को मूर्तिमान किया।

नीलेश भैया, रविप्रकाश भैया, बिपुल सर, तबरेज, सुशील यति, अभिषेक पाण्डेय, कामना सिंह, सोनम सिंह, गौरव, अश्विनी, कुमार मंगलम आदि ने मेरे शोध कार्य में अपेक्षित सहयोग दिया। इनका सहयोग और प्रेम जीवन भर बना रहे इस उम्मीद की आकांक्षा सदैव रहेगी।

जेएनयू कैम्पस आत्मीय लगा, इसका कारण था – विजय, रविरंजन, कामना सिंह, ओमप्रसाद और ज्ञान जी जैसे मित्रों का साहचर्य। इनके होने से अकेलापन का अहसास कभी नहीं हुआ। इन बैठकबाज मित्रों के साथ बिताया हुआ समय हमारी स्मृति का सुन्दर और दुर्लभ हिस्सा है।

माँ–पिताजी ने तो जीवन दिया, पर जीवन–जीना मैंने अपने पूरे परिवार के सहयोग से सीखा। निर्णय लेने की शक्ति और बिना किसी भय के जीवन–जीने की क्षमता का विकास इन्हीं के प्यार और डाँट का प्रतिफलन है।

वैसे तो मैं पारिवारिक जिम्मेदारियों से हमेशा बचता रहा, लेकिन जिस निश्चिन्तता के साथ मैंने अपना शोध कार्य पूरा किया, वह सम्भव न हो पाता अगर प्रिय अमृता का साथ जीवन में न मिलता। तमाम परेशानियों से मुक्त रखते हुए उसने जिस रूप में मुझे मानसिक सम्बल प्रदान किया, वह मेरे जीवन की सबसे सुखद अनुभूतियों का हिस्सा है। उसके साहचर्य ने मुझे हमेशा आगे बढ़ने की उम्मीद जगाई। प्यारी अन्वी की मुस्कान मेरे जीवन की अप्रतिम अनुभूति है और मेरे स्वप्नों की जागृति भी।

मैं शिवप्रताप अंकल का विशेष रूप से आभारी हूँ। आज यह मेरा शोध–कार्य जिस रूप में आपके सामने है वह उन्हीं के कारण सम्भव हो पाया है। जेएनयू के कई ऐसे अकादमिक और राजनैतिक संस्मरणों से मैं महरूम रह जाता अगर उनका सान्निध्य और स्नेह नहीं मिलता।

मचान के साथियों पर लिखना तो खुद से ही दो–दो हाथ करना है। कहाँ से शुरू किया जाए और क्या–क्या लिखा जाए? इसका चुनाव इतना आसान नहीं है। इनके यहाँ 'आभार' जैसा शब्द अपने अर्थ में नहीं भंगिमाओं में उपस्थित होता है। इन्होंने मुझे हक से ज्यादा प्यार और स्नेह दिया। आत्मीयता के दायरे में इन मित्रों ने मेरी हर एक सीमाओं को रेखांकित किया और उससे मुक्त होने का वह हर सम्भव मार्ग प्रशस्त किया जो जरूरी और सम्भव था। इन मित्रों और प्रिय आदित्य भैया को याद करते हुए इस शोध कार्य को जब मैं पूरा कर रहा हूँ तो शमशेर का एक शे'र याद आ रहा है :

मैं तेरी बज़्म में यू ही बरहना पा गया था
खबर नहीं कि मेरे साथ एक जहाँ गया था।

– वंशीधर उपाध्याय

प्रथम अध्याय

हिन्दी आलोचना का उद्‌भव और विकास

1.1 शास्त्रीय आलोचना और हिन्दी आलोचना

2.2 पाश्चात्य शिक्षा पद्धति

3.3 हिन्दी आलोचना की पृष्ठभूमि और भारतेन्दुयुगीन आलोचना

हिंदी आलोचना का उद्‌भव और विकास

31 दिसम्बर, 1600 ई. को एक शाही आदेश–पत्र (रॉयल चार्टर) के द्वारा लंदन के सौदागरों की एक संयुक्त स्टॉफ कम्पनी बनती है, जो पूरब के व्यापार में डचों की प्रतियोगिता का मुकाबला करने के लिए एक होती है। इस कम्पनी का नाम 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' होता है। इसी दिन इस कम्पनी को पूरब के साथ इंग्लैण्ड के समस्त व्यापार का एकाधिकार दे दिया जाता है और साथ ही कीमती धातुओं को देश से बाहर ले जाने की अनुमति भी। वैसे औपचारिक रूप में यह कम्पनी 1613 ई. से अपना व्यापार प्रारम्भ करती है, तथा 200 वर्ष के भीतर भारत के अधिकांश हिस्सों पर अपना अधिपत्य जमा लेती है। कम्पनी के इस अधिपत्य से भारतीय समाज की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक संरचना बदलने लगती है। इस बदलाव से समाज में लामबन्दी की नई ताकतों का जन्म होता है। यह तय है कि समाज में जब आर्थिक और राजनैतिक बदलाव होते हैं तो सामाजिक स्तर पर सत्ता के पुराने समीकरण बदलते हैं और नए जन्म लेते हैं। सत्ता के पुराने संरचना को समाप्त होने और नए संरचना के पैदा होने के अन्तराल में एक संघर्ष चलता रहता है। यह संघर्ष क्या शक्ल लेगा, यह तत्कालीन समय के प्रचलित सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक ढांचे पर निर्भर करता है। इस ढांचे को सही रूप में पहचानने के लिए उस समय की रचनाशीलता को सबसे प्रामाणिक और सही दस्तावेज के रूप में देखना चाहिए। इसका कारण यह है कि समाज में परिवर्तनों के साथ जनता की चित्तवृति में परिवर्तन होता है, और यह परिवर्तन उसकी साहित्यिक सर्जना में भाषा तथा अभिव्यक्ति की नई–नई भंगिमाओं में अभिव्यक्त होता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का उदय भी इसी बदले हुए समाज और परिस्थिति को देखने, समझने और व्याख्यायित करने के उद्‌देश्य के साथ शुरू होता है।

आलोचना का प्रथम गुण है विवेक और तर्कपूर्ण होना। जनता के जीवन और उसकी अपनी भाषा तथा सर्जना में छनकर आनेवाले जीवन को द्वन्द्वात्मकता के साथ संश्लिष्ट रूप में एक व्यवस्था देना आलोचना कर्म होता है। एक सजग आलोचक इसी कर्म के साथ अपनी जातीय साहित्य को पहचानता है और उसे समृद्ध भी करता है। आधुनिक काल में हिन्दी आलोचना का जन्म इसी जातीय साहित्य की पहचान और तत्त्कालीन समाज की पड़ताल से शुरू होता है। भारतीय इतिहास में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का समय हिन्दी साहित्य के अत्यंत महत्त्वपूर्ण और भविष्य निर्धारक बहसों से बंधा हुआ है। यह समय आज भी हिन्दी साहित्य के महत्त्वपूर्ण सवालों और गम्भीर समस्याओं को समझने के लिए जरूरी है। जैसे –

नवजागरण, आधुनिकता, राष्ट्रवाद, साम्प्रदायिकता इत्यादि। हिन्दी ही नहीं बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं के लेखकों की इस दौर की रचना आधुनिक भारतीय साहित्य और उस समय की मनोवृत्ति को विश्लेषित करने के लिए महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दी आलोचना के उद्‌भव और विकास में जिन महत्त्वपूर्ण घटनाओं को आप देख सकते हैं, उनमें से एक है प्रिंटिंग मशीन और प्रेस का विकास। प्रिंटिंग प्रेस के साथ ही भारत में पत्र–पत्रिकाएं छपनी शुरू हो गईं। इन पत्र–पत्रिकाओं के छपने से साहित्य में बड़ा परिवर्तन आया। साहित्य दरबारों से निकलकर आम पाठकों के बीच आ गया। स्पष्ट शब्दों में कहें तो साहित्य व्यक्तिसत्ता और राजसत्ता से हटकर समाजसत्ता की ओर निकल पड़ता है। आधुनिक काल के साहित्य में एक बार फिर आम जनता की चिंता दिखाई पड़ने लगती है। पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य और आलेख अपने परवर्ती साहित्य का मूल्यांकन तो करता ही है, समकालीन समस्याओं को भी केन्द्र में लाता है। आधुनिक काल का साहित्य पूरवर्ती साहित्य से सम्वेदना, शिल्प और भाषा में अलग होता है। जब साहित्य की सम्वेदना, भाषा और शिल्प में बदलाव होगा तो साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। रस, छन्द, अलंकार आदि सिद्धान्तों पर अभी तक रचनाओं का जो मूल्यांकन होता था, नई रचना उसी शास्त्रीय–समीक्षा के आधार पर नहीं समझी जा सकती थी। उसको समझने के लिए नए मानदण्डों की जरूरत थी। समाज बदल रहा था। मूल्य बदल रहे थे। नयी गद्य विधाओं का विकास हो रहा था तो स्वाभाविक है कि मूल्यांकन की नई कसौटी की जरूरत भी महसूस होगी। हिन्दी आलोचना का उदय इसी नई कसौटी के बिन्दु पर होता है। हिन्दी आलोचना साहित्य को समाज के व्यापक धरातल की तरफ मुड़ने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। हिन्दी आलोचना की शुरुआत अपने समय–सापेक्ष परिस्थितियों के साथ आधुनिक काल से शुरू होती है।

इस विवेचन के बाद दो प्रश्नों पर विचार कर लेना आवश्यक है कि हिन्दी आलोचना और काव्यशास्त्रीय आलोचना में क्या अंतर है? और नई शिक्षा पद्धति के साथ इस आलोचना का क्या संबंध है? इन दोनों प्रश्नों के साथ हिन्दी आलोचना के विकास का अन्तःसंबंध है। हिन्दी आलोचना के मूल्यों के निर्माण में पाश्चात्य विचार पद्धति और भारतीय काव्यशास्त्रीय पद्धति का अंतर्द्वन्द्व यहीं से शुरू होता है। हिन्दी आलोचना इन दोनों विचार पद्धतियों से प्रभावित भी होती है और इससे अलग भी अपने मूल्यों का निर्धारण करती है। अतः इन दोनों विचार पद्धतियों पर एक संक्षेप नज़र डालते हैं : –

1.1 शास्त्रीय आलोचना और हिन्दी आलोचना

हिन्दी आलोचना के विकास को संस्कृत काव्यशास्त्र से जोड़कर कुछ विद्वानों ने उसकी समृद्ध परम्परा को रेखांकित करने का प्रयास किया है। यहाँ ठहरकर यह सोचने की जरूरत है कि संस्कृत काव्यशास्त्र को हिन्दी आलोचना पर थोपना कहाँ तक सही है? यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य की गति प्रायः समानांतर दृष्टि–बिन्दुओं से चलती है। दोनों एक दूसरे के पूरक और प्रेरक बन कर ही अपना विकास करते हैं, लेकिन इस बात पर ध्यान रखना आवश्यक है कि संस्कृत काव्य–शास्त्र के विवेचकों का दृष्टिकोण सिद्धान्त निरूपण के ज्यादा निकट रहा है। उनके समालोच्य ग्रंथो में पाठक के मन पर पड़ने वाले मानसिक प्रभाव और रचना के सामाजिक प्रभाव को एक साथ जोड़कर नहीं देखा गया है। वास्तव में संस्कृत आचार्यों ने शास्त्रीयता की पद्धति में ही किसी न किसी मतवाद के प्रति विशेष आस्था रखकर एक क्रमबद्ध परम्परा में अपनी मान्यताओं का मण्डन और विरोधियों का खण्डन किया है। इस प्रकार के समालोचना से यह लाभ तो दिखा कि विश्लेषण का सिद्धान्त पक्ष मजबूत हुआ, लेकिन रचना का व्यवहारगत सम्यक मूल्यांकन जैसा होना चाहिए संस्कृत काव्य–शास्त्र में कम या न के बराबर ही है।

संस्कृत समीक्षा का मूल उत्स सूत्र–स्वरूप है। यह सूत्र–प्रवृत्ति उसकी उसकी अन्य शाखाओं पर भी आधारित है। अलंकार, वक्रोक्ति, रस और ध्वनि सिद्धान्तों का प्रवर्तन तो इस सूत्र प्रणाली में हुआ ही है साथ ही साथ दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भी ब्रह्म–सूत्र, न्याय–सूत्र, वेदांत–सूत्र और वैशेषिक मीमांसा–सूत्र आदि सूत्र ग्रंथों का प्रणयन भी इसी आधार पर हुआ है। इन दोनों प्रकार के ग्रंथो में सूत्र से संबंधित कारिकाएँ हैं और उन्हीं कारिकाओं में सूत्रों के माध्यम से विषय का सैद्धांतिक विश्लेषण किया गया है। जैसे – वृत्ति, टिप्पणी, वार्तिक, भाष्य, वार्ता, बचारनिका, व्याख्यान आदि विविध पद्धतियों के आधार पर ही साहित्य शास्त्र का निरूपण हुआ है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का हिन्दी आलोचना के विकास में योगदान रहा है, लेकिन इतना तो मानना पड़ेगा कि संस्कृत काव्यशास्त्र केवल तात्त्विक विश्लेषण में ही सफल रहा है। हिन्दी आलोचना के उद्‌भव से ले कर संवर्धन काल तक अनेक आलोचकों ने संस्कृत काव्यशास्त्र से सिद्धान्तों को लिया है, लेकिन हिन्दी आलोचकों के यहाँ सिद्धान्त के साथ–साथ युग–जीवन तथा व्यावहारिक संबंध भी जुड़ा है। यही संबंध उन्हें संस्कृत काव्यशास्त्र से अलग करता है और उन्हें विशिष्ट भी बनता है। उदहारण स्वरूप देखें तो रस की निष्पत्ति बताते हुए जहाँ भरतमुनि लिखते हैं – 'विभानुभाव, व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' वही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है – 'लोक हृदय में लीन

होने का नाम रस दशा है।' भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' शीर्षक निबंध के विवेचन में संस्कृत नाट्यशास्त्र की कई मान्यताओं को लिया है, लेकिन उसका विश्लेषण युगीन परिवेश और युगबोध को ध्यान में रखकर किया है। बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन, बालमुकुन्द गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र आदि आलोचकों के यहाँ संस्कृत समीक्षा–शास्त्र की प्रभूत सामग्री दिखाई देती है, लेकिन इन आलोचकों के प्रतिमान अपने युग परिवेश के साथ जुड़कर खड़ा हुआ है। इसीलिए संस्कृत आचार्यों के यहाँ रस 'ब्रह्मानन्द सहोदर' बनता है तो हिन्दी आलोचकों के यहाँ 'लोक विधान' का कारक।

हिन्दी आलोचना का आधार आधुनिकता और इतिहासबोध से जुड़ा हुआ है, जबकि काव्यशास्त्र का संबंध सनातनता से है। काव्यशात्रीय आलोचना में इतिहास का हस्तक्षेप संभव नहीं है, लेकिन हिन्दी आलोचना इतिहासबोध की उपज है। "संस्कृत काव्यशास्त्र को हिन्दी आलोचना का अंग मानना हिन्दी आलोचना के आरंभ की ऐतिहासिक परिस्थितियों को नकारना है। हिन्दी आलोचना का आरंभ अपने समय और समाज की सामाजिक और साहित्यिक बहस और चिंतन का प्रतिफल है। यह सही है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की विशाल और समुन्नत परम्परा रही है। यहाँ सिद्धान्तों का महीन एवं गंभीर विवेचन हुआ है। इन सिद्धान्तों के इर्द–गिर्द कविता की आत्मा, उसके हेतु और लक्षण पर विचार किया गया है। यहाँ अलंकर सम्प्रदाय से होते हुए ध्वनि सम्प्रदाय तक अनेक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु हैं। इन प्रस्थान बिन्दुओं में महत्त्वपूर्ण संकेत हैं। चाहे वह कविता में शब्द और अर्थ, की महत्ता का सवाल हो या रस निष्पत्ति का, हर जगह संस्कृत काव्यशास्त्र का व्यापक चिंतन सामने उभर कर आता है। संस्कृत काव्यशास्त्र की अपनी व्यवस्था है और हिन्दी आलोचना की अपनी व्यवस्था है।"[2] दरअसल हिन्दी आलोचना एक सामाजिक विमर्श है, जबकि काव्यशास्त्रीय आलोचना शुद्ध साहित्यिक विमर्श। हिन्दी आलोचना के इतिहास में, परिवर्तित भाव, अनुभूति, संवेदना की व्याख्या प्रधान है। अर्थात साहित्य में भाव, अनुभूति, संवेदना, भाषा, शिल्प सनातन नहीं हैं, इनमें इतिहास के परिवर्तन के साथ–साथ बदलाव आते हैं। आलोचना का कार्य इस परिवर्तन का पहचान करना, उसका विश्लेषण करना और उसे अपने समाज तथा इतिहास से जोड़ने का है। इसीलिये हिन्दी आलोचना में 'राम' भी नायक हो सकते हैं और 'होरी' भी।

विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी आलोचना' में लिखा है – "हिन्दी आलोचना का इतिहास रीतिकाल से थोड़े पहले शुरू होता है। सच तो यह है कि रीतिकाल

का रीतिबद्ध साहित्य, रीतिवादी आलोचना से प्रभावित है और लक्षणों के उदाहरण स्वरूप रचा गया है। रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों का उपजीव्य संस्कृत काव्यशास्त्र है। संस्कृत काव्यशास्त्र के चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। 1. भामह, का अलंकार सम्प्रदाय, 2. कुंतक का वक्रोक्ति सम्प्रदाय, 3. वामन का रीति सम्प्रदाय, 4. आनंदवर्धन का ध्वनि सम्प्रदाय। रीतिकाल में हिन्दी का जो काव्यशास्त्र रचा गया वह इन्हीं सम्प्रदायों की प्रेरणा पर।"[3] विश्वनाथ त्रिपाठी की इन बातों में अंतर्विरोध है। एक तरफ तो वे हिन्दी आलोचना की शुरुआत रीतिकाल से मानते हैं और दूसरी तरफ रीतिकालीन आलोचना को संस्कृत काव्यशास्त्र का नकल बताते हैं। दरअसल हिन्दी आलोचना के आरम्भ की प्रक्रिया हिन्दी गद्य के उद्‌भव (भारतेन्दु युग) से शुरू होती है न कि रीतिकाल से। रीतिकालीन आलोचना में साहित्य और मनुष्य के सामाजिक परिवेश का चित्रण कहीं दिखाई नहीं पड़ता है। रीतिकालीन समीक्षक एक साथ कवि और आचार्य दोनों होना चाहते थे। उन्होंने अधिकांशतः दोहों के अंतर्गत किसी काव्यशास्त्रीय अंग का लक्षण निरुपित कर उसकी संगति उदाहरणों द्वारा करनी चाही, जिसका परिणाम यह हुआ कि लक्षण तो किसी एक कोने में दुबकर रह गए और उदाहरणों के साथ कोई संगति नहीं जम सकी। हकीकत तो यह है कि इन आचार्य कवियों के अवचेतन में काव्य की कलात्मक और साज–सज्जा के प्रति विशेष आकर्षण था। इस आकर्षण केन्द्र में एक तरफ उनकी श्रृंगारिक भावनाएँ थी तो दूसरी तरफ उनके आश्रयदाता राजाओं का विशेष प्रोत्साहन। यही श्रृंगारिक भावनाएँ और प्रोत्साहन उन्हें काव्य–सृजन के लिए उत्प्रेरित करती थी। इस कारण उनके लक्षण–निरूपण तो अपूर्ण और दोषपूर्ण बन ही गए, साथ ही साथ उनकी कवि प्रतिभा भी एक विशिष्ट श्रेणी की सीमा में केन्द्रित हो कर रह गई। केशवदास, चिंतामणि, पद्‌माकर आदि रीतिकालीन आचार्य इसके उदाहरण हैं। इस संदर्भ में आप कृपाराम की आलोचना भी देख सकते हैं, जिन्हें हिन्दी का पहला काव्यशास्त्रीय आलोचक माना जाता है। जहाँ तक सवाल है रीतिकालीन आचार्यों की तो इस पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है – "आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन तर्क द्वारा खंडन–मंडन, नये–नये सिद्धान्तो का प्रतिपादन आदि कुछ भी नहीं हुआ था। इसका कारण यह भी था कि उस समय गद्य का विकास नहीं हुआ था। जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य में ही लिखा जाता था। पद्य में किसी बात की सम्यक मीमांसा या उस पर तर्क–वितर्क नहीं हो सकता।"[4] आचार्य शुक्ल के इस कथन से स्पष्ट है कि हिन्दी आलोचना की शुरुआत गद्य

के विकास के साथ ही होती है। रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय विवेचना में वह तर्क और सूक्ष्म विश्लेषण नहीं दिखाई पड़ता है जिसकी जमीन पर हिन्दी आलोचना खड़ी है। सही बात यह है कि रीतिकालीन आलोचना को न संस्कृत काव्यशास्त्रीय आलोचना माना जा सकता है, न हिन्दी आलोचना। वह बस संस्कृत काव्यशास्त्र की एक भद्दी नकल भर है। इस आलोचना में जो भी सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं उसमें कहीं भी मनुष्य और उसके संघर्षों के प्रति कोई लगाव नहीं दिखाई पड़ता है। मुक्तिबोध ने लिखा है – "जीवन तत्त्वों की वास्तविकता अर्थात मनुष्य यथार्थ को दृष्टि से ओझल करके सिद्धान्तों को जब लागू किया जाता है तब भूल होना स्वाभाविक है।"[5] सही अर्थों में रीतिवादी आलोचना इस भूल की शिकार है और हिन्दी आलोचना इसको तोड़ते हुए अपने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों रूपों में साहित्य को जीवन संघर्ष के साथ देखने की आग्रही है। इसलिए हिन्दी आलोचना की शुरुआत रीतिकाल से मानना एक वैचारिक भूल है।

आधुनिक काल की आलोचना में भी 'रीति–सम्प्रदाय' की छिटपुट झलक मिलती है, पर आधुनिक आलोचकों ने उसे एक नवीन प्रणाली में विकसित किया है। इस विषय पर महत्त्वपूर्ण काम पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया है। द्विवेदी जी ने काव्य–भाषा का विश्लेषण करते हुए उसकी शुद्धता, स्पष्टता, सरलता और मुहावरे युक्त पद का जो निरूपण किया है, वह भाषा–गठन से सम्बंधित रीति विषयक विचारों का ही व्यापक प्रारूप है। आचार्य शुक्ल और नगेन्द्र के यहाँ भी रीति विषयक चिंतन देखने को मिलता है, लेकिन रस के लोक सत्ता का समर्थन करते हुए अलंकार तथा वक्रोक्ति का विरोध करते हुए। अतः यह मानने योग्य बात है कि हिन्दी आलोचना के विकास में गद्य के उद्‌भव की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

अब यह प्रश्न उठता है कि हिन्दी आलोचना का जन्म क्या केवल गद्य के विकास के करण ही हुआ? इस प्रश्न पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। निर्मला जैन ने लिखा है – "कहा जाता है कि इस युग में गद्य शैली और उपन्यास, नाटक आदि इन रचनाओं–विधाओं का विकास आलोचना के लिए साधक हुआ। परन्तु ध्यान से देखा जाय तो यह बात सरलीकरण है। बात सिर्फ इतनी नहीं है कि आलोचना का काम इसीलिये आसान या कुछ अलग किस्म का हो गया कि उसे अभिव्यक्ति के गद्य शैली और विषय के लिए नई विधाएं मिली। इस बदलाव का संबंध इससे कही अधिक गहरे उस नए ढंग की सामाजिकता से जुड़ा है, जो इस साहित्य के माध्यम से सामने आती है।"[6] निर्मला जैन की यह बात अंशतः सही है। इस नए युग के आगमन के साथ केवल कविता साहित्य का पर्याय नहीं रहा, बल्कि

साहित्य के दुनिया में एक बड़ा फैलाव भी हुआ। अनुवाद, उपन्यास, कहानी निबंध, नाटक आदि विधाओं का आना सामाजिक बदलाव का एक बड़ा कारण था, लेकिन यह तो मानना पड़ेगा कि ये सभी विधाएं गद्य में ही लिखी जा रही थीं। साहित्य के जो नए मूल्य बन रहे थे, जीवन से जुड़कर उनके जो प्रतिमान खड़े हो रहे थे इन प्रतिमानों की व्यख्याा पद्य में नहीं हो सकती थी। इनके व्याख्याा के लिए गद्य एक महत्त्वपूर्ण साधन था। उदाहरणस्वरूप बालकृष्ण भट्ट ने लाला श्रीनिवासदास के नाटक (संयोगिता स्वयम्बर) की आलोचना और भाषा शैली देख सकते हैं। भट्ट जी ने संयोगिता स्वयम्बर की आलोचना करते हुए लिखा है – "लाला जी बुरा न मानिये तो एक बात आप से धीरे से पूँछे वह यह है कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे?"[7] इस तरह की आलोचना गद्य में ही की जा सकती थी। इसका एक कारण था कि उस समय के आलोचक कोई दरबारी आचार्य या कवि न होकर एक आम पाठक था। निर्मला जैन ने पाठक के बदलाव की ओर संकेत करते हुए लिखा है – "आधुनिक काल की हिन्दी आलोचना को रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों की परिपाटी विरासत में मिली। परन्तु सहसा उस परिपाटी को छोड़कर जो एक नए आलोचक मार्ग की आवश्यकता का अनुभव आधुनिक युग ने किया, उसका एक बहुत बड़ा कारण साहित्य के पाठक समुदाय का बदल जाना था।"[8] इस पाठक समुदाय के बदलने में प्रिंटिंग प्रेस और नयी सामाजिक संरचना की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण थी और उतना ही गद्य का विकास भी। अतः हिन्दी आलोचना के विकास में सामाजिक बदलाव, प्रिंटिग प्रेस का आगमन और हिन्दी गद्य का विकास इन तीनों कारकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

इन भूमिकाओं के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी आलोचना शास्त्रीय आलोचना से अलग है। हिन्दी आलोचना की शुरुआत रीतिकाल से देखना भ्रामक तो है ही साथ–ही–साथ हिन्दी आलोचना के वास्तविक उदय और प्रस्थान बिन्दु को न समझना भी है। वास्तविक रूप में हिन्दी आलोचना की शुरुआत आधुनिक काल से होती है। हिन्दी आलोचना के मूल्य निर्धारण में शास्त्रीय समीक्षा के कुछ सिद्धान्त जरूर मूल्यवान होते हैं, लेकिन उसे सिर्फ साधन के रूप में देखना उचित है। हिन्दी आलोचना का साध्य साहित्य को 'जनसमूह के हृदय का विकास' बनाना था। इसी कारण हिन्दी आलोचक अपने विवेचन में साहित्य के सामाजिक पक्ष और उसके परिप्रेक्ष्य पर ज्यादा बल देते हैं। इस कारण स्पष्टतः मालूम पड़ता है कि हिन्दी आलोचना शास्त्रीय आलोचना से अलग है।

1.2 पाश्चात्य शिक्षा पद्धति

पाश्चात्य विचार पद्धति और औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था पर जब हम नजर डालते हैं तो प्राच्यवादी (Orientalis), इन्जीलवाद (Evangelicalism), उपयोगितावाद (Utilitarianism) तथा ईसाई मिशनरियों का भारत आगमन महत्त्वपूर्ण है। प्राच्यवाद को लेकर एडवर्ड सईद और यूजीन इश्र्चिक के तर्कों को देखें तो एक अंतर्विरोध दिखाई पड़ता है। "एडवर्ड सईद (1978) की मान्यता थी कि प्राच्यवाद यूरोप वालों की शक्ति द्वारा ऊपर से थोपा गया ज्ञान था। इसके विपरीत यूजीन इश्र्चिक ने तर्क दिया है कि प्राच्यवाद का जन्म संवाद की एक प्रक्रिया से हुआ, जिसमें उपनिवेशी अधिकारी, भारतीय टीकाकार और देशी जानकर एक सहयोगमूलक बौद्धिक कार्य में भाग ले रहे थे। इस बौद्धिक कार्य में भाग ले रहे भारतीयों का इसके परिणामों पर कभी कोई नियंत्रण नहीं रहा। फिर भी, भारतीयों की भागीदारी को महत्त्व देते समय इश्र्चिक संज्ञान के उद्यम के सबसे अहम् पक्ष को अस्वीकृत नहीं करते कि प्राच्यवाद ने अतीत का यह ज्ञान वर्तमान की आवश्यकताएँ अर्थात उपनिवेशी राज्य की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पैदा किया।"[9]

भारत आई ईस्ट इंडिया कम्पनी मूलतः एक व्यापारिक संस्था थी। उसका उद्देश्य भारत से धन कमाना था। भारतीय समाज को शिक्षित करना उसका उद्देश्य नहीं था। परिस्थितिवश वह भारत की शासिका बन गयी और शासन करने के लिए वह अपने अनुसार शिक्षा पद्धति को भारत में विकसित करने का प्रयास की। वह अपने ज्ञान को सबसे प्रामाणिक बनाने के लिए भारतीय अतीत के तरफ मुड़ी। "पश्चिम में आरंभ में भारत की छवि एक गरिमापूर्ण अतीत और साथ में उसके पतन की छवि थी। वहाँ भारतीय संस्कृति और परम्परा को जानने की इच्छा भी पाई जाती थी, जैसा कि सर विलियम जोंस जैसे विद्वानों के प्रयासों से स्पष्ट था, जिन्होंने भारतीय भाषाओं का अध्ययन भारतीयों को उनकी अपनी विस्मृत संस्कृति और विधि व्यवस्था को वापस दिलाने के लिए किया। ऐसे ज्ञानार्जन पर तब तक पंडितों और मौलवियों (हिन्दू और मुस्लिम विद्वानों) का एकाधिकार था। जोंस ने संस्कृत, यूनानी और लातिनी के बीच एक भाषायी संबंध स्थापित करके (क्योंकि माना जाता था कि ये सब एक ही हिन्द यूरोपीय भाषायी परिवार के अंग हैं), भारत को पश्चिम के क्लासिकी युग की समकक्ष प्राचीनता का गौरव दिया। यहीं से उस प्राच्यवादी (Orientalist) परम्परा की शुरुआत होती है, जिसने कलकत्ता मदरसा (1781), एशियाटिक सोसायिटी ऑफ बंगाल (1784) और संस्कृत कॉलेज बनारस (1794) को जन्म दिया। इन सबका उद्देश्य भारतीय

भाषाओं और ग्रंथों के अध्ययन को प्रोत्साहन देना था। लेकिन यह भी याद रखना चाहिए कि मुख्यतः प्राचीन ग्रंथों के विश्लेषण के द्वारा ही भारत की खोज करते हुए ये प्राच्यवादी विद्वान इस क्रम में भारतीय परम्परा को एक खास ढंग से परिभाषित भी कर रहे थे, जिसे आगे चलकर भारत के बारे में सबसे प्रमाणिक विचार या सच्चा ज्ञान माना जाने लगा क्योंकि उसे उपनिवेशी राजसत्ता से वैधता प्राप्त हुई।"[10]

किसी भी देश को गुलाम बनाने के लिए केवल प्रशासनिक व्यवस्था ही काफी नहीं है। सबसे महत्त्वपूर्ण है उसे सांस्कृतिक रूप से गुलाम बनाना। अपने विचार और शिक्षा पद्धति के द्वारा अग्रेजों ने इस बात पर ज्यादा जोर दिया कि भारत को कैसे सांस्कृतिक गुलाम बनाया जाए जिससे अधिक दिनों तक इस देश पर अपना अधिकार कायम रहे। इसके लिए उन्होंने अनेक स्कूलों की स्थापना की। एक तरफ तो कम्पनी शासन को चलाने के लिए उन्हें भारतीय कर्मचारियों की आवश्यकता थी, वहीं दूसरी तरफ वे सोच रहे थे कि शिक्षित जनता पर शासन् उसके अपने कानूनों के आधार पर किया जाए। दोनों के लिए उन्हें भारतीय अतीत को जाननें और समझने की आवश्यकता थी। प्राच्यवादी परम्परा के मूल सिद्धान्त की तरफ संकेत करते हुए शेखर बंद्योपाध्याय ने लिखा है – "इस परम्परा का मूलभूत सिद्धान्त यह था कि विजित जनता पर शासन उसके अपने कानूनों के आधार पर किया जाए और ब्रिटिश शासन को एक भारतीय मुहावरे में वैध ठहराया जाए।[11] इसलिए उसे भारतीय समाज संबंधी ज्ञान अर्जित करने की आवश्यकता थी, इसी प्रक्रिया को गौरी विश्वनाथन ने 'उल्टा परसंस्कृतिग्रहण' (Reverse Acculturation) कहा है। इसने यूरोपीय शासकों को देश के रीति–रिवाजों से परिचित कराया, ताकि वे अधिक सक्षम प्रशासन के हित में प्रजा के समाज में स्वयं को सम्मिलित कर सकें। कलकत्ता में 1800 में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना इसी राजनीतिक सोच के साथ, सिविल कर्मचारियों को भारतीय भाषाओं और परम्परा का प्रशिक्षण देने के लिए की गई।"[12] जो लोग फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना को हिन्दी में क्रांतिकारी योगदान के रूप में देखते हैं उन्हें उसके उद्देश्यों के तरफ भी जरूर ध्यान देना चाहिए। हक़ीकत तो यह है कि इस कॉलेज की स्थापना हिन्दी को बढ़ावा देने के लिए नहीं बल्कि स्वतंत्रता के उन विचारों को रोकना था जो फ्रांसीसी क्रांति के बाद पनप रहा था। बंद्योपाध्याय ने लिखा है – "फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना का एक उद्देश्य स्वतंत्रता के उन विचारों को फैलने से रोकना भी था, जिसकी प्रेरणा फ्रांसीसी क्रांति ने दी थी। इसीलिए विलियम जोंस के भारत आगमन के बाद उनके विचारों में जावेद मजीद (1992) को कोई स्पष्ट अंतर्विरोध नहीं दिखता, बल्कि रूढ़िवादी विचारधारा का क्रमिक विकास ही दिखाई देता है।"[13]

यह सही बात है कि इस संस्था में भर्ती किए गए भाषा मुंशियों ने अनुवाद के क्षेत्र में एक युगांतकारी योगदान दिया। अनुवाद जैसी विधा को फोर्ट विलियम कॉलेज जैसा आधुनिक परिवेश नहीं मिलता तो वह अपने पुराने लीक पर ही चलती रहती। फोर्ट विलियम कॉलेज ने अनुवाद को युगीन परिस्थितियों और आवश्कताओं के अनुरूप विकसित किया। इसके अनुवाद योजना के कारण ही शब्दकोशों का निर्माण और विभिन्य भाषायों के बीच आदान–प्रदान शुरू हुआ। प्राचीनतम भाषा एवं साहित्य के साथ संवाद की एक प्रक्रिया शुरु हुई। इन सब के बावजूद यह ध्यान रखना चाहिए कि यह फोर्ट विलियम कॉलेज एक महत्त्वाकांक्षी वायसराय की कार्य–योजना का परिणाम था। हकीकत यह है कि यह कॉलेज ब्रिटिश उपनिवेशवाद की आवश्यकता से निर्मित संस्था थी। फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना का उद्देशय न तो प्राच्यवादियों के रुझान को बढ़ाना था ना ही एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की सौतेली संस्था के रूप में इसे स्थापित करना था। यह कॉलेज केवल ब्रिटिश प्रशासन की गतिविधियों को सुचारु एवं शांतिपूर्वक चलाने में दक्षता प्रदान करने की संस्था थी। यह हेस्टिंग और कॉर्नवालिस के सपनों का वह कॉलेज था जिसे वेलेजली द्वारा हकीकत में साकार किया गया। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस कॉलेज की स्थापना के कारणों पर विचार करते हुए लिखा है – "शासन सूत्र अपने हाथ मे ग्रहण करते समय स्वयं वेलेजली ने देखा था कि कर्मचारियों की शिक्षा, योग्यता, आचरण और अनुशासन की देखरेख का कोई प्रबंध नहीं है। कम अवस्था में ही वे इंग्लैंड से भेज दिए जाते थे। उनकी शिक्षा अपूर्ण रहती थी। भारत आने पर उन्हें ऐसे देश के शासन का भार सौंप दिया जाता था जिसके राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक, भाषा एवं आचार–विचार संबंधी विषयों से वे बिल्कुल अभिन्न होते थे। फौजी विभाग के कर्मचारियों का सामरिक ज्ञान अधूरा रहता था और माल विभाग के कर्मचारियों के लिए रुई की गांठे गिनना, कपड़ा नापना या हिसाब लगाना प्रधान कर्तव्य समझा जाता था। उन्हें कम्पनी के चतुर कूटनीतिज्ञ शासक बनाने की चिंता किसी ने न की थी। .....सफल शासन के लिए उनकी शिक्षा का समूचित प्रबंध होना एक महत्त्वपूर्ण विषय था ऐसा करने से ही भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव दृढ़ हो सकती थी। उन्हें चतुर कूटनीतिज्ञ शासक बनाने में ही ब्रिटिश साम्राज्य का हित था, नहीं तो साम्राज्य के बहुत जल्दी हाथ से निकल जाने की आशंका थी।"[14]

यही कारण है कि उस कॉलेज में भारत के एक भी विद्यार्थी नहीं थे। हां, जो मुंशी वहां थे वे जरुर भारतीय थे, लेकिन वे बस उन अंग्रेज अफसरों को भारत के आचार–विचार, धर्म संबंधी तथा नीति संबंधी मतों को बताने के लिए थे जिससे ये अफसर भारतीय समाज

पर लंबे समय तक शासन कर सकें। जब आप इस कॉलेज की स्थापना के पहले हुए कुछ महत्त्वपूर्ण बैठकों, विवरणों एवं कार्यवृत्तों (मिनट्स) को देखते हैं तो एक और बात उभर कर सामने आती है। विश्व के कोने कोने में चल रही या संपन्न हुई क्रांतियों (Revolution) और विद्रोह से ब्रिटिश हुकुमत का डर साफ दिखता है। इसका प्रमाण यह है की कम्पनी के प्रशासकों के भाषण में ऐसे विचारों का व्यक्त किया जाना जो इस कॉलेज के स्थापना के मूल कारणों में से एक है। नजीर के तौर पर मार्क्स वेलेजली का यह कथन देखें – "इससे इंकार नहीं किया जा सकता है कि फ्रांस के आंदोलन के दौरान फ्रांस की क्रांति के सिद्धान्त जिन्होंनें यूरोप की वैचारिकी को प्रभावित कर दिया है, के त्रुटिपूर्ण सिद्धान्त की खतरनाक लहर अब भारत में हमारे कुछ सिविल सेवा और सैन्य सेवा के लोगों के बीच पहुंच चुकी है और राज्य राजनीतिक और धार्मिक दृष्टिकोण से कुछ अस्थिर हो चुका है। त्रुटिपूर्ण और बढ़ती गलतियों के चलते असामान्य शिक्षा की वृद्धि लेखको और कैडेटों के कारण हो सकती है। एक समर्पित संस्था के द्वारा सरकार के अच्छें सिद्धान्तों और धर्म की स्थापना उनके दिमाग में स्थापित की जा सकती है।"[15]

सन् 1800 ई० के आसपास ब्रिटेन में हुयी औद्योगिक क्रांति ने तैयार मालों के लिए भारतीय बाजार को एक नए रूप में देखने के लिए रास्ता तैयार किया। भारतीय बाजारों के विकास और कच्चे मालों की निरंतर आपूर्ति के सुनिश्चय की आवश्यकता, इसी औद्योगिक क्रांति ने पैदा की। इसके लिए जरूरी था कि वह भारत में और अधिक चुस्त प्रशासन तथा उपनिवेश को सभी देश की अर्थव्यवस्था से जोड़े। "ब्रिटेन की मुक्त व्यापर की लाबी लगातार भारतीय व्यापार पर कम्पनी के एकाधिकार के उन्मूलन के पक्ष में थी, लेकिन भारत में कम्पनी ने जो प्रशासन की प्रकृति में बदलाव पैदा किया उसमें 'इन्जीलवाद' और 'उपयोगितावाद' की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इन्जीलवाद ने अपना अभियान भारतीय बर्बरता के विरुद्ध शुरू किया और 'हिन्दोस्तान की प्रकृति' को बदलने के लिए ब्रिटिश राज के स्थायित्व का समर्थन किया। भारत में इस विचार के प्रवक्ता कलकत्ता के पास श्रीरामपुर के मिशनरी थे, पर ब्रिटेन में इसका मुख्य प्रतिपादक चार्ल्स ग्रांट था। उसने 1792 में ही कहा था कि भारत की प्रमुख समस्या वे धार्मिक विचार हैं जो, भारतीय जनता को अज्ञान में जकड़े हुए हैं। ईसाईयत की रौशनी फैलाकर इन्हें बखूबी बदला जा सकता है और भारत में ब्रिटिश राज का श्रेयस ध्येय यही होना चाहिए। अपने आलोचकों को शांत करनें के लिए ग्रांट ने विरोध की आशंका के बिना या अंग्रेजों की स्वाधीनता की किसी इच्छा के बिना सभ्यताकारी प्रक्रिया और भौतिक समृद्धि के बीच की संपूरकता को दिखाया। संसद में उसके विचारों को और अधिक प्रचार

विलियम विल्बरफोर्स ने 1813 के चार्टर के पारित होने से पहले दिया, जिसमें इसाई मिशनरियों को बिना किसी प्रतिबन्ध के भारत में आने की छूट दी गयी थी।"[16] वेलेजली के इस बात से यह साफ स्पष्ट है कि फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना भारतीय शिक्षा में सुधार के लिए न होकर ब्रिटिश उपनिवेशवाद को और ज्यादा मजबूत करने के लिए हुई थी।

'चार्टर ऐक्ट ऑफ 1813' को भारत में ब्रिटिश शिक्षा पद्धति का शिलालेख कहा जाता है। एक तरफ इस ऐक्ट में ब्रिटिश संसद ने कम्पनी को प्रतिवर्ष एक लाख रुपये, भारत में विद्वान निवासियों के उत्साहवर्धन, साहित्य के पुनरुद्धार तथा विज्ञान संबंधी ज्ञान को बढ़ाने के लिए देने का वादा किया। वहीं दूसरी तरफ ईसाई मिशनरियों का बिना शर्त भारत आगमन शुरू हुआ। 1813 से 1833 तक के काल में शिक्षा की जो प्रगति हुयी उसमें, तीन तरह के मतों को मानने वाले लोग दिखाई पड़ते हैं। एक तरफ ईसाई मिशनरियों ने शैक्षिक प्रयासों से अंग्रेजी की लोकप्रियता बढ़ाई। इसका असर यह हुआ कि कुछ भारतीय अंग्रेजी भाषा के पक्ष में हो गए। राजा राममोहन राय जैसे नेता अपने देश के निवासियों को पाश्चात्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे। अंग्रेजी का राजनीतिक महत्त्व इसलिए भी बढ़ रहा था, क्योंकि अंग्रेजी ज्ञान सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए आवश्यक था। इस कारण अनेक सम्भ्रान्त भारतीय नागरिक आंग्ल भाषा की शिक्षा को सभी बुराईयों के लिए सार्वभौमिक उपचार समझ रहे थे। दूसरी तरफ वे लोग थे (1829 में गठित हुयी समिति के आधे सदस्य) जो भारत में प्राच्य शिक्षा के पक्ष में थे। प्राच्य शिक्षा के पक्षपाती भारत में प्राचीन ज्ञान का प्रसार चाहते थे। उनका मानना था कि शिक्षा संस्कृत और फारसी माध्यम से दी जाय। इनके मानने का कारण यह था कि पाश्चात्य शिक्षा पाने से भारतीय उनके सामान ही योग्य हो जायेंगे। अधिकांश कट्टर हिन्दू और मुसलमान इसी मानसिकता से ग्रस्त थे। उनका मानना था कि पाश्चात्य शिक्षा से उनकी संस्कृति और उनका धर्म नष्ट हो जायेगा। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शिक्षा के प्राच्य और पाश्चात्य दोनों पक्षों की राजनीतिक मनोधारा भारत में ब्रिटिश उपनिवेश को और अधिक मजबूत करने की ही थी।

भारत में पाश्चात्य शिक्षा का वास्तविक आरंभ बिन्दु 1813 के चार्टर ऐक्ट को मानते हुए बंद्योपाध्याय ने लिखा है – "भारत में पश्चिमी शिक्षा का वास्तविक आरंभ बिन्दु 1813 के चार्टर ऐक्ट को माना जा सकता है, जिसने मिशनरियों को न केवल भारत यात्रा की अनुमति दी, बल्कि दो विशिष्ट उद्देश्यों के लिए उनको एक लाख रुपये वार्षिक के आवंटन का प्रावधान भी किया :, पहला भारत के शिक्षित देशवासियों को प्रोत्साहन के लिए और साहित्य

का पुनरुत्थान और उसमें सुधार के लिए और दूसरा उनमें विज्ञान के ज्ञान को बढ़ावा देने के लिए।"[17] ईसाई मिशनरियों ने भारत के सभी भागों में स्कूल खोलने आरंभ कर दिए। इसका परिणाम यह हुआ कि इनके यहाँ, अंग्रेजी ही शिक्षा की माध्यम बन गयी। इन दोनों पक्षों के अलावा एक तीसरा पक्ष भी था जो शिक्षा को देशी भाषा के माध्यम से देने के मत में था। सन् 1819 में कलकत्ता स्कूल सोसायिटी ने प्राथमिक शिक्षा के लिए देशी भाषाओं में स्कूल खोलना भी आरंभ कर दिया। हवा का रूख तब निर्णायक रूप से दूसरी दिशा में मुड़ गया जब राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में संस्कृत कॉलेज की स्थापना के विरुद्ध विरोध प्रकट करते हुए गवर्नर जनरल को ज्ञापन भेजा। राजा राममोहन राय भारतवासियों की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते थे, जो यह मानती थी कि भारत का आधुनिकीकरण अंग्रेजी शिक्षा के कारण और पाश्चात्य विज्ञानों के ज्ञान प्रसार के कारण ही संभव होगा। अंततः उस समय आंग्लवादियों की तरफ पलड़ा झुक गया, जब उपयोगितावादी सुधारक विलियम वेंटिक 1828 में गवर्नर जनरल बना और 1834में उसकी काउन्सिल में टामस वैविन्टन मैकाले को विधि सदस्य बनाया गया। उसे तुरंत ही सामान्य जन शिक्षा समिति का अध्यक्ष बना दिया गया। 2 फरवरी 1835 को उसने भारतीय शिक्षा पर अपना विख्यात कार्य विवरण (Minutes of Indian Education) जारी किया, जो भारत में अंग्रेजी शिक्षा के आरम्भ का खाका बन गया।"[18] मैकाले का अंग्रेजी भाषा में शिक्षा देने का प्रबल तर्क यह था कि – "हमारे और हमारे द्वारा शासित करोड़ों व्यक्तियों के बीच में ऐसे व्यक्तियों का एक वर्ग पैदा होगा, जो खून और रंग में भारतीय मगर–रुचियों और विचारों में, नैतिकता और बुद्धि में अंग्रेज होंगे।"[19]

भारत में पाश्चात्य शिक्षा व्यवस्था की शुरुआत यहीं से होती है। इसमें ज्ञान के सृजन का काम तो मालिक देशों के हाथ में था, लेकिन उसके पुनरुत्पादन, प्रसार और दोहराव का काम उपनिवेश की जनता को दे दिया गया था। इसका चलन आज भी चल रहा है। वैज्ञानिक पद्धति को आत्मसात करना अलग बात है, लेकिन किसी भी पद्धति का अन्धा अनुकरण औपनिवेशिक मानसिकता का ही परिचायक है।

हिन्दी प्रदेश में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार बंगाल, बम्बई तथा मद्रास की तुलना में बहुत कम था। अंग्रेजी सरकार की मंशा यह नहीं थी कि वह भारतीयों को शिक्षित करे। शिक्षा के बजट को बढ़ाना उसकी प्राथमिकता में नहीं था। ब्रिटिश सरकार का आधुनिक शिक्षा प्रदान करने का एक मात्र ध्येय था सत्ता और जनता के बीच आर्थिक संबंध कायम रहे। इस पर मैकाले ने स्पष्ट शब्दों में अपने विचार प्रगट किए थे।[20]

वीरभारत तलवार ने अपनी पुस्तक 'रस्साकशी' में यह दिखाया है कि भारतेन्दु औपनिवेशिक सत्ता के हाथों में शिक्षा के नियंत्रण की वकालत कर रहे थे और सैयद अहमद शिक्षा का प्रबंध खुद भारतीयों के हाथों में रखना चाहते थे। इसका आधार उन्होंने हंटर आयोग के द्वारा पूछे गए प्रश्नों के जबाब में भारतेन्दु के द्वारा दिए गए उत्तर को बनाया है।[21] यही नहीं आगे आर्यसमाज के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा पद्धति पर विचार करते हुए लिखा है – "भारतेन्दु के सामने दयानंद सरस्वती ने भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति के आधार पर अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली से अलग देशी शिक्षा प्रणाली के विचार और सिद्धान्त पेश किए थे। हिन्दुओं के सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं का विरोध करते हुए उन्होंने स्त्रियों और शूद्रों–दलितों समेत समाज के सभी वर्गों को शिक्षित करने के लिए आन्दोलन को जन्म दिया था। एक देशी शिक्षाविद की तरह उन्होंने शिक्षा के पठन–पाठन की विधि, परीक्षा प्रणाली और पाठ्यक्रम तक पर विचार किया। वे आधुनिक ज्ञान–विज्ञान के विरोधी नहीं थे, पर उनकी शिक्षा प्रणाली पुनरुत्थानवादी थी। आर्यसमाज ने उस प्रणाली का पूरी तरह पालन कभी नहीं किया, गुरुकुलों में भी नहीं। लेकिन उत्तर भारत में शिक्षा के क्षेत्र में दयानंद का असली ऐतिहासिक महत्त्व प्राचीन शिक्षा पद्धति के उद्धार में नहीं बल्कि औपनिवेशिक राज्य के नियंत्रण से मुक्त होकर शिक्षा के क्षेत्र में समाज को आत्मनिर्भर बनाने की प्रेरणा देने में था। भारतेन्दु के उलटे उनका दृढ़ विश्वास था कि अपने बच्चों की सही शिक्षा का प्रबंध हमें खुद करना चाहिए, न कि औपनिवेशिक राज्य पर छोड़ देना चाहिए।"[22] जहाँ तक शिक्षा में देशी भाषाओं के साहित्य को जगह देने की बात थी उस पर भारतेन्दु खुद सहमत थे।

तलवार ने लिखा है – "भारतेन्दु ने शिक्षा के पाठ्यक्रम में देशी भाषाओं के साहित्य को जगह देने का आग्रह किया था। पर इसके लिए भी वे सरकारी स्कूलों पर ही भरोसा करते थे। यह भरोसा कितना बेबुनियाद था, इस तथ्य को समझा जा सकता है कि युक्त प्रान्त में इंटरमीडिएट की परीक्षाओं में स्वैच्छिक विषय के रूप में हिन्दी को सरकारी मान्यता 1923 तक नहीं मिली। ये आर्य समाजी थे जिन्होंने अपने स्कूल–कॉलेजों में संस्कृत के अलावा हिन्दी साहित्य के अध्ययन को महत्त्व दिया। बाद में हिन्दी साहित्य के अध्ययन का जो गढ़ बना, वह सरकार द्वारा नियंत्रित–संचालित इलाहाबाद विश्वविद्यालय नहीं, बल्कि भारतीयों के अपने प्रयत्नों से बना काशी हिन्दू विश्वविद्यालय बना।"[23] तलवार के इस कथन पर थोड़ा ठहर कर विचार करने की जरूरत है। पहली बात तो यह कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय केवल भारतीयों के प्रयत्न से बना विश्वविद्यालय नहीं है। हाँ यह भी विचार करना चाहिए कि क्या कारण है कि आज भी उसके सिंडिकेट मेम्बरों में एक भी गैर हिन्दू

नहीं हैं? (दलित और आदिवासी भी आजतक कभी BHU सिंडिकेट के मेम्बर नहीं रहे हैं) जहाँ तक सवाल है आर्यसमाज का तो उसकी स्थापना का प्रमुख उद्देश्य था हिन्दू धर्म को 'मोनोलिथिकल' बनाना और हिन्दू धर्म के प्राचीन गौरव को जनता के बीच फैलाना। "Some of these goals, such training students in the DAV College Lahore in Arya reformed religious practice, were only at best partially met. Others, such as the Samaj's goal of greatly expanding the population of north Indian Hindus fluent in Hindi as a way of unifying the Hindu community and marginalizing the "Muslim" language Urdu, were mush more successful. At a time when most literate Hindus in Punjab read only in Urdu and Urdu was the official language of instruction in government schools, DAV school were singled out in British censuses for their pioneering role in Hindi instruction."[24] हाँ कुछ प्राचीन रूढ़िया थी जिसपर आर्यसमाज ने एक सार्थक चोट किया। जैसे विधवा विवाह, मूर्तिपूजा और वाह्यआडम्बरों का विरोध। पर यह ध्यान देना चाहिए कि क्या यह स्कूल (DAV) हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी के अलावा उर्दू और फारसी को भी महत्त्व दे रहे थे? जब इस प्रश्न पर आप नजर डालेंगे तो यह साफ दिखेगा कि इन स्कूलों में हिन्दी की पढ़ाई तो होती थी, लेकिन उर्दू और फारसी का कोई पाठ्यक्रम नहीं था। जहाँ तक भारतेन्दु और सर सैयद अहमद की बात है, तो यह दोनों लोग अंग्रेजी सरकार के करीब रहने वाले लोग ही थे और अपने समाज के सम्भ्रान्त और अपर कास्ट लोगों के ही हिमायती थे। इनके बारे में यही कहा जा सकहा है कि – 'को बड़–छोट कहत अपराधू'। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का सच देखिए, वे कहते तो हैं कि – "My aim had always been to better the educational status of my countrymen, to improve the vernacular language of these provinces and to add to stock of the vernacular literature. I have always taken peasure in the enlightement of my fellow countrymen."[25] भारतेन्दु का यह उद्देश्य तो अच्छा है कि मेरे देश में शिक्षा का स्तर बढ़िया हो और साथ ही साथ देशी भाषाओं का विकास हो तथा देशी भाषाओं का साहित्य अधिक से अधिक संख्या में आए। यही नहीं देश के अन्दर पुनर्जागरण होते देख उन्हें अच्छा भी लगेगा, लेकिन यह पुनर्जागरण अंग्रेजों के द्वारा ही होगा, यह कहाँ तक सही है? उन्होंने हंटर आयोग के प्रश्न का जवाब देते हुए लिखा है – "The Natives of the country have for long-long time priod been under the despotic rule Hindu rajas or Mussalman emperors and have acquired a habit of dependence and slaver which engendered in their very nature and it will take a very long time before the benign rule of the English Government can inspire their nature with free thoughts in independence."[26] असल सवाल गुलामी से मुक्ति का था, वह चाहे देशी राजा, सामंतवाद या अंग्रेजी सत्ता से ही क्यों न हो। जहाँ तक सवाल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का देशी भाषाओं के प्रति है तो उसका सच तब और खुलता है जब वह प्राथमिक शिक्षा के लिए हिन्दी की वकालत करते हैं। इसका कारण बताते हुए लिखते

हैं कि जो कोर्ट की भाषा है वह सामान्य जन की भाषा नहीं है। इसलिए कोर्ट की भाषा हिन्दी होनी चाहिए जिसे सब समझ सकें। "To remove this evil, the best remedy would be to make primary education compulsory in india as ts is in England and other European countries, to make the language of the court the language used by the people, and to introduce into the court papers the character which the majority of the public can read. The character in use in primary schools of these provinces is, with slight exceptions, entirely Hindi and the character used in th courts and offices in Persian and therefore the primary Hindi education which a rustic lad gains at his village has no value, reward or attraction attached to it."[27] पहली बात तो यह समझ लेना चाहिए कि केवल हिन्दी ही इस प्रान्त की भाषा नहीं थी जिसकी वकालत भारतेन्दु कर रहे थे। वे एक तरफ तो खुद को हिन्दी, संस्कृत ओर उर्दू का कवि मानते हैं और दूसरी तरफ केवल हिन्दी को मान्यता देने की बात कर रहे हैं। जबकि आम जनता में उर्दू के बहुत सारे शब्द प्रचलित थे इसका प्रमाण उस समय के लोकगीतों में प्रयुक्त शब्दावली है। अच्छा होता भारतेन्दु हिन्दी की जगह 'हिन्दुस्तानी' भाषा (हिन्दी और उर्दू का मिला रूप) की वकालत करते।

जहाँ तक सवाल सर सैयद का है, तो उनकी किताब 'Asbab-e-Baghawat-e-Hindi' को जब आप देखेंगे तो उनका वह रूप मिलेगा जिसमें उन्होंने अंग्रेजों के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए 1857 के लड़ाई में भाग लेने वालों को 'बेहूदा', 'नमकहराम', 'गद्दार', जैसे शब्दों से नवाजा है। जफ़र के लिए उन्होंने लिखा है – 'इस खानदान के बेहूदा लोगों ने आम जनता पर से अपना विश्वास खो दिया है'।[28] यही नहीं अंग्रेजी सरकार के प्रति सहानुभूति दिखाते हुए उन्होंने अंग्रेजी सरकार को अपनी सरकार तक माना है और इस सरकार के प्रति सहानुभूति न रखने वाले लोगों को 'गद्दार' कहा है। सर सैयद ने 1857 के लड़ाई को 'ग़दर' (जिसका अर्थ गद्दार से जुड़ता है, यानी अपने मालिक के खिलाफ वफादार न रहने वाले लोग) कहने पर विशेष बल दिया है। कुछ लोग तो अंग्रेजी सरकार के सहयोगी थे लेकिन सर सैयद ऐसे व्यक्ति थे जो अंग्रेजी न जानते हुए भी अधिक 'अंग्रेजदा' थे। वीरभारत तलवार ने दिखाया है कि शिक्षा के नियंत्रण पर सर सैयद का मत था कि नियंत्रण और संचालन खुद भारतीयों के हाथों में रहना चाहिए। उन्होंने लिखा है – "मेरे विचार से अगर कोई कौम अपने बच्चों को शिक्षित करना चाहती है तो यह तब तक नामुमकिन है जब तक कि वह खुद उसके लिए प्रयत्न न करे। यह अफसोस की बात है कि हम चाहते हैं कि हर जगह सरकार ही स्कूल खोले। ... भारतीय लोग तभी उन्नति कर सकते हैं जब वे सरकार और उसके हाकिमों की दखलंदाजी के बिना ही, अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध खुद करें और अपनी शिक्षा संस्थानों को स्वैच्छिक योगदान से, अपने नियंत्रण में खुद चलाएँ। ... सरकार जो सेकुलर

शिक्षा देती है वह ठीक है। लेकिन हमारी शिक्षा में धार्मिक शिक्षा भी शामिल होनी चाहिए। धार्मिक शिक्षा देना सरकार का काम नहीं है। लिहाजा अपनी शिक्षा का इंतजाम खुद करना चाहिए।"[29] यह सही बात है कि सर सैयद शिक्षा पर नियंत्रण सरकार का नहीं चाहते थे, और सरकार खुद भी पैसों के कमी के कारण यह नहीं चाहती थी कि स्कूलों पर पूरी तरह उसी का पैसा खर्चा हो। सर सैयद वही काम कर रहे थे जो सरकार परोक्ष रूप से करना चाहती थी। सर सैयद भद्र मुस्लिम वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। शिक्षा में वे जो भी सुधार चाहते थे वह केवल इसलिए – "भद्रवर्गीय मुसलमान शासन में ऊँचे पद पा सकें और सार्वजनिक जीवन में उनकी हैसियत बरकरार रहे।"[30] यही नहीं सर सैयद का यह भी मानना था कि जो निचले वर्ग के लोग परीक्षा पास कर के ऊँचे ओहदे पर आ गए हैं उससे भी हिन्दुस्तानी लोगों में काफ़ी नाराजगी है। यहाँ हिन्दुस्तानियों से उनका संबंध केवल भद्रवर्गीय मुसलमान से है। इसीलिए तो वह कहते हैं कि – "ऐसे–ऐसे लोग इस जीइज्ज़त ओहदे पर मुक़र्रर हो गए जो हिन्दुस्तानियों के आँखों में निहायत बेकदर थे।"[31]

आगे चलकर यही प्रतिद्वंद्विता हिन्दू और मुस्लिम अलगाववाद का रास्ता अख्तियार करती है। इसकी एक धारा भारतेन्दु से जुड़ती है तो दूसरी सर सैयद से।

स्त्री शिक्षा पर जब नजर डालेंगे तो यह और पिछड़ा हुआ प्रदेश नजर आएगा। इसको लेकर भारतेन्दु ने लिखा है –" मुझे बहुत अफसोस है कि पिछले आठ–नौ सालों से सरकार ने लोकशिक्षा के इस अंग की उपेक्षा की है। यह सच है कि इस देश (हिन्दी प्रदेश) में लोगो में अपनी लड़कियों को पब्लिक स्कूल में भेजने की इच्छा नहीं है। भारतेन्दु ने कहा कि हमारी सरकार का कर्त्तव्य है कि वह स्त्रीशिक्षा के प्रति लोगों के इस मानसिक अज्ञान को दूर करे। It is the duty of our government to remove this ignorance from their minds."[32] भारतेन्दु यह तो चाह रहे थे कि स्त्रीशिक्षा का प्रसार हो लेकिन उनकी नजर में स्त्रीशिक्षा के मायने थे – "मैं मिस रोज ग्रीनफील्ड से सहमत हूँ कि बड़ी लड़कियों को प्रेमसागर ग्रन्थ पढ़ने को नहीं देना चाहिए। विद्यांकुर और इतिहास तिमिरनाशक उनके नैतिक चरित्र का विकास नहीं कर सकते। चरित्र निर्माण (मोरालिटी) और घरेलू प्रबन्ध वगैरह के बारे में बताने वाली अच्छी पाठ्यपुस्कें उनके पाठ्यक्रम में लगनी चाहिए। भारतेन्दु ने आगे कहा कि इस देश (पश्चिमोत्तर प्रान्त) के लोगों में अपनी लड़कियों को पब्लिक स्कूलों में भेजने में बहुत कम रुचि है। वे आमतौर पर इसका विरोध करते हैं। लेकिन हमारे यहाँ गृहशिक्षा का चलन है। शरीफ घरों के लोग अपनी लड़कियों को – चाहे वे जिस उम्र की

हों – पब्लिक स्कूलों में भेजना नहीं चाहते – चाहे वह स्कूल सरकारी हो या निजी। लड़कियों को पढ़ाने के लिए वे (शरीफ लोग) आमतौर पर घर में कोई ट्यूटर रख लेते हैं। यह गृह शिक्षा अक्सर धार्मिक किस्म की होती है और पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान से इसका कोई संबंध नहीं होता। धार्मिक किताबों में उन्हें चरित्र संबंधी सिद्धान्तों और घरेलू कर्त्तव्यों के पाठ पढ़ाए जाते हैं। मुसलमान अपनी लड़कियों को कुरआन पढ़ाते हैं। ... मैं इस देश में लड़के–लड़कियों के मिले–जुले स्कूलों की योजना बनाने का समर्थन नहीं कर सकता। एक ही स्कूल में लड़कों के साथ अपनी लड़कियों को पढ़ाने के लिए हिन्दुस्तानियों को कभी राजी नहीं किया जा सकता।"[33] यहाँ भारतेन्दु के बातों में एक अंतर्विरोध दिखाई पड़ता है। एक तरफ तो वह लड़कियों को वैसी शिक्षा देना चाहते हैं जिससे उनका चरित्र निर्माण हो सके और घरेलू कामों को अच्छे तरीकों से देख सके। वहीं दूसरी तरफ वे यह भी कहते हैं कि जो शिक्षा उन्हें घरों पर दी जाती है उसका पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान से कोई संबंध नहीं होता है। जब वे यह मानते हैं कि स्त्रियों के लिए भी ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा जरूरी है तो फिर उसके लिए पाठ्यक्रम में नैतिक शिक्षा देने की वकालत क्यों करते हैं? सर सैयद का विचार तो स्त्रीशिक्षा को लेकर और भी पिछड़ा हुआ था। उन्होंने लिखा है – 'लड़कियाँ स्कूल में आवें और तालीम पावें और बेपरदा हो जाएँ ये बात हिन्दुस्तानियों को बहुत नागवार थी।' यही नहीं स्त्रियाँ कुछ सरकारी कानूनों से जो स्वतन्त्र हो रही हैं उसको उन्होंने फसाद का जड़ माना है (ऐक्ट–15, 1856 के सन्दर्भ में उन्होंने कहा है)।[34] इसका जिक्र तलवार जी अपनी किताब में क्यों नहीं करते हैं इसका कारण वे खुद ही जानते होंगे! खैर...। जब हम पश्चिमोत्तर प्रान्त में स्त्रीशिक्षा के प्रारम्भ का दौर (आधुनिक काल) में देखते हैं तो उमा नेहरू का यह कथन सार्थक दिखाई पड़ता है – "भारतीय पुरुष तो पश्चिम का पूरा अनुकरण करते हैं और उसी के आधार पर विकास का माडल बनाते हैं, लेकिन वे चाहते हैं कि उनकी स्त्रियाँ पूर्वी ही दिखें।"[35] वास्तव में 19वीं सदी में पश्चिमोत्तर प्रान्त के समाज–सुधारकों और साहित्यकारों का एक बड़ा हिस्सा स्त्रियों को पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से दूर रखना चाहता था, क्योंकि उसके लिए स्त्री एक धार्मिक भावना की प्रश्न थी। अधिकतर लड़कियों की कम उम्र में शादी हो जाना भी स्त्रीशिक्षा के विकास में रुकावट का बड़ा कारण था। भारत के अन्य प्रान्तों की तुलना में सामंती और पितृसत्तात्मक सोच के कारण स्त्रीशिक्षा का स्तर आज भी हिन्दी प्रदेश में बहुत संतोषजनक नहीं है। हकीकत तो यह है कि स्त्री आन्दोलन कभी भी इस प्रदेश में सामाजिक उन्मूलन के रूप में व्यापक स्तर पर नहीं दिखाई पड़ता है। आज भी एक व्यापक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की आवश्यकता खासकर स्त्री प्रश्न को लेकर हिन्दी प्रदेश बनी हुई है।

अब सवाल यह है कि इस नई शिक्षा पद्धति और सामाजिक बदलाव का हिन्दी आलोचना से क्या संबंध है? जब हम इस सवाल की ओर मुड़ते हैं तो, कुछ विचार पद्धतियों का प्रभाव हिन्दी आलोचना के अवधारणात्मक निर्माण में सहायक दिखता है। भारतेन्दु युग में इन पद्धतियों का प्रभाव तो कुछ कम दिखता है, लेकिन द्विवेदीयुग में इनका प्रभाव स्पष्ट रूप में दिखता है। शुरू में मैंने प्राच्यवाद, इन्जीलवाद और उपयोगितावाद का जिक्र किया है। आप देखेंगे कि साहित्य में जो प्राचीन साहित्यकारों और संस्कृत साहित्य के रचनाकारों की खोज है, उसका संबंध प्राच्यवाद से जुड़ता है। अपने अतीत को स्वर्णीम रूप में विश्लेषित करना तथा अपनी परम्परा को सर्वश्रेष्ठ साबित करने की प्रवृत्ति का द्योतक यही प्राच्यवाद है। राष्ट्रीयता के निर्माण में इसकी भूमिका को योरोप भी महसूस करता था और भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग ने भी इसका उपयोग राष्ट्रीयता के निर्माण में ही किया। डेविड कॉफ ने ब्रिटिश प्राच्यवाद और बंगाल नवजागरण के सन्दर्भ में आधुनिकता का व्यापक अध्ययन किया है। 'ब्रिटिश ओरिएंटलिज्म एंड बंगाल रेनेसॉ' में उन्होंने 1733 से 1830 ई. तक के दौर को भारत में ब्रिटिश सांस्कृतिक नीति के सन्दर्भ में देखते हुए प्राच्यवाद युग करने की पेशकश की है और फोर्ट विलियम कॉलेज को वॉरेन हेस्टिंग्स की सांस्कृतिक नीति और एशियाटिक सोसाइटी के बाद प्राच्यवाद की अगली कड़ी के रूप में देखा है। भारत के सन्दर्भ में प्राच्यवाद के अध्ययन को उसी रूप में नहीं देखा जा सकता है जैसे ब्रिटिश प्राच्यवाद को देखा जाता है, लेकिन भारत में प्राच्यवाद का विकास और ब्रिटिश विचार पद्धतियों के साथ उसका संबंध जरूर स्थापित होता है। हिन्दी आलोचना अपने तत्कालीन परिस्थितियों के साथ सम्वाद तो करती है, लेकिन प्राचीनता के प्रति उसका मोह प्राच्यवाद से ही प्रभावित होता है। यह दीगर बात है कि भारतीय बुद्धिजीवियों का यह प्रयास रहता है कि वह अपने विश्लेषण में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का प्रतिपक्ष रचें।

'उपयोगितावाद' की प्रवृत्ति भी खासकर द्विवेदीयुगीन आलोचना में देखने को मिलती है। उपयोगितावाद का ब्रिटिश उपनिवेश के लिए जैसे तत्कालीन महत्त्व होता है उसी तरह द्विवेदी युग में भी इस 'उपयोगितावादी दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन जरूरी होता है। क्षणिक ही सही, लेकिन इसकी आवश्यकता को द्विवेदीयुग के रचनाकार महसूस करते हैं। अपने विश्लेषण में इस पद्धति का उपयोग करते हैं। सामाजिक आन्दोलनों में खास कर स्त्री शिक्षा तथा प्राचीन रूढ़ियों के प्रति हस्तक्षेप भी नई विचार पद्धति के आगमन और विश्लेषण के साथ शुरू होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नई शिक्षा पद्धति के साथ हिन्दी आलोचना का सम्वाद और अपनी परम्परा के मूल्यांकन के प्रति सचेत दृष्टि का निर्माण यहीं

से शुरू होता है। यह सम्वाद की प्रक्रिया और दृष्टि हिन्दी आलोचना के विकास में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। अपनी प्राचीन परम्परा की रूढ़ियों को तोड़कर उसे जीवन सहचर बनाने का काम हिन्दी आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप है, जो इस युग (आधुनिक युग) के रचनाकारों के लेखन से शुरू होता है। आधुनिकता और परम्परा के बीच सम्वाद, नया युग बोध और पाश्चात्य विचारों का सजग दृष्टि से मूल्यांकन हिन्दी आलोचना की धारा को विस्तृत करता है, जिसका संबंध नयी शिक्षा और विचार पद्धति से भी जुड़ता है।

पश्चिमी समीक्षा ने हिन्दी आलोचना के विकास को पर्याप्त प्रेरणा प्रदान की जिससे नये तथा पुराने काव्य सिद्धान्तों का निरूपण हुआ और समीक्षा की नवीन प्रणालियाँ विकसित हुईं। पाश्चात्य और भारतीय काव्य समीक्षा को जांचते–परखते हुए हिन्दी आलोचना अपने नवीन मार्ग को खोलती है। शुरुआती आलोचना में कुछ खामियाँ भी हैं, लेकिन हिन्दी आलोचना को व्यापक करने का एक प्रयास भी वहाँ दिखता है। अतः हिन्दी आलोचना को समझने के लिए इन खामियों के अन्तर्द्वन्द्व को समझना जरूरी है, ठीक उतना ही जितना उसके सफल प्रयास को समझना सार्थक है।

1.3 हिन्दी आलोचना की पृष्ठभूमि और भारतेन्दुयुगीन आलोचना

"'आलोचना' उन विधायों में से है जो पश्चिमी साहित्य की नकल पर नहीं, बल्कि अपने साहित्य को समझने–बूझने और उसकी उपादेयता पर विचार करने की आवश्कता के कारण जन्मी और विकसित हुई। (हिन्दी आलोचना–विश्वनाथ त्रिपाठी)

भारतेन्दु युग हिन्दी के विकास का आरम्भिक युग है। इस युग की आलोचना में हमें एक 'आलोचनात्मक उन्मेष' दिखाई पड़ता है। "आलोचना का एक काम है – इतिहास का, परम्परा का मर्म समझना–समझाना और उसे आगे की पीढ़ियों के बीच जीवित रखना। उस परम्परा का जो श्रेष्ठ है, उसे बचाया जाता है। बाढ़ आती है तो लोग कहते हैं कि आग बचा लो, नहीं तो जब बाढ़ उतर जाएगी तब चूल्हा कैसे जलेगा, तो अतीत की जो आग है उसे बचाना आलोचना का काम होता है।"[36] भारतेन्दुयुगीन आलोचना में परम्परा और इतिहास के विश्लेषण के प्रति एक सजग 'आलोचनात्मक विवेक' दिखाई पड़ता है। इस आलोचनात्मक विवेक का संबंध विधाओं और व्याख्याओं को नई सामाजिक दृष्टि के साथ व्याख्यायित करने से जुड़ा हुआ है। पाश्चात्य समीक्षा पद्धति के परिचय से आगे बढ़कर भारतेन्दुयुगीन लेखकों की दृष्टि सामाजिक प्रतिबद्धता के साथ जुड़ी हुई है। यही कारण है कि बालकृष्ण भट्ट ने साहित्य को जनसमूह के हृदय का विकास बताते हुए एक निबन्ध लिखा जिसका शीर्षक था 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है।' इस निबन्ध में बालकृष्ण भट्ट रीतिवादी मानसिकता का विरोध करते हुए साहित्य की जनवादिता की बात करते हैं। उन्होंने साहित्य की विशेषता बताते हुए लिखा है – "साहित्य यदि जनसमूह के चित्त का चित्रपट कहा जाए तो संगत है, किसी देश का इतिहास पढ़ने से केवल बाहरी हाल हम देश का जान सकते हैं पर साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय–समय उसके आन्तरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं।"[37] यही नहीं भट्ट जी ने 'सच्ची कविता' नामक लेख में रीतिवादी कविता का जो मूल्यांकन किया है वह भारतेन्दुयुगीन आधुनिक चेतना और युगीन लेखकों की सामाजिक प्रतिबद्धता का बेहतर उदाहरण है। भट्ट जी ने लिखा है – "प्रायः तो नायिका नायक का एक–एक अंग का नख–शिख वर्णन सम्पूर्ण कवित्व शक्ति का ओर छोर आ लगा है, बहुत बढ़े षड–ऋतु के वर्णन में जा फसे, बसंत हुआ तो वही सहकार मधुकर कामदेव की सेना को अपने–अपने ढंग पर गा जाने के अतिरिक्त एक ही विषय पर नई बातें और लावें कहाँ से, पावस को कहने लगे तो मोर, दादुर की टरटर वियोगिनी नायिका की समरदशा आदि गिनी दस–पांच बातें हैं जिसपर कविता की अधिष्ठात्री देवी सैकड़ों बर्ष से घसीट जीर्ण

कलेवर कर डाला।"[38] इस कथन के बाद भी जिसको भारतेन्दुयुगीन आलोचकों की सामाजिक प्रतिबद्धता पर संदेह नजर आता है, उसे इस लेख को पन्त जी द्वारा लिखित 'पल्लव' की भूमिका और आचार्य शुक्ल का रीतिकाल संबंधी चिंतन से जोड़ कर पढ़ लेना चाहिए। साहित्य की सामाजिक प्रतिबद्धता के दायित्व को भारतेन्दुयुगीन आलोचकों ने सहज स्वीकार किया। साहित्य को वह अपने समय से काटकर देखने के आग्रही नहीं थे। विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी आलोचना' में भारतेन्दु युग की आधुनिकता पर लिखा है – "जिस व्यक्ति की रचनाओं से हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग का उदय हुआ वह केवल साहित्यकार नहीं थे। अपने आस–पास के जीवन को देखने के लिए उसकी आँखे खुली हुई थी। ..... जागरण का पहला लक्षण आँखों का खुलना है। आँखें खोलकर जाग्रत व्यक्ति अपने आस–पास को देखता है,अपनी स्थिति का निश्चय करता है और तदनुसार उद्योग में लग जाता है। यानी यथार्थ–बोध जाग्रत व्यक्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। यही यथार्थ–बोध उस साहित्य की विशेषता है जिसे हम आधुनिक युग कहते हैं। जागने पर यथार्थ–बोध से युक्त साहित्कार को अपने आसपास अनेक प्रकार की विषमताएँ दिखलाई पड़ी थीं, इसलिए यथार्थ–बोध के साथ–साथ विषमता की पहचान और इस विषमता से उबरने की छटपटाहट, ये तीनों भेदक लक्षण हैं जो भारतेन्दु युग को रीतिवादी साहित्य से अलग करतें हैं और इन्हीं कारणों से भारतेन्दु युग हिन्दी के आधुनिक साहित्य का प्रवर्तक युग है। यह आधुनिक दृष्टि सामाजिक उत्तरदायित्व की चेतना से युक्त है।"[39]

'हिन्दी आलोचना की परम्परा' पर बात रखते हुए नामवर सिंह ने कहा है – "आचार्य शुक्ल सच्चे अर्थों में हिन्दी के पहले आलोचक थे। उनके पहले समीक्षक हुआ करते थे, जो पुस्तकों को समीक्षा या टिप्पणियाँ लिखा करते थे। सच्चे अर्थों में हिन्दी आलोचना 1920 के आसपास स्थापित हुई। ... भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की भाँति हिन्दी जगत में भी 1920 अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा। इसी वर्ष कविता सच्चे अर्थों में बदली है। साहित्य की धारा बदली है। इसी समय छायावाद की शुरुआत हुई, इसी समय प्रेमचन्द आए। प्रेमचन्द, छायावाद, रामचन्द्र शुक्ल और राजनीति में गाँधी, ये बड़ी धटनाएं 1920 में घटित होती है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय 1916 में स्थापित हुआ था, लेकिन हिन्दी विभाग पहली बार विभाग तब बना, जब शुक्ल जी आए और यहाँ रहते हुए उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा। तुलसी, सूर, जायसी पर तीन मानक आलोचनाएँ लिखीं, 'चिन्तामणि' के निबंध लिखे।"[40] यहाँ ठहर कर नामवर सिंह के कथन पर विचार करने की जरूरत है। नामवर सिंह के दृष्टि में हिन्दी आलोचना की शुरुआत सही अर्थों में 1920 के आसपास होती है, लेकिन क्या कोई आलोचना

एकाएक विकसित हो जाती है? यह ध्यान रखना जरूरी है कि जिस जमीन पर खड़े होकर आचार्य शुक्ल ने अपनी आलोचना दृष्टि को विकसित किया था, वह जमीन सही अर्थों में 1900 से 1920 ई. के बीच की थी। शुक्ल जी जब 1908 में काशी आए तो उनके पास दो निबंधों और 'कविता क्या है?' की पहली समझदारी थी। दरअसल 1908 से 1919 के बीच का ग्यारह वर्ष का समय आचार्य शुक्ल के आलोचनात्मक विवेक के निर्माण में महत्त्वपूर्ण और पूरी तैयारी के रूप में स्मणीय है। इस बीच आचार्य शुक्ल नागरी प्रचारिणी सभा से सम्बद्ध रहे और मुख्यतः 'हिन्दी शब्द सागर' के निर्माण में लगे रहे। इसी दौरान वे सभा की पत्रिका के सम्पादक भी हुए। इस अवधि में आचार्य शुक्ल ने दो महत्त्वपूर्ण काम किया। 'मनोविकारों का विकास' नाम की लेखमाला और 'विश्वप्रपंच' नामक अनुवाद तथा उसकी लम्बी भूमिका लिखी। वस्तुतः 'साहित्य' और 'कल्पना का आनन्द' को अनूदित करने के बाद जब आचार्य शुक्ल 'कविता क्या है'? पर काम कर रहे थे तो वे मनोविकारो को समझना चाहते थे। वहीं दूसरी तरफ जब हैकेल की पुस्तक 'दि रिडिल ऑफ युनिवर्स' का अनुवाद 'विश्वप्रपंच' के नाम से कर रहे थे तो कविता के दर्शन को समझना चाहते थे। इसीलिए साहित्यिक दृष्टि से आचार्य शुक्ल का यह समय विशेष महत्त्व रखता है। 'हिन्दी शब्दसागर' में दर्शन और मनोविज्ञान संबंधी जितनी भी प्रविष्टियाँ हैं उनके अर्थ और व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ शुक्ल जी की लिखी हुई है। बाबू श्यामसुन्दर दास की यह बात सत्य है कि 'कोश ने शुक्ल जी को बनाया और कोश को शुक्ल जी ने'।

इस बीच आलोचना की पहली पुस्तक 'हिन्दी नवरत्न' (1910 ई. में) आ चुकी थी। 'मिश्रबन्धु विनोद' जैसी इतिहास की पुस्तक आ चुकी थी। रीतिवादी कविता का विरोध शुक्ल जी के आने के पहले से ही हो रहा था। स्वाधीनता आन्दोलन की लड़ाई की एक व्यापक पृष्ठभूमि, जिसकी लहर 1857 से उठी थी, उसके फैलाव का काल सही अर्थों में 1900 से 1920 के बीच का है। इस जमीन को बिना समझे न हिन्दी आलोचना को समझा जा सकता है न हिन्दी आलोचना के विकास की परम्परा को। हाँ, नामवर सिंह की यह बात मानी जा सकती है कि हिन्दी में 'अकादमिक आलोचना' की शुरुआत 1920 से होती है, लेकिन अकादमिक आलोचना से ही हिन्दी आलोचना की शुरुआत मानना एक भूल है।

जहाँ तक सवाल है हिन्दी आलोचना की तो हमें यह जरूर ध्यान देना चाहिए कि जिस युग में जो विधा महत्त्वपूर्ण रूप में उभरती है, आलोचक उन्हीं विधाओं पर अपनी आलोचना दृष्टि को प्रखर रूप में केन्द्रित करता है। छायावाद में 'कविता' महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में उपस्थित हुई है, इसलिए आचार्य शुक्ल का चिंतन कविता को लेकर ज्यादा प्रखर रूप

में सामने आता है। ऐसा नहीं है कि भारतेन्दु युग में कविता पर कोई बात नहीं हुई है। हुई है, लेकिन भारतेन्दु युग की आलोचना मुख्य रूप से नाटकों पर केन्द्रित है। जहाँ तक सवाल है आचार्य शुक्ल के चिंतन का तो, कथा साहित्य के सबसे महान नायक प्रेमचन्द पर आचार्य शुक्ल के चिंतन को अगर आप देखें तो साफ तौर पर पता चलता है कि आचार्य शुक्ल की प्रेमचन्द संबंधी आलोचना कितनी कमजोर है। जैसे आचार्य शुक्ल का कविता संबंधी चिंतन महत्त्वपूर्ण है ठीक उसी प्रकार भारतेन्दु युग में नाटक संबंधी आलोचना महत्त्वपूर्ण है। नाटक, उपन्यास विधा जो भारतेन्दु युग में प्रचलित हुई, उस पर उस युग में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचना लिखी गई। भारतेन्दु काल की अपनी विशेषता हिन्दी नाटक थे। इस कारण 'हिन्दी नाटक' को लेकर इस युग की आलोचना में एक रचनात्मक उन्मेष दीखता है।

इस युग में हिन्दी नाटक के विकास के साथ ही नाटक विधा के नवीन कलेवर को लेकर किसी सैद्धान्तिक ग्रन्थ का हिन्दी में अभाव, इस युग के लेखकों को खटक रहा था। संस्कृत नाट्य निरूपण के आधार पर हिन्दी नाटक को नहीं समझा जा सकता था। संस्कृत नाट्य निरूपण सिद्धान्त हिन्दी नाटक के मानदण्डों को समझने के लिए अपर्याप्त था। अपनी चिंता को इसी रूप में अभिव्यक्त करते हुए 'दृश्य रूपक और नाटक' में प्रेमघन ने लिखा है – "हमारे भाषा के नाटक लिखने वाले के अर्थ, भाषा दृश्य काव्य के निरूपण, और लक्षण तथा भेद, रीति–निरूपण और उदाहरणों को बतलाने वाला कोई साहित्य का ग्रन्थ नहीं और जो संस्कृत में "षष्ठ–परिच्छेद" साहित्य दर्पण में श्री विश्वनाथ कविराज रचित, 'दशरूपक' इत्यादि हैं, अब उनमें बहुत से गड़बड़ समय और भाषा परिवर्तन के कारण हो गए, और कितनी बातों का विरोध पड़ गया अतएव मुख्य तो इनका आश्रय लेकर और उस समय से इधर के बनें नाटक तथा अंग्रेजी, बांग्ला, इसी रीति से हमारी भाषा के भी (जो है) और गुजराती, मराठी से भी जांच कर नए तरह पर खासकर इस नागरी भाषा में कोई ग्रन्थ होना अत्यंत आवश्यक है"।[41]

भारतेन्दु ने इसी चिंता को आधार बनाते हुए 'नाटक अथवा दृश्य काव्य' शीर्षक से एक लम्बा निबन्ध लिखा था। विश्वनाथ त्रिपाठी ने तो इस निबंध के हवाले से यह माना है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रथम आलोचक भारतेन्दु हैं। उन्होंने लिखा है – "भारतेन्दु ने नाटक पर विचार करते समय उसकी प्रकृति, समसामयिक जनरुचि एवं प्राचीन नाट्यशास्त्र की उपयोगिता पर विचार किया है। उन्होनें बदली हुई जनरुचि के अनुसार नाट्य रचना में परिवर्तन करने पर विशेष बल दिया है। भारतेन्दु के नाटक–विषयक लेख में आलोचना के

गुण मिल जाते हैं। ऐसी दशा में उन्हें आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रथम आलोचक कहना अनुचित न होगा।"[42] विश्वनाथ त्रिपाठी की यह बात कहीं से भी उचित प्रतीत नहीं होती है। एक निबंध में आलोचना के कुछ गुण मिल जाने से किसी को आलोचक नहीं घोषित किया जा सकता है। अलबत्ता यह जरूर है कि भारतेन्दु का यह लेख नाटक अथवा दृश्य काव्य आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

इस निबंध में भारतेन्दु ने संस्कृत नाटकों के मुकाबले हिन्दी नाटक की नवीनता पर बल दिया। उन्होंने लिखा है – "पूर्व काल में लोकातीत असंभव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती। अब नाट्यकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मण्डली को नितांत अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण को हृदयग्राह्य है। अतः नाटक में कहीं "आशी", प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं "प्रकरी", कहीं "विलोभन", कहीं "सम्फेट", कहीं "पंचसंधि" या ऐसी ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नही बाकी रही।"[43] इस लेख में भारतेन्दु ने उत्कृष्ट, मध्यम और अधम तीनों का यथास्थान निर्वचन मनुष्य की प्रकृति आलोचना, मनुष्य के बाह्य भाव और कार्यप्रणाली के चित्रों तथा परस्पर वार्ता में हृदय के भावबोधक ही कहने आदि के महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। नवीन नाटकों के पांच उद्देश्यों में से दो उन्होंने – समाज संस्कार और देश वात्सालता बताए।[44]

भारतेन्दु इस लेख में नाटक की सैद्धांतिक आलोचना का रूप तो प्रस्तुत करते हैं, लेकिन हकीकत तो यह है कि हिन्दी नाटक की सैद्धांतिकी वस्तुतः उस समय के नाटकों की व्यावहारिक आलोचना में छिपी है। आलोचना की भूमिका पाठक के मन में पड़ने वाली मानसिक क्षमताओं को जगाने, उसकी प्रश्नाकुलता को धार देने, उसके अंदर की मानवीय भावनाओं और उसके उद्दात्त आशयों को प्रस्फुटित करने में होता है। इसी अर्थ में आलोचना सामाजिक संरचना और काव्य संरचना के बीच एक संबंध स्थापित करती है।

लाला श्रीनिवास दास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' पर 'हिन्दी प्रदीप' में पं. बालकृष्ण भट्ट ने 'सच्ची समालोचना' शीर्षक से समीक्षा लिखी, भारतेन्दु युगीन आलोचना को सिर्फ गुण–दोष विवेचन मानने वाले लोगों को यह समीक्षा देख लेनी चाहिए। इस समीक्षा में भट्ट जी ने मात्र गुण–दोष कथन को ही नहीं विवेचित किया है बल्कि चरित्रों की विविधता, संवादों की जीवन्तता इत्यादि विषयों से संबंधित कुछ मूलभूत प्रस्थापनाएं भी प्रस्तुत की हैं। उन्होंने लिखा है – "क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुनरावृत्ति की छाया लेकर

नाटक लिख डालने ही से वह ऐतिहासिक हो गया – क्या किसी विख्यात राजा या रानी के आने ही से वह लेख ऐतिहासिक हो जाएगा? यदि ऐसा है तो गप हांकने वाले दास्तानगों और नाटक के ढंग में कुछ भी भेद न रहा। किसी समय के लोगो के ह्रदय की क्या दशा थी उनके अभ्यांतरिक भाव किस पहलू पर ढुलके हुए थे अर्थात उस समय मात्र के भाव (स्पीरिट ऑफ द टाइम) क्या थे – इन सब बातों को ऐतिहासिक रीति पर पहलें समझ लीजिए तब उसको दर्शाने का भी यत्न नाटकों द्वारा कीजिए। हमने जहां तक नाटक देखे उनमें पात्रों की व्यक्ति (कैरेक्टराइजेशन) के भिन्न–भिन्न होने ही से नाटक की शोभा देखा। ... नाटक में पाण्डित्य नहीं वरन मनुष्य के ह्रदय से आपको कितना गाढ़ा परिचय है यह दर्शाना चाहिए। और निष्कर्षतः यह कि 'संयोगिता स्वयंवर' वैशिष्ट रहित चरित्रों और अनुपयुक्त संवादों से युक्त एक अनैतिहासिक नाटक है।"[45] इस समीक्षा को देखने पर पता चलता है कि हिन्दी नाटक की वास्तविक सैद्धांतिकी उस समय के व्यावहारिक आलोचना के माध्यम से विकसित हो रही थी।

'संयोगिता स्वंयवर' नाटक की दूसरी समीक्षा 'आनंद कादम्बनी'में प्रेमघन जी ने संयोगिता स्वयंवर नाटक के नाम से 'प्राप्ति स्वीकार व समालोचना' स्तंभ में लिखी। इस समीक्षा में उन्होंने कथा संबंधी कुछ गलतियों की तरफ इशारा किया। इसके अलावा 'हिन्दी प्रदीप' में भट्ट जी ने रणधीर मोहिनी, नीलदेवी, भारत दुर्दशा आदि नाटकों की समीक्षा लिखी। शांति प्रकाश वर्मा ने इन समीक्षाओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है – "इस काल के आलोचकों ने कविता, नाटक, उपन्यास आदि पर आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। परंतु उनमें आलोचना के सैद्धांतिक पक्ष पर अधिक जोर नहीं दिया गया है। इसलिए इस काल की आलोचनात्मक सामग्री में आलोचना की आरम्भिक अवस्था मिलती है।"[46]

यह ध्यान रखना चाहिए कि भारतेन्दु यगीन आलोचना की जो सैद्धांतिकी विकसित हो रही थी वह सिद्धान्त की परम्परागत परिभाषा से भिन्न थी। इस युग के आलोचक, रचनाकार और आलोचक दोनों थे। इनके यहां रचनात्मक और आलोचनात्मक दोनों स्तरों पर सृजनात्मक संघर्ष चल रहा था। रचना और आलोचना के नए मानदंडों के निर्माण की प्रक्रिया चल रही थी। दरअसल यहां सिद्धान्त किसी शास्त्र के रास्ते न आकर अपनी मिट्टी और लोक के रास्ते आ रहा था। "इस युग के आलोचनात्मक सिद्धान्त में शास्त्र और परलोक वाले घुमावदार रास्ते नहीं है, महलों और दरबारों की चकाचौंध नहीं है। अभिजन और ग्रामत्व की पेंचीदगी नहीं है, अगर है तो भी पलड़ा ग्रामत्व का ही भारी है। भारतेन्दुयुगीन आलोचना साधारणता का सौन्दर्यशास्त्र रचती है। इस युग की आलोचना के सिद्धान्त में सामाजिक

सजगता इस कदर समाई हुई है कि 'ऊपर–ऊपर चक्कर लगाने वालों' को भ्रम हो सकता है कि इस युग में आलोचना के सैद्धांतिक पक्ष पर जोर नहीं दिया गया है।"[47] एक हद तक इस भ्रम के शिकार शांतिप्रकाश वर्मा भी इसके शिकार दीखते हैं। यह सही है कि इस युग (भारतेन्दु युग) का आलोचना में आलोचना की सैद्धान्तिकी के प्रारम्भिक रूप मिलते हैं, लेकिन यह रूप हिन्दी आलोचना की सैद्धान्तिक अवधारणा के विकास में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। शुरुआती दौर के आलोचना में सैद्धान्तिकी का प्रबल रूप खोजना उचित नहीं है। वहां अनगढ़पन जरूर दिखेगा। यही अनगढ़पन आगे चलकर हिन्दी आलोचना की सैद्धान्तिक विकास में मदद करता है।

भारतेन्दुयुगीन आलोचना में अपने समय की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। आलोचक जब अपने समय से टकराता है तो उसे जानने समझने की कोशिश भी करता है। भारतेन्दुयुगीन आलोचक भी अपनी चेतना का निर्माण अपने समय से निरपेक्ष रहकर नहीं, बल्कि समय–सापेक्ष मूल्यों से टकराकर किए हैं। यही कारण है कि भारतेन्दुयुगीन रचना और आलोचना दोनों में साम्राज्यवाद विरोध' का स्वर सुनाई पड़ता है। किसी भी समय सत्ता से संतोष करने से ज्यादा महत्त्वपूर्ण होता है उस सत्ता पर प्रश्न उठाना। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है – "हमारा इस पराधीन दशा में रहने का एकमात्र कारण यही है कि हमको किसी से कभी असंतोष होता ही नहीं।"[48] यहां भट्ट जी अपनी आलोचनात्मक दृष्टि के माध्यम से उस सत्ता पर (ब्रिटिश–सत्ता) प्रश्न उठा रहे थे जिसकी पीड़ा से तत्कालीन समाज ग्रसित था।

जब कोई आलोचक किसी प्रश्न को खड़ा करता है तो उसके लिए वह प्रश्न आस्था और सम्मोहन का नहीं होता है। किसी रचना के प्रति न्याय–अन्याय का नहीं होता, बल्कि वह प्रश्न एक संभावना की तरफ संकेत करता है जहां 'भविष्य निर्माण' के स्वप्न पलते हैं। प्रश्नों से सबसे अधिक दिक्कत उन लोगों को होती है जिनके लिए कुछ भी बदलना गलत ही होता है। मुक्तिबोध ने लिखा है – "जब तक हमें भविष्य निर्माण के स्वप्न नहीं आते, तब तक हमारी कला और साहित्य कमजोर रहेगा और उसमें सच्ची शक्ति नहीं आएगी।"[49] इस भविष्य निर्माण और सच्ची शक्ति की प्रक्रिया के लिए प्रश्न उठाना अनिवार्य है। हकीकत तो यह है कि आलोचक इन्हीं प्रश्नों के माध्यम से अपने समय की वास्तविकता से टकराकर अपनी सृजनात्मकता को आगे बढ़ाता है, और इन्हीं प्रश्नों में उसके भविष्य निर्माण की प्रक्रिया भी छिपी रहती है। भारतेन्दुयुगीन आलोचना (जिसे सिर्फ गुण–दोष विवेचन मात्र कहकर टाल दिया जाता है) पर ठहरने की जरूरत है। उन प्रश्नों की तरफ देखने की जरूरत है,

जो उस युग के आलोचक उठा रहे थे। ये प्रश्न अनायास नहीं थे। उनमें परम्परा, रचना और परिवेश से एक गहरा जुड़ाव दिखता है। मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है – "आलोचना के प्रतिमान, रचना की परम्परा और रचना के परिवेश से प्राप्त होते है केवल रचना से ही नहीं।"[50] भारतेन्दुयुगीन आलोचक रचना को इसी परिवेश और परम्परा के द्वन्द्व में देख रहे थे।[51]

रीतिवादी दरबारी कविता के रूप से छुटकारा पाने के लिए भारतेन्दुयुगीन लेखकों ने रीतिवाद विरोध अभियान भी चलाया। उनके सामने यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न था कि नई कविता कैसी हो? इसका विश्लेषण किस रूप में किया जाए? भारतेन्दु हरिश्चंद्र और बालकृष्ण भट्ट ने ग्राम्य गीतों की सहजता को खुले तौर पर स्वीकार किया है। भारतेन्दु ने अपने लेख 'जातीय संगीत'में लिखा है – "यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्राम्यगीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य का संगीत सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है, उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। ... ऐसे गीत बहुत छोटे–छोटे छंदो में और साधारण भाषा में बनें वरन् गंवारी भाषा में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हो।"[52] यहां यह भी बताते चले कि भारतेन्दु में इन गीतों की विषयवस्तु के तौर पर बालविवाह, भ्रूण हत्या, बहुजातित्व और बहुमिश्रित के दोष तथा व्यापार की उन्नति व स्वदेशी के व्यवहार की आवश्यकता आदि सुझाए हैं। जो लोग भारतेन्दु को संस्कृतनिष्ठ शब्दावली और परम्परागत रुढ़िवादी मानकर चलते है उन्हें भारतेन्दु का यह लेख जरूर पढ़ना चाहिए। यहां कविता को लेकर भारतेन्दु का लोकहृदय बह रहा है।

इससे आगे बढ़कर बालकृष्ण भट्ट ने तो ग्राम्य गीतों की सहजता को खुले तौर पर स्वीकार किया है। भट्ट जी ने 'स्वछंद काव्य 'पर बल देते हुए हिन्दी प्रदीप में 'सच्ची कविता' नाम से एक लेख लिखा है। जिसमें वे कहते हैं – "यदि हमारे मन की उमंगें सच्ची हैं, हमारी भावनाएं सच्ची हैं तो जो बातें हमारे चित्त से निकलेगी, सच्ची होंगी और उनका असर भी सच्चा होगा।"[53] भट्ट जी यहां जिस सच्ची अभिव्यक्ति की बात कर रहे हैं उसके लिए जरूरी था कि रीतिवादी दरबारी कविता से हट कर ग्राम्य गीतों की तरफ कवियों का ध्यान आकृष्ट कराया जाए, जिसका रास्ता भट्ट जी और भारतेन्दु तैयार करते हैं। यही कारण है कि इस युग में लावनी और कजरी जैसे लोक छंदों में प्रमुखता से कविताएं लिखी जाने लगीं थीं। इन कविताओं के लिखे जाने का परिणाम यह हुआ कि कविता बंधी–बंधाई बातों और ढर्रों से निकलकर नए ढंग के खयालात में दौड़ने लगी। इस तरह की कविता को भट्ट जी ने

'अनियमबद्ध कविता जो कवि के हृदयगत भावनाओ का स्वच्छ विकास पूर्ण स्वछंदतायुक्त' कहते थे, और उसकी तुलना 'झरने' से करते थे। वे ग्राम्य कविता को इसके उदाहरण के बतौर पेश करते हुए कहते हैं – "उनमें सच्ची कविता का लसरा पाया जाता है अर्थात उनमें चित्त की एक सच्ची और वास्तविक भावना की तस्वीर खींची हुई पाई जाती है और आपकी क्लासिक उत्तम श्रेणी की भाषा कविता का जहर इसमे कहीं नहीं पाया जाता जो यहां तक कृत्रिमतापूर्ण रहती है कि उसके जोड़ की निराली दुनिया केवल कवि जी के मष्तिष्क में स्थान पाए हुए है।"[54] भट्ट जी इस प्रकार की स्वच्छंद अनूठी और नई कविता को एक नवीन जीवन देने और सैकड़ों वर्ष से जमा कृत्रिमता का कूड़ा हटाने के लिए आवश्यक और उपयुक्त समझते हैं। आगे निराला, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन और गोरख पाण्डे के यहां इसी स्वच्छन्द कविता का विकास दिखाई देता है, जिसकी जमीन भारतेन्दु हरिशचंद्र और बालकृष्ण भट्ट अपने समय में तैयार कर रहे थे।

इस युग के आलोचकों ने उपन्यास विधा पर भी अपनी सैद्धांतिक विवेचन प्रस्तुत किया है। अम्बिकादत्त व्यास कृत 'गद्य काव्य मीमांसा' की सूचना मिलती है, लेकिन उसे "अपने उद्देश्य में कोई सफलता नहीं मिली।" इसके अलावा बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी प्रदीप में 'उपन्यास' शीर्षक से एक लेख लिखा। प्रेमघन जी और भट्ट जी ने उपन्यासों की और भी व्यावहारिक समीक्षाएं लिखी हैं। इन समीक्षाओं से गुजरने के बाद यह साफ तौर पर जाहिर होता है कि इस युग के आलोचकों का उपन्यास संबंधी चिंतन बेहद कमजोर था। उपन्यास की संरचना और उसकी व्याख्या के लिए जिस दृष्टि की आवश्यकता होती है उसके विश्लेषण की क्षमता इन आलोचकों के यहां नहीं दिखाई पड़ती। इनके यहां उपन्यासों की जो समीक्षाएं मिलती हैं उनमें अधिकांश ऊपरी स्तर के गुण–दोष विवेचन और कथन मात्र है। हिन्दी आलोचना में आज भी उपन्यास एक ऐसी विधा है जिसकी आलोचना की चुनौती बरकरार है। कुछ आलोचकों को छोड़ दें तो उपन्यास आलोचना, आलोचकों के लिए केवल कहानी मात्र बता देना ही है। गोया राजेन्द्र यादव, प्रदीप सक्सेना, वीरेन्द्र यादव, वैभव सिंह आदि हिन्दी उपन्यास आलोचना के कुछ महत्त्वपूर्ण नाम हैं, लेकिन उपन्यास के सैद्धांतिक आलोचना की कमी हिन्दी आलोचना को आज भी खटक रही है। बहरहाल...

द्विवेदीयुगीन आलोचना के संबंध में डॉ. विष्णुकांत शास्त्री ने लिखा है – "इस काल में रचित नाटकों, निबन्धों एवं कहानियों के बारे में ज्यादा ऊहापोह आलोचकों ने नहीं किया। अपने समय के सृजनात्मक हिन्दी साहित्य के प्रति द्विवेदीयुगीन आलोचकों के ही असंतोष ने

ही उन्हें समालोचना के लिए कालिदास, श्रीहर्ष, भवभूति, बिल्हण जैसे संस्कृत के कवियों और सूर, तुलसी, केशव, देव, बिहारी, भूषण, मतिराम, हरिश्चन्द्र आदि हिन्दी साहित्य के कवियों की ओर उन्मुख किया। सच्चाई यही है कि समसामयिक हिन्दी साहित्य पर विद्वानों ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण आदि के अंतर्गत चलता सा ही विचार किया।"[56] विष्णुकांत शास्त्री यहां द्विवेदीयुगीन आलोचना की जिस बात को रेखांकित कर रहे हैं उसका सीधा संबंध भारतेन्दुयुगीन आलोचना से जुड़ा हुआ है। भारतेन्दुयुग की आलोचना में अतीत के साहित्य और साहित्यकारों के मूल्यांकन अथवा उनसे परिचय का प्रयास महत्त्वपूर्ण है। भारतेन्दु युग में जो यह प्रवृत्ति जन्म लेती है उस पर ठहर कर विचार करने की जरूरत है। हकीकत तो यह है कि अभी तक इस प्रवृत्ति पर हिन्दी आलोचना ने गम्भीरता से कोई विचार नहीं किया। अतीत से जुड़ने का कतई यह मतलब नहीं होता है कि आप वर्तमान से आँख मूंद लें। अतीत से जुड़ने का मतलब वर्तमान के साथ परम्परा के प्रवाह से जुड़ने का है। परम्परा अपने प्रवाह में कोई जड़ वस्तु नहीं, बल्कि गतिशील होती है और गतिशीलता पलायन नहीं है। भारतेन्दु युग में अतीत से परिचय की जो यह प्रवृत्ति जन्म लेती है उसके मूल में समकालीन सृजनात्मक साहित्य से असंतोष नहीं वरन् परम्परा से जुड़ने और उसके मूल्यांकन का प्रयास है।

भारतेन्दु ने कालिदास, सूरदास और जयदेव आदि कवियों पर लेख लिखे। इन लेखों का कहीं यह मतलब नहीं था कि वर्तमान से पलायन। पश्चिम के यथार्थ में प्रकृति के प्रति संघर्ष का पहलू अधिक था लेकिन भारतीय चिंतन की दशा में प्रकृति के प्रति संघर्ष से ज्यादा साहचर्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। भारतेन्दु को यह द्वन्द्व दिखाई दे रहा था। इसीलिए कालिदास, सूरदास, जयदेव आदि कवियों पर लिख कर भारतेन्दु ने उस साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रति एक प्रतिरोध पैदा किया जो वर्तमान की लड़ाई को एक साकार रूप दे सकें। पं. बालकृष्ण भट्ट ने भवभूति, कालिदास, श्रीहर्ष, क्षेमेन्द्र, आनंदवर्धन, राजशेखर, बाणभट्ट, बिल्हण, जयदेव आदि पर लेख लिखे और कहीं कहीं उनमें तुलना भी की। प्राचीन काल के कवियों पर लिखे लेखों की सूची पर ध्यान दीजिए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु काल में जो यह प्रवृति जन्मी और द्विवेदी युग तक चली आई, वह अनायास नहीं थी। नामवर सिंह ने अपने लेख 'इतिहास का नया दृष्टिकोण' में प्राचीन साहित्यकारों के साथ इन लेखकों के जुड़ने की तरफ इशारा करते हुए लिखा है – "सांस्कृतिक पुनरुत्थान की लहर ने हमारे देश में नई चेतना ला दी। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीयता की भावना उमड़ी। विदेशियों के विरुद्ध अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की आकांक्षा हुई। वर्तमान तो उनका

दास था, इसलिए अतीत का सहारा लिया गया। स्वतंत्रता के संग्राम में इतिहास का उपयोग पहली बार करने की चेष्ठा की गई। इस प्रवृत्ति ने एक ओर अतीत में छिपे रत्नों को खोजने के लिए प्रेरित किया तो दूसरी ओर उन रत्नों को पुराने से पुराना सिद्ध करने तथा विदेशी प्रतिभाओं की तुलना में गौरवशाली दिखाने का प्रोत्साहन दिया। इस भावना ने पूर्ववर्ती इतिहासकारो के तथ्यपरक कंकाल को त्वचा से ढककर आकार प्रदान किया।"[57] सही बात है कि इस युग के लेखकों ने प्राचीन साहित्यकारों से जो परिचय कराया वह केवल तथ्यपरक ही नहीं है, बल्कि परम्परा के प्रति उनकी सचेत दृष्टि हमारे लिए उत्साहपरक और प्रेरणादायक भी है। अतीत के मूल्यांकन से इस युग के रचनाकारों ने साम्राज्यवादी शक्तियों से संघर्ष का एक रास्ता तैयार किया और मानव–मुक्ति के अंतिम लक्ष्य को निकट लाने में यथाशक्ति योग दिया।

परम्परा के इस मूल्यांकन के दौरान भारतेंदुयुगीन लेखकों ने जिस बात का अनुभव किया वह थी, पाश्चात्य साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने को खड़ा करना। उन्होंने इस संकट की घड़ी में अनुभव किया कि इन औपनिवेशिक शक्तियों के हाथों में अब हमारा अतीत और वर्तमान सुरक्षित नहीं है। प्रसिद्ध जर्मन विचारक बेंजामिन ने अपनी 'थीसिस ऑन द फिलोसोफी ऑफ हिस्ट्री' (जो करीब सन् 1938 –39 के नोट्स थे) में तानाशही प्रवृत्ति को दर्शाते हुए उस समय की क्रूरता की तरफ इशारा किया था। यह वह समय था जब हिटलर जर्मनी में प्रभुत्वशाली हो गया था। नाजी शक्तियां इतनी प्रबल हो गई थीं कि विश्वयुद्ध का संकट पैदा हो गया था। समूची जर्मन संस्कृति, सभ्यता और कला के लिए खतरा पैदा हो गया था। समूचे अतीत के साहित्कारों को इस तरह व्याख्यायित किया जा रहा था की सभी नाजी दर्शन के ही समर्थक हैं और उसी विचारधारा में फिट बैठते हों। उस समय बेंजामिन ने कहा था – "अब दुश्मनों के हाथों, जो मृत लोग हैं, वे भी सुरक्षित नहीं हैं और इसलिए हमें केवल जीवित लोगों के लिए ही नहीं लड़ना है, बल्कि उनके लिए भी लड़ना है जो मर चुके हैं, इतिहास के अंग हो चुके हैं। उनकी रक्षा का दायित्व भी हमारे ऊपर आ पड़ा है।"[58] भारतेन्दुकालीन लेखक भी अपने प्राचीन साहित्यकारों के मूल्यांकन के माध्यम से अपने वर्तमान अस्तित्व की खोज कर रहे थे। एक तरफ जब अंग्रेजी विद्वानों द्वारा यह सिद्ध किया जा रहा था कि जो भी भारतीय अतीत का श्रेष्ठ है वह ईसाईयत मत जैसा ही है। उदाहरण स्वरूप ग्रियर्सन का भक्ति काल संबंधित यह टिप्पणी देखें – "यहाँ (भक्तिकाल में) हम पहली बार विचारों की उस महान उदारता का स्पर्श करते हैं, जिसका मूल सिद्धान्त रामानंद ने प्रतिपादित किया था और जो उनके सभी अनुयायियों के सिद्धान्तों में प्रतीतमान हो रही है,

तथा जो दो शक्तियों के अनन्तर तुलसीदास के उच्च उपदेशों में अपनी वास्तविक उच्चता को प्राप्त हुई। ईश्वर रूप में अवध में राजकुमार की पूजा, सतीत्व की पूर्ण प्रतिमा सीता की प्रेममयी पति भक्ति और मातृत्व की मूर्ति कौशल्या स्वाभाविक ढंग से क्रिश्चियन चर्च की उपासना पद्धति के सर्वोतम रूप में विकसित हो गए हैं।"[59]

भारतेन्दुकालीन लेखकों के लिए यह अधिक जरूरी था कि वे अपने अतीत को इस प्रभावहीन और अतार्किक व्याख्या से बचाएँ। अतीत की हमारी जो मूल्यवान निधि थी उसको अपनी परम्परा से जोड़ना भारतेन्दुयुगीन लेखकों का कर्त्तव्य था। जो लोग अंग्रेजों के भारतीय साहित्य के अनुपम निधियों की खोज के कायल हैं उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि संत साहित्य और भक्ति साहित्य आदि पुरानी चीजें लुप्त हो जाती तो हमारे अतीत का नुकसान होता, लेकिन अंग्रेज विद्वानों के द्वारा जो खोज आ रहा था, वह दूषित और विकृत व्याख्याओं के माध्यम से आ रहा था। हमारे अतीत को इस ढंग से उपस्थित किया जा रहा था, जो भारतीयों के लिए गौरव की बात नहीं थी। हमारे हर प्राचीन को दिखाया जा रहा था कि वह भारत का अपना मौलिक चिंतन नहीं है। हर चिंतन, हर उपलब्धि के मूल में यह बात साबित की जा रही थी कि भारत में जो भी श्रेष्ठ है वह रोम, ग्रीक सभ्यता का अंश है या जो महान है उसपर ईसाई धर्म का प्रभाव है। भारत में जो कुछ भी परम्परा के नाम पर बेहतर है वह भारतीयों का अपना नहीं पराया है। हाँ जो निकृष्ट है, अधम है, अग्राह्य है वे भारतीयों का अपना है, जैसे – अन्धविश्वास, भूतों–चुडैलों की बातें। इन सभी चीजों के लिए अंग्रेज विद्वान अथर्ववेद से उदाहरण भी दिया करते थे। इसीलिए अंगेजों ने भारत को 'जादू–टोना और अंधविश्वासों का देश' भी कहा। भारतेन्दुकालीन लेखक इस बात को गहरे स्तर पर अनुभव कर रहे थे। भवभूति, कालिदास, श्रीहर्ष, राजशेखर, आनंदवर्धन आदि लेखकों के साथ–साथ भक्तिकालीन कवियों का मूल्यांकन कर इन लेखकों ने जहाँ एक तरफ उस साम्राज्यवादी चिंतन को चुनौती दी वही दूसरी तरफ अपनी परम्परा से जुड़कर भारतीय साहित्य और चिंतन के दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान भी दिया।

भारतेन्दुकालीन आलोचकों और लेखकों ने अतीत के कवियों का मूल्यांकन स्वाधीनता संग्राम के लिए, अपनी परम्परा को जीवित रखने के लिए किया। यही नहीं बल्कि इन मूल्यों में बाधा डालने वाली जो भी देश की पुरानी सामंती मूल्य प्रणाली थी, उसके विरोध में भी अपने विचारों को व्यक्त किया और पश्चिम की जो पतनशील प्रवृतियाँ थी उन प्रवृतियों के विरुद्ध रचनात्मक संघर्ष का एक रास्ता तैयार किया।

भारतेन्दुयुग आधुनिक साहित्य के विभिन्न विधाओं के साथ–साथ आलोचना का भी प्रवर्तनकाल है। गद्य का विकास, पत्रिकाओं तथा समाचार पत्रों का प्रसार, मुद्रण यंतों का आविष्कार और नयी जीवन पद्धति से संवाद ने इस युग की आलोचना को एक सार्थक आधार प्रदान किया। इस युग में बुकरिव्यू की सामान्य आलोचना प्रणाली से लेकर सैद्धान्तिक आलोचना तथा व्यावहारिक आलोचना की एक सार्थक शुरुआत दिखाई पड़ती है। इस युग के आलोचकों ने आलोचना की कोई सुसंगत किताब तो नहीं लिखी, लेकिन हिन्दी आलोचना को प्रारंभिक संवाद से एक दिशा दी। आगे चलकर द्विवेदीयुग में आलोचना के संवर्धन का यही आधार बनता है।

संदर्भ–सूची

1 विशेष अध्धयन के लिए देखें– भामह, राजशेखर, मम्मट, उद्भट आदि काव्यशास्त्रियों के ग्रन्थ

2 अभिषेक रौशन – बालकृष्ण भट्ट और आधुनिक हिन्दी आलोचना का आरभ्भ, पृ. 13

3 विश्वनाथ त्रिपाठी – हिन्दी आलोचना,पृ. 15

4 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 181

5 नेमिचंद्र जैन (संपा.) मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5 पृ. 135

6 निर्मला जैन – हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी, पृ. 9

7 बालकृष्ण भट्ट – हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1881, पृ. 15

8 निर्मला जैन – हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी, पृ.10

9 शेखर बंद्योपाध्याय – पलासी से विभाजन तक, पृ. 67, 68 (विशेष अध्ययन के लिए देखें– इश्र्चिक 1994; 6–13, 191–204 और आगे)

10 वही, पृ. 67

11 विशेष अध्ययन के लिए देखें – Majeed javed, 1992, Ungoverned imaginings: james mill's the history of britishindia and orientalism, oxford : clarendon press

12 शेखर बंद्योपाध्याय – पलासी से विभाजन तक, पृ. 68

13 वही, पृ. 69

14 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – फोर्टविलियम कॉलेज, पृ. 1–2

15 वही, पृ. 32

16 शेखर बंद्योपाध्याय – पलासी से विभाजन तक, पृ. 71

17 वही, पृ. 140

18 वही, पृ. 141

19 वही, पृ. 141

20 (विशेष अध्ययन के लिए देखें – घोष, 1994, Colonial state and Coloniat Working Conditions)

21 इस आयोग के सवालों पर भारतेन्दु ने जो जवाब दिया है उसको समग्रता में समझने के लिए देखें – भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली, भाग–6, पृ. 376 से 421 तक (सम्पादक ओमप्रकाश सिंह)

22 वीरभारत तलवार – रस्साकशी, पृ–21, 22

23 वही, पृ. 23

24 Daniel Gold - Organize hinduism: For vedic truth to hindu nation, in martin and r. scott apply eds. Accounting for Fundamentalism: th dynamic character of movement (Chivago: university of Chicago press,1994), p. 534

25 ओमप्रकाश सिंह (संपा.) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली, भाग–6, पृ. 376

26 वही, पृ. 384

27 वही, पृ. 378

28 https://www.scribd.com/doc/282924131/Asbab-e-Baghawat-e-Hind-pdf

29 वीरभारत तलवार – रस्साकशी, पृ. 29

30 वही, पृ. 340

31 https://www.scribd.com/doc/282924131/Asbab-e-Baghawat-e-Hind-pdf

32 वीरभारत तलवार – रस्साकशी, पृ. 33

33 वही, पृ. 34

34 https://www.scribd.com/doc/282924131/Asbab-e-Baghawat-e-Hind-pdf

35 वीरभारत तलवार – रस्साकशी, पृ. 38
36 नामवर सिंह – आलोचना और विचारधारा, पृ. 143
37 पं. बालकृष्ण भट्ट, साहित्य सुमन गंगा गरंथाकर, लखनऊ, पृ. 12
38 नन्दकिशोर नवल – हिन्दी आलोचना का विकास, पृ. 16
39 विश्वनाथ त्रिपाठी – हिन्दी आलोचना, पृ. 14,15
40 नामवर सिंह – आलोचना और विचारधारा, पृ. 141
41 अभिषेक रौशन – बालकृष्ण भट्ट और आधुनिक हिन्दी आलोचना, पृ. 56
42 विश्वनाथ त्रिपाठी – हिन्दी आलोचना, पृ. 19
43 संपा. कृष्णदत्त पालीवाल – भारतेन्दु हरिश्चंद्र के श्रेष्ठ निबन्ध, पृ. 160
44 गोपाल प्रधान – हिन्दी नवरत्न : हिन्दी आलोचना की पहली किताब, पृ. 44
45 बालकृष्ण भट्ट – हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1881, पृ. 15 और आगे
46 शांतिप्रकाश वर्मा – प्रतापनारायण मिश्र का हिन्दी गद्य को देन, पृ. 134
47 अभिषेक रौशन – बालकृष्ण भट्ट और आधुनिक हिन्दी आलोचना का आरंभ, पृ. 49
48 हिन्दी प्रदीप – जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रैल 1896, पृ. 1
49 संपा. नेमिचंद्र जैन – मुक्तिबोध रचनावली, भाग 5, पृ. 21
50 मैनेजर पाण्डेय – साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृ. 74
51 विशेष अध्ययन के लिए देखें – बालकृष्ण भट्ट का निबंध – सच्ची समालोचना
52 संपा. कृष्णदत्त पालीवाल – भारतेन्दु के श्रेष्ठ निबंध, पृं. 42 और आगे
53 अभिषेक रौशन – बालकृष्ण भट्ट और आधुनिक हिन्दी समालोचना का आरम्भ, पृ. 65 से उद्धृत
54 गोपाल प्रधान – हिन्दी नवरत्नः आलोचना की पहली किताब, पृं. 46
55 विशेष अध्ययन के लिए देखें – हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, भाग–8, पृं. 256
56 देखें – विष्णुकांत शास्त्री – हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, भाग–9, पृं. 18–21
57 नामवर सिंह – इतिहास और आलोचना, पृ.135
58 नामवर सिंह – आलोचना और विचारधारा, पृ. 45
59 अनु.– किशोरीलाल गुप्त, डॉ. सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन – हिंदुस्तान का आधुनिक भाषा साहित्य (द जर्नल आफ द एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, 1.1888 ई० के विशेषांक रूप में प्रकाशित), पृ. 50

द्वितीय अध्याय

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी युगीन साहित्यिक परिदृश्य

2.1 1857 की जंग–ए–आजादी : नवजागरण और खड़ी बोली का साहित्य

2.2 तत्कालीन परिदृश्य और साहित्य

2.3 हिन्दी आलोचना का सम्वर्धन काल : द्विवेदीयुग

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी युगीन साहित्यिक परिदृश्य

रामविलास शर्मा ने लिखा है – "हिन्दी नवजागरण का तीसरा चरण महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का कार्यकाल है। सन् 1900 में 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हुआ और 1920 में द्विवेदी जी उससे अलग हुए। इन दोनों दशकों की अवधि को द्विवेदी युग कहा जा सकता है। इस युग की सही पहचान तभी हो सकती है जब एक तरफ गदर और भारतेन्दु युग से उसका सम्बन्ध पहचाने, और दूसरी तरफ छायावादी युग, विशेष रूप से निराला के साहित्य से उसके सम्बन्ध पर ध्यान दें।"[1] रामविलास शर्मा को इस बात पर गौर करें तो सबसे पहले 1857 का विद्रोह और भारतेन्दु युगीन साहित्य पर विचार करना लाज़मी हो जाता है क्योंकि इसे हिन्दी प्रदेश का नवजागरण काल भी माना जाता है।

2.1 1857 की जंग–ए–आजादी : नवजागरण और खड़ी बोली का साहित्य

हिन्दी प्रदेश का नवजागरण मुख्यतः तीन तरह के अन्तर्विरोधों के साथ खड़ा है। पहला–1857 में हिन्दी प्रदेश में नवजागरण शुरू हुआ जिसका सम्बन्ध स्वाधीनता आन्दोलन से है। दूसरा – हिन्दी प्रदेश का नवजागरण 1857 को मानना उचित नहीं है, क्योंकि नवजागरण लगातार होने वाली प्रक्रिया नहीं है। 1857 से पहले भी देश में नवजागरण हो चुका था। तीसरा – हिन्दी प्रदेश का नवजागरण एक साम्प्रदायिक (हिन्दू, मुस्लिम) नवजागरण है। कुछ विद्वानों के लिए ये अन्तर्विरोध एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और कुछ के लिए एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। अब सवाल यह है कि हिन्दी नवजागरण का वास्तविक स्वरूप क्या था? यह सही बात है कि 1857 का विद्रोह भारत के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण विभाजक रेखा है। सबसे पहली बात यह है कि इस विद्रोह के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन समाप्त हुआ। कम्पनी शासन की जगह, महारानी विक्टोरिया को ब्रिटिश भारत की महारानी घोषित किया गया। "भारत में शांति के पूरी तरह पुनःस्थापित होने से पहले ही ब्रिटिश संसद ने 2 अगस्त, 1857 को भारत में बेहतर शासन के लिए एक कानून पारित किया, महारानी विक्टोरिया को ब्रिटिश भारत की महारानी घोषित किया और एक भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) की नियुक्ति का प्रावधान किया जो ब्रिटिश मंत्रिमंडल का सदस्य होगा। यह कानून 1 नवम्बर से लागू होना था और उसी दिन महारानी ने एक घोषणा जारी की

जिससे धार्मिक सहिष्णुता का वादा और भारत पर उसके स्थापित रीति–रिवाजों के अनुसार शासन का प्रस्ताव किया।"[2] इस घोषणा से न भारतीय जनमानस का दुःख खत्म हुआ, न आम जनता के पक्ष में हितकारी बदलाव आया। हकीकत तो यह है कि परिवर्तन से अवधारणात्मक रूप से अंग्रेजों ने इस देश पर जिस शासन का आरम्भ बाहरी रूप में किया था, अपनी महारानी को भारत की प्रभुसत्ता देकर 'अन्दरूनी' बन बैठे। यही नहीं महारानी विक्टोरिया को भारतीय प्रभुसत्ता देकर अंग्रेजी शासन ने दो काम किया। पहला, महारानी और उसके प्रतिनिधियों तथा भारतीय राजाओं के बीच सम्बन्धों की एक व्यवस्था बनाई और इन सबके बीच एक लम्बा चौड़ा साम्प्रदायिक सोपान क्रम स्थापित हुआ। दूसरा, अंग्रेजों ने 1857 के विद्रोही सिपाहियों पर गंभीर विश्वासघात का आरोप लगाया और आम तौर पर सभी भारतीयों को अंग्रेजों की नज़र में संदिग्ध बना दिया।

1857 पर ठीक से विचार कर लेने के बाद ही 'हिन्दी नवजागरण' की वास्तविक पृष्ठभूमि को समझा जा सकता है। 1857 के विद्रोह को कुछ लोगों ने केवल हिन्दी प्रदेश का विद्रोह मान लिया है। दरअसल 1857 का विद्रोह केवल हिन्दी प्रदेश का विद्रोह नहीं है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस समय 1857 का विद्रोह हिन्दी प्रदेश में चल रहा था, उसी समय दक्षिण में रानी चेल्लम्मा विद्रोह कर रही थीं। एक नौजवान राजा को उसी समय दक्षिण में फाँसी दी गई। यही नहीं अन्य प्रदेशों की बोलियों में भी 1857 को लेकर रचनाएं हो रही थीं, लेकिन साहित्य, इतिहास, स्कूली पाठ्यपुस्तकों को देखें तो ऐसा लगता है जैसे 1857 महज दिल्ली से लेकर पश्चिमी बिहार तक का ही विद्रोह था। हाँ, इसका फैलाव जरूर हिन्दी प्रदेश में था, और इसके बुनियादी कारण भी थे। 1857 के विद्रोह में भाग लेने वाले सैनिकों में अधिकतर सैनिक मुख्य रूप से आज के उत्तर प्रदेश, हरियाणा और पश्चिमी बिहार से थे। इन सैनिकों के विद्रोह से हिन्दी प्रदेश की जनता का जुड़ाव इसलिए अधिक था क्योंकि ये ज्यादातर हिन्दी प्रदेश के छोटे किसान परिवार से थे। इरफान हबीब ने लिखा है – "बंगाल की सेना गवर्नर जनरल की बंगाल प्रेसिडेन्सी की अपनी सेना थी। इसका विस्तार सिंध को छोड़कर सारे उत्तर भारत में था। लेकिन जिस क्षेत्र में सैनिकों की भर्ती होती थी, वह हिमालय के इलाकों को छोड़कर मोटे तौर पर आज का उत्तर प्रदेश था, इसके साथ ही इसमें हरियाणा और पश्चिमी बिहार शामिल था। इसकी आंशिक वजह यह थी कि अंग्रेजों को यह बात सुविधाजनक लगी कि इस क्षेत्र के लोग एक सामान्य ज़बान 'हिन्दुस्तानी' का प्रयोग करते थे। भर्ती होने वाले सिपाहियों में ज्यादातर छोटे किसान परिवार के लोग होते थे।"[3] यही कारण था कि 1857 के विद्रोह की आग सबसे तेज इसी प्रदेश में थी। अगर कहा जाए

कि सैनिक विद्रोह 1857 के महाविद्रोह का मुख्य आधार था तो उतना ही निश्चयपूर्वक यह मानना पड़ेगा कि इसका रूप इतना बड़ा न हो पाता अगर इसको आम भारतीय जनता की सहानुभूति न मिलती। इस आम जनता की सहानुभूति को अगर देखना है तो 1857 पर लिखे गए लोकगीतों की तरफ जरूर देखें। ये लोकगीत न किसी राष्ट्रीय कवि के द्वारा लिखे गए हैं और न ही अंग्रेजों व नवाबों के द्वारा। ये गीत आम जनता की पीड़ा और अंग्रेजी शासन के दमन से उपजे हैं। इसलिए 1857 पर बात करते हुए सभी भारतीय भाषाओं में 1857 पर रचे लोकगीतों को जरूर देखना चाहिए।

रामविलास शर्मा ने अपने एक लेख – 'सन् सत्तावन के स्वाधीनता संग्राम में सिपाहियों की भूमिका' में लिखा है – "पलासी के युद्ध के सौ साल बाद अठ्ठारह सौ सत्तावन की लड़ाई शुरू हुई और दो साल तक चली अंग्रेजों को भारत से निकालने के इस संग्राम में बादशाह, नवाबों, सामन्तों जमींदारों, किसानों बुद्धिजीवियों–जनता के प्रायः सभी वर्गों के लोगों ने भाग लिया। लेकिन सबसे ज्यादा लड़े किसान। मद्रास, बम्बई और बंगाल प्रेसिडेन्सियों की ब्रिटिश फौजों के सिपाहियों ने विद्रोह किया, लेकिन बंगाल प्रेसिडेन्सी की फौज ने ही मुख्य रूप से लड़ाई में हिस्सा लिया। मद्रास और बम्बई की फौज अंग्रेजों के साथ रही। लड़ाई पठानों के इलाकों से लेकर कर्नाटक तक, महाराष्ट्र से लेकर बंगाल तक हुई, लेकिन निर्णायक संघर्ष जमकर हिन्दी प्रदेश में हुआ।"[4] यहां रामविलास शर्मा एक तरफ तो यह स्वीकार कर रहे हैं कि यह लड़ाई कर्नाटक से लेकर महाराष्ट्र तक हुई लेकिन दूसरी तरफ उसको समेटकर हिन्दी प्रदेश तक सीमित कर दे रहे हैं। हिन्दी प्रदेश के उन वास्तविक कारणों पर विचार किए बिना वे इस लड़ाई को एक राजनैतिक परिदृश्य में ले जाते हैं। जबकि अच्छा होता रामविलास शर्मा इस लड़ाई के वास्तविक कारण पर विचार करते। दरअसल जिस क्षेत्र से अधिकांश सैनिकों की भर्ती का निर्णय ब्रिटिश अधिकारियों ने लिया था, यह वही क्षेत्र (हिन्दी प्रदेश) था जहाँ ब्रिटेन के करों का बोझ सबसे अधिक था। इसे इतिहास की वास्तविक विडम्बना ही कहना चाहिए। मद्रास प्रेसिडेन्सी में रैयतबाड़ी व्यवस्था थी जिसमें कर की दर निश्चित थी। बिहार और बंगाल में स्थाई बन्दोवस्त था। बम्बई प्रेसिडेन्सी में रैयतबाड़ी व्यवस्था काफी लचीली बनाई गई थी। वहीं उत्तर प्रदेश महलबाड़ी व्यवस्था वाला ऐसा प्रदेश था जहां अधिक से अधिक कर बढ़ाने की इच्छा को बेलगाम छोड़ दिया गया था। इरफान हबीब ने लिखा है – "उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में राजस्व में वास्तविक बढ़ोत्तरी (यानी मूल्यों के साथ समायोजित करने पर) लगभग 70 प्रतिशत थी और 1844 आगरा सूबे में (अवध को छोड़कर वर्तमान उत्तर प्रदेश के मैदानी इलाकों में) राजस्व

5.60 करोड़ पहुँच गया था। इस व्यवस्था में राजस्व वसूली का दायित्व सामूहिक था। इस पर बार–बार जोर देने के कारण जमींदारों और किसानों, दोनों के हाथों से जमीन खिसकने लगी। अलीगढ़ जिले में 1839 से 1858 के बीच 50 प्रतिशत जमीन का हस्तांतरण हुआ। इसी दौर में व्यापारियों और सूदखोरों ने अपनी जमीन बढ़ा ली। पहले उनका हिस्सा 3.4 प्रतिशत था जो बढ़कर 12.3 प्रतिशत हो गया। 1841 और 1861 के बीच मुजफ्फर नगर जिले में एक चौथाई जमीन का हस्तांतरण हुआ और गैर कृषक वर्ग का हिस्सा 11 प्रतिशत से बढ़कर 19.5 प्रतिशत हो गया।"[5] ये आंकड़े इस बात के गवाह हैं कि इन वर्षों में कृषक वर्ग की परेशानियां कितनी अधिक हो गई थीं और बंगाल प्रेसिडेन्सी के अधिकांश सैनिक इसी कृषक वर्ग से आते थे। स्वाभाविक है कि इस लड़ाई में उन सैनिकों के साथ वहाँ के किसान भी लड़े। यह लड़ाई विशुद्ध रूप से आर्थिक समस्या के कारण उपजी थी जो आगे चलकर राजनैतिक रूप में बदल गई।

1857 को लेकर कुछ लोगों का मामना है कि 1857 की लड़ाई न स्वाधीनता संग्राम थी न जन–विद्रोह, बल्कि वह पुराने पड़ गए 'सामंती आर्डर' को पुनःस्थापित करने का प्रयत्न था। यह बात बहुत रोचक है कि हिन्दुत्ववादी और कुछ प्रगतिशील लोग भी एक ही तरफ से उलटकर इस विवेचना को स्वीकार करते हैं। एक तरफ हिन्दुत्ववादी प्रफुल्ल गोरोड़िया का मानना है कि 'ये दुष्ट मुस्लिम सामन्तों का षडयंत्र था जिसमें भोले–भाले हिन्दुओं को फंसा दिया गया और हिन्दुओं ने बेवकूफी यह की कि बजाए अंग्रेजों से गठज़ोर करने के मुसलमानों से गठजोड़ किया और इस तरह अपने को बर्बाद किया और अन्ततः भारत के विभाजन की बीज बोये।" 'वही दूसरी तरफ 1857 पर वीरेन्द्र यादव ने लिखा है – "जब ब्रिटिश शासन ने भारत की पुरातन सामंती संरचना व प्रथा में हस्तक्षेप किया तो 1857 की वह उथल–पुथल हुई जिससे ब्रिटिश शासन खतरे में पड़ गया।"[7] वीरेन्द्र यादव के आलेख '1857 का मिथक और विरासत : एक पुनर्पाठ' का मूल सार यही है कि अंग्रेजों ने दलितों व ब्राह्मणों के लिए एक सी ही व्यवस्था रखी थी। इसीलिए ब्राह्मणों ने अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह कर दिया, या कहें कि सामंतों को यह बात अच्छी नहीं लगी इसीलिए 1857 का विद्रोह फूटा। यही नहीं कुछ चिन्तकों का यह भी मानना है कि 1857 में दलितों की कोई हिस्सेदारी नहीं थी। यानी 1857 सामंती शक्तियों का विद्रोह था इसमें निम्न वर्ग के लोगों के लिए कुछ नहीं था। दरअसल इस निष्कर्ष पर जो लोग पहुंचे हैं उनका 95 प्रतिशत स्रोत अंग्रेजों द्वारा दिए गए विवरणों पर आधारित है। जब आप अंग्रेजों द्वारा दिए गए स्रोतों पर 1857 को 'रीकन्स्ट्रक' करेंगे तो यह निष्कर्ष निकाल ही सकते हैं कि 1857 का विद्रोह 'सामंती आर्डर'

को पुनर्स्थापित करने का प्रयत्न था। जबकि 1857 का विद्रोह ठीक इसके उलट है। 1857 के विद्रोह पर हमेशा देशज दस्तावेज और आर्थिक दृष्टि से विचार किया जाएगा तभी हम सार्थक निष्कर्ष पर पहुँचेंगे।

1857 को लेकर कुछ लोगों द्वारा मिथक भी रचे गए। इन मिथकों को लोगों ने इस कदर आत्मसात कर लिया है कि सत्य उनसे दूर ही खड़ा रहा। अपने आलेख '1857 : पुनर्व्याख्या की जरूरत' में इन्हीं प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए पुरुषोत्तम अग्रवाल ने एक सार्थक प्रश्न उठाया है। उन्होंने सैय्यद अहमद खां के एक प्रसिद्ध पैम्पलेट का हवाला देते हुए लिखा है – "सर सैय्यद अहमद खां का जो पैम्पलेट था वह बहुत प्रसिद्ध है जिसमें उन्होंने अंग्रेजों को बताया था कि – अगर आप हिन्दू और मुसलमान दोनों को साझी पलटन में रख देगें तो एकता कायम होगी और एकता कायम होगी तो आपको खतरा होगा। ये तो बेवकूफी आपकी थी कि हिन्दू–मुसलमान एक ही पलटन में रख दिये। ये मिथक रचे गए और इन मिथकों को हमने जस का तस आत्मसात कर लिया कि विद्रोह इसलिए हुआ कि हिन्दू–मुसलमान सिपाही बहुत प्रतिक्रियावादी थे। धार्मिक रूप से अंधविश्वासी थे। लड़ने के लिए समुद्र पार जाने में उनका धर्म भ्रष्ट हो जाता। सुअर की चर्बी से उनका इस्लाम खतरे में पड़ जाता। क्या सचमुच 1857 की घटनाएं केवल इस तरह के भावुक कारणों का नतीजा बचा था।"[8] जब हम पुरुषोत्तम अग्रवाल के इस सार्थक सवाल से टकराते हैं तो कुछ और सत्य नज़र आता है जो इन मिथकों से अलग और सत्य के करीब खड़ा है। 1857 के बीत जाने के बाद 1880 में अंग्रेजी सरकार द्वारा एक रपट प्रस्तुत की गयी जो 1880 में गठित 'अकाल आयोग' के अधिकारियों द्वारा लिखी गयी थी। यह ध्यान रहे कि यह रपट न ब्राह्मणवादियों द्वारा और न सामंती मुसलमानों द्वारा, यह रपट आधुनिक माने जाने वाले अंग्रेजों के द्वारा प्रस्तुत की गई। इस रिपोर्ट पर एक नज़र डालें :

"साइमन कमीशन (अकाल आयोग) की रिपोर्ट के अनुसार 1770 में बंगाल में अकाल पड़ा, जिसमें 10 लाख लोग मारे गए। 1783 में मद्रास का अकाल पड़ा, 1784 में अवध में अकाल पड़ा, मद्रास में 1823 और 1833 में अकाल पड़े। और पूरे उत्तर भारत में 1837 में अकाल पड़ा जिसमें 10 लाख लोग मारे गए। ठीक उसके बीस साल बाद सैनिक विद्रोह हुआ जो कुछ लोगों की मान्यता के अनुसार गाय और सूअर की चर्बी के कारण हुआ तो कुछ लोगों के लिए 'सामंती आर्डर' को पुनर्स्थापित करने के लिए।"[9] जब इस रिपोर्ट को नहीं देखेंगे तो जो निष्कर्ष निकलेगा वह हास्यास्पद होगा। क्या इस अकाल में सिर्फ सामंती और ब्राह्मण लोग ही मरे थे। दलित और वह गरीब नहीं मरे होंगे? जाहिर है कि इसमें गरीब और दलित

लोग भी मरे होंगे और ज्यादा संख्या में मरे होंगे, लेकिन अपनी सुविधा के अनुसार इसे लोग भूल जाते हैं। चर्बी को लेकर 1857 के विद्रोह का कारण मानने वाले यह भूल जाते हैं कि जब विद्रोह शुरू हुआ तो उन्हीं एमफील्ड रायफलों का हिन्दू और मुसलमान दोनों ने भरपूर इस्तेमाल किया जिसकी कारतूस गाय और सूअर की चर्बी से बनी थी। अंग्रेजों की नीतियों और लगान से भारतीय जनता त्रस्त होने लगी थी। नवाब और राजा तो त्रस्त थे ही। इसीलिए एक बार जब यह विद्रोह फूटा तो उसमें सभी लोगों ने भाग लिया। दरअसल 1857 हिन्दी प्रदेश का वह सैनिक विद्रोह है जिसके मूल कारण में न जाति है, न सम्प्रदाय है और न ही सामंती आर्डर को पुनर्स्थापित करने का प्रयास, बल्कि इस विद्रोह का मुख्य आधार आर्थिक है जो अंग्रेजों की गलत नीतियों और शोषण के कारण उपजा। अतः इन्हीं आर्थिक कारणों को ध्यान में रखकर 1857 पर विचार करना तर्क संगत है। जहाँ तक इसके राजनैतिक चेतना का सवाल है इस विद्रोह के बाद भारतीय और अंग्रेजों द्वारा 1857 को अलग–अलग रंग देने की भरपूर कोशिश की गई। इसी कोशिश के तहत इस आन्दोलन की व्याख्या जहाँ एक तरफ धार्मिक रूप में सम्प्रदायवाद के तरफ बढ़ी तो दूसरी तरफ औपनिवेशिक शक्तियों के विरुद्ध। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि 1857 के विद्रोह का हिन्दी नवजागरण से क्या सम्बन्ध है? और हिन्दी नवजागरण की रूपरेखा क्या रही है?

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है – "पुनर्जागरण (नवजागरण) एक ऐसी सांस्कृतिक प्रक्रिया है जो बहुत से देशों के इतिहास में घटित होती रही है, इसके कालखण्ड और निमित्त अलग–अलग रहे हैं। संक्षेप में पुनर्जागरण दो जातीय संस्कृतियों की टकराहट से उत्पन्न रचनात्मक ऊर्जा है। इस टकराहट के विशिष्ट उदाहरण के रूप में योरोपीय पुनर्जागरण का उल्लेख होता है, जिसकी तिथि एक दुर्घटना के संयोग से जुड़ी हुई है। 1453 ई. में कैन्स्टैंटिनोपल नगर के पतन के बाद वहां एकत्र ईसाई चिन्तकों और कलाकारों ने भागकर इटली तथा आसपास के क्षेत्रों में शरण ली। इस नए सम्पर्क के फलस्वरूप ज्ञान–विज्ञान तथा कलाओं का योरोप में अनेकमुखी प्रसार हुआ। अमरीका में सांस्कृतिक टकराहट का परिणाम 19वीं शती में देखने को मिलता है जहां सारे योरप में अध्यवसायी आजीविका के लिए एकत्र हुए। फिर बाद में हिटलर के भय से बड़े–बड़े यहूदी वैज्ञानिक और कलाकारों ने इसी नये देश में आश्रय लिया। भारत के सन्दर्भ में पुनर्जागरण 10वीं शती से आरम्भ माना जाता है, नयी योरोपीय वैज्ञानिक संस्कृति और पुरानी भारतीय धार्मिक संस्कृति की टकराहट के फलस्वरूप।"[10] यहां रामस्वरूप चतुर्वेदी ने पुनर्जागरण को लेकर दो बातें कही हैं। पहली 'रचनात्मक ऊर्जा' जो दो संस्कृतियों के टकराहट से उत्पन्न हुई और दूसरी बात 19वीं शती

का भारतीय पुनर्जागरण नयी योरोपीय वैज्ञानिक संस्कृति और पुरानी भारतीय धार्मिक संस्कृति के टकराहट से उत्पन्न हुआ। सवाल यह है कि वह कौन–सी योरोपीय वैज्ञानिक पद्धति थी जिसको लेकर अंग्रेज भारत आए थे। इस प्रश्न पर रामस्वरूप चतुर्वेदी जी का कोई विश्लेषण नहीं है। एक बात तो साफ हो जानी चाहिए कि अंग्रेज यहां कोई पुनर्जागरण फैलाने नहीं, बल्कि अपना व्यापार करने आए थे। रामस्वरूप चतुर्वेदी जिसको वैज्ञानिक पद्धति मानते हैं उसका सच इस प्रकार है। उन्होंने लिखा है – "पुनर्जागरण का एक चिह्न यदि दो जातीय संस्कृतियों की टकराहट है तो दूसरा चिह्न यह भी कहा जाएगा कि वह मनुष्य के सम्पूर्ण तथा संश्लिष्ट रूप की खोज और उसका परिष्कार करना चाहता है।"[11] यानी चतुर्वेदी जी के लिए पुनर्जागरण का मूल 'मनुष्य के सम्पूर्ण रूप की खोज है, तथा उसके नायक राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक और अरबिन्द जैसे सुधारक हैं। राजा राममोहन राय से लेकर तिलक तक कैसे और कौन–कौन योरोपीय वैज्ञानिक पद्धति से अपने विचारों को प्रस्तुत कर रहे थे इसका भी कोई विश्लेषण चतुर्वेदी जी के यहां नहीं है। हाँ एक जगह उन्होंने राजा राममोहन राय के बारे में लिखा है – "राजा राममोहन राय ने अपना चिंतन उपनिषदों से ग्रहण किया, पर हिन्दू आराधना शैली की परम्परागत एकांतिक पद्धति को छोड़कर उन्होंने योरोपीय चर्च का संगठन स्वीकार किया, जिसमें सामूहिक पद्धति प्रचलित थी।"[12] अच्छा होता अगर चतुर्वेदी जी चर्च की उन दमनात्मक प्रवृत्ति को उद्घाटित करते जिनसे कई लाख स्त्रियां और आमजन प्रताड़ित थे। दरअसल अंग्रेजों ने अपने धर्म को महान बताया और उसका सामूहिक रूप प्रस्तुत किया। यह कहीं से वैज्ञानिक पद्धति नहीं थी। हाँ भारतीय धार्मिक पद्धति अंधविश्वासों और पाखण्डों से भरी हुई है, लेकिन इसे चर्च के साथ जोड़कर कोई वैज्ञानिक दृष्टि नहीं बनाई जा सकती है। दरअसल नवजागरण को लेकर एक भ्रामक अवधारणा बनी बनाई परिपाटी से चली आ रही है जिसका प्रमाण नवजागरण सम्बन्धी रामस्वरूप चतुर्वेदी का चिन्तन है।

राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्यधारा' (1945) में सबसे पहले आधुनिक युग को 'नवजागरण युग' कहा। हिन्दी काव्यधारा की भूमिका में राहुल सांकृत्यायन ने एक नया काल विभाजन किया। पहला – सिद्ध सामंत युग, दूसरा – सूफी युग, तीसरा – भक्त युग, चौथा – दरबारी युग और पाँचवां – 'नवजागरण युग'। लेकिन हिन्दी में 'हिन्दी नवजागरण की अवधारणा, उसकी सैद्धांतिकी, उसकी ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया को विस्तृत विवेचना के साथ रामविलास शर्मा ने प्रस्तुत किया। इन्होंने इस हिन्दी नवजागरण का एक तार 1857 से जोड़ा तो दूसरा छायावाद और निराला के साहित्य से। उन्होंने लिखा है – "जो

नवजागरण 1857 के स्वाधीनता संग्राम से आरम्भ हुआ, वह भारतेन्दु युग में और व्यापक बना, उसकी साम्राज्य–विरोधी, सामंत–विरोधी प्रवृत्तियां द्विवेदी युग में पुष्ट हुई। फिर निराला के साहित्य में कलात्मक स्तर पर तथा उनकी विचारधारा में प्रवृत्तियाँ क्रान्तिकारी रूप में व्यक्त हुई।"[13] यह बात उन्होंने अपनी पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' में पहली बार व्यक्त की और धीरे–धीरे आगे की पुस्तकों में इस 'नवजागरण' को लेकर अपनी चिन्तन प्रक्रिया को बढ़ाते रहे। चिन्तन की दिशा में रामविलास जी जैसे–जैसे आगे बढ़ते जाते हैं उनकी नवजागरण सम्बन्धी विवेचना बड़ा आकार लेने लगती है। हद तो तब हो जाती है जब रामविलास जी नवजागरण को 'ऋग्वेद' तक में देखने लगते हैं। 1857 के स्वाधीनता से उनका नवजागरण बढ़ता है तो अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और नवजागरण की समस्याएँ' में यह स्थापना देते हैं – "भारतेन्दु युग उत्तर भारत में जन–जागरण का पहला और प्रारम्भिक दौर नहीं है। वह जागरण की एक पुरानी परम्परा का एक खास दौर है। जागरण की पहली शुरुआत तब होती है जब यहां बोलचाल की भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगता है, जब यहां विभिन्न प्रदेशों में आधुनिक जातियों का गठन होता है। यह सामंत विरोधी जागरण है। भारत में अंग्रेजी राज कायम करने के सिलसिले में पलासी की लड़ाई से 1857 के स्वाधीनता संग्राम तक जो युद्ध हुए वे जागरण के दूसरे दौर के अंतर्गत है। यह दौर पहले से भिन्न है, मुख्य लड़ाई विदेशी शत्रु से है। यह साम्राज्यवादी जागरण है।"[14] यहां रामविलास शर्मा जन–जागरण के दो रूप रखते हैं। एक जब देशी भाषाओं में साहित्य लिखा जाने लगा। यानी मध्यकाल जिसे वे सामन्त विरोधी जनजागरण कहते हैं और दूसरा भारतेन्दु युग जो साम्राज्यवाद विरोधी जागरण है। रामविलास शर्मा अपनी जागरण संबंधी विवेचना को लेकर यहीं तक नहीं ठहरते है। अपनी पुस्तक 'भारतीय नवजागरण और यूरोप' की प्रस्तावना में वे लिखते हैं – "पहले से चली आती एक दीर्घकालीन भाषिक, दार्शनिक, साहित्यिक परम्परा की कड़ी है ऋग्वेद। उस परम्परा की जानकारी का मुख्य स्रोत है ऋग्वेद। अतः भारतीय नवजागरण ऋग्वैदिक ही है।"[15] यहाँ पहुँचकर रामविलास शर्मा भारतीय नवजागरण को 'ऋग्वैदिक नवजागरण' मान लेते हैं। यही नहीं रामविलास शर्मा का नवजागरण संबंधी विवेचन ऐसे ही कई अन्तर्विरोधों के साथ भरा पड़ा है। दरअसल रामविलास जी हिन्दी नवजागरण पर इतना जोर देते हैं कि उन्हें हिन्दी प्रदेश के अलावा उसी समय अन्य प्रदेशों में घटित हो रही प्रक्रिया दिखाई तो देती है, लेकिन हिन्दी नवजागरण से उसका अन्तंर्संबंध उनके विवेचन का हिस्सा नहीं बन पाता है। 'नवजागरण' को खोजते–खोजते वह 'ऋग्वेद' तक तो चले जाते हैं, लेकिन हिन्दी नवजागरण का दूसरे

प्रदेशों और क्षेत्रों से क्या संबंध है? यह प्रश्न उपेक्षित ही रह जाता है। रामविलास शर्मा जी के नवजागरण संबंधी विवेचन की विशेषता है कि उनका चिन्तन कहीं भी साम्प्रदायिक नहीं होता है और औपनिवेशिक शक्तियों के विरुद्ध खड़ा है, लेकिन ध्यान से देखें तो वह अनऐतिहासिक जरूर हो जाता है। यही कारण है कि नामवर सिंह नवजागरण संबंधी विवेचन पर यह प्रश्न उठाते हैं कि – "रेनेसाँ का हिन्दी अनुवाद है नवजागरण। ये 'नवजागरण' बंगाल नवजागरण के नाम से 1857 से लगभग 50 साल पहले राजा राममोहन राय के जमाने में इस्तेमाल कर लिया गया था। इसलिए जब 1857 नहीं था तब से भारत में 'नवजागरण' की चर्चा हो रही थी अगर 1857 से पहले हमारे यहाँ लोग नवजागरण महसूस कर रहे थे तो 1857 के बाद फिर कौन–सा नवजागरण है, जो बार–बार हो रहा है। हम लोगों की आदत है कि एक चीज़ को बार–बार पीटते रहते हैं। कुछ लोग चौदहवीं–पंद्रहवीं शताब्दी के भक्ति आन्दोलन को भी नवजागरण कहते हैं। ये ऐसा नवजागरण है कि जब आपकी नींद खुलती है तभी नवजागरण हो जाता है।"[16] अब सवाल यह है कि खुद नामवर सिंह नवजागरण को किस रूप में देखते हैं। नामवर सिंह की कोई पुस्तक नवजागरण पर तो नहीं है, लेकिन उनका एक नवजागरण पर दिया गया व्याख्यान है जो 'उन्नीसवीं सदी का भारतीय पुनर्जागरण : यथार्थ या मिथक' नाम से 'पक्षधर' पत्रिका में प्रकाशित है। इस व्याख्यान में खुद नामवर सिंह नवजागरण को क्या समझते और मानते हैं इसका एक रूप दिखाई पड़ता है। नामवर सिंह का मानना है कि 19वीं शताब्दी में जो नवजागरण हुआ उसे 'नवजागरण' नाम देना एक औपनिवेशिक मानसिकता है। उन्होंने लिखा है – "ईस्ट इंडिया कम्पनी का केन्द्र कलकत्ता था। इसलिए कलकत्ता भारत की प्रथम संघीय राजधानी हुई। औपनिवेशीकरण का सर्वाधिक प्रभाव बंगाल में था और पुनः बंगाल ही इसको रोकने के लिए मजबूत प्रयास करने का गवाह भी बना। केवल बंगाल में ही बंकिम और रवीन्द्रनाथ हो सके। रेनेसाँ शब्द बंगाली भद्रलोक द्वारा औपनिवेशिक प्रभाव के अन्तर्गत आए हुए शब्द के रूप में ग्रहण किया गया। यह औपनिवेशिक विचार उस समय तक मस्तिष्क में बना रहा और किसी ने इस पर नहीं सोचा।"[17] नामवर सिंह का जोर इस बात पर है कि 19वीं सदी में जो भारत में घटित हुआ वह नवजागरण नहीं है उसे हमें कुछ और नाम देना चाहिए। उनकी नज़र में नवजागरण 19वीं सदी के पहले ही भारत में घटित हो चुका था। इसीलिए वे आगे कहते हैं – "19वीं शताब्दी के बारे में मैंने जो कुछ सोचा है उस पर पहले विचार कर लें। यदि यह जागरण है, तो वह क्या है जो कबीर और नामदेव के समय में हुआ था? इटली की तरह उसी समय स्पष्ट रूप से हमारे देश में भी जागृति फैली। यह बात मैं इटली के साथ समानता का दावा

करने के लिए नहीं कह रहा हूं, लेकिन तथ्य है कि आधुनिक भारतीय भाषाएं दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी से ही जन्म लेने लगी थी। प्राकृत पहले ही अस्तित्व में थी। संस्कृत की संस्कृति अपनी अवनति के दौर से गुजर रही थी और यह वह समय था जब जनभाषा साहित्यिक भाषाओं की ओर उन्मुख हो रही थी। जैसे – गुजराती, हिन्दी, मराठी, बंगाली आदि।"[18] यहां नामवर सिंह का इशारा साफ–साफ भक्तिकाल के तरफ है जिसे प्रकारान्तर से रामविलास शर्मा भी जागरण मान रहे हैं। उन्होंने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'जागरण की पहली शुरुआत तब होती है जब यहां बोलचाल की भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगता है और विभिन्न प्रदेशों में आधुनिक जातियों का गठन होने लगता है।'

जिस मध्यकाल को रामस्वरूप चतुर्वेदी केवल सैन्य टकराहट मानते हैं उसे रामविलास शर्मा और नामवर सिंह सांस्कृतिक टकराहट के रूप में देखते हैं। नामवर सिंह ने मध्यकाल के इस सांस्कृतिक परिवर्तन को रेखांकित करते हुए कहा है – "मध्यकाल में संगीत की नई शैली, वास्तुशिल्प, पेंटिंग और साहित्य के साथ–साथ एक नई संस्कृति विकसित हुई। जिन लोगों ने इसे संभव बनाया वे निम्न श्रेणी के लोग थे। नाई, धोबी, दर्जी इत्यादि। ये लोग हिन्दू और मुस्लिम दोनों की नज़र में निम्न श्रेणी के थे। इसीलिए शिल्पकार, मजदूर और किसानों का एक समूह सामने आया, जिन लोगों ने भारत को एक नया स्वरूप दिया। यह साधारण लोगों का जागरण इटली के जागरण से कहीं अधिक महान था। ये धनी और शक्तिशाली लोगों द्वारा नहीं चलाया गया, बल्कि मजदूर वर्ग के लोगों ने यह अनोखा कार्य किया। विश्व साहित्य में यह पहला आश्चर्यजनक प्रभाव था। इसीलिए मैं इसे पुनर्जन्म या जागरण कह रहा हूँ। यह वह युग है जब संस्कृति, दर्शन और उपनिषद पर चर्चा की गई। पहली बार उपनिषद ब्रह्म समाज के सदस्यों द्वारा पुनर्जीवित नहीं हुआ था। सच तो यह है कि शंकराचार्य के बाद रामानुज ने इस क्रान्ति को नई दिशा दी थी। उन्होंने मन्दिर के शिखर पर लिखे मंत्रों को आम लोगों के लिए प्रकाशित किया। यह सब उन्होंने कुछ विशेष लोगों के लिए नहीं किया था। इसी युग में बल्लभाचार्य और विशिष्टाद्वैतवाद सामने आया। यह रेनेसां उन लोगों ने लाया जो प्राचीन परम्परा का सम्मान करते थे।"[19] इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि नामवर सिंह के लिए भी पुनर्जागरण मध्यकाल ही था। वह मध्यकाल को ही वास्तविक पुनर्जागरण के रूप में देख रहे हैं। अब सवाल यह है कि 'अगर मध्यकाल वास्तविक नवजागरण का समय है तो वह क्या था जो 19वीं शदी में भारत में घटित हो रहा था जिसे लोग नवजागरण मान रहे थे? नामवर सिंह ने इस 19वीं शताब्दी को रेखांकित करते हुए कहा है – "19वीं शताब्दी का रेनेसाँ भारतीय साहित्य में विचारपूर्वक उत्पन्न एक मिथ्या

है, जिससे कभी–कभी हमें वास्तविकता का संदेह हो जाता है। आज जरूरत इस बात की है कि हम झूठी गाथाओं की इस प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण करें और फिर पीछे छिपे इतिहास देखने का प्रयत्न करें। हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि भारतीय साहित्य के इतिहास का एक अध्याय 19वीं शताब्दी – जिसे हम भारतीय जागरण का इतिहास मानकर पढ़ते हैं वह पूर्णतः एक कल्पना है।"[20] नामवर सिंह ने इस कल्पना के काल को 'अभिज्ञानकाल' नाम दिया है। उनका मामना है कि हम अपनी स्मृति और अतीत की तरफ कल्पना के द्वारा भारत के चित्र को इस समय गढ़ रहे थे। इस इस तथ्य की पुष्टि के लिए उन्होंने कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' नाटक को माध्यम बनाया है। उन्होंने 19वीं सदी को भूल सुधारने का युग माना है। वे कहते हैं – "यह युग हमारे लम्बे अवधि के भूल सुधारने का युग है। हम नहीं कह सकते हैं कि पहले, हम विस्मृतियों में खोए हुए थे। या वस्तुतः हम अज्ञानी थे। 'नूनम् अवोधपूर्वम् तत् चेतसाः स्मृति' हम अपनी अज्ञानता से व्याकुल थे 'अभिज्ञान' एक विपरीत नाम है। इस शब्द का अंग्रेजी में एक निश्चित शाब्दिक अर्थ नहीं हो सकता है। यह अस्मिता नहीं है। मैं एक बार फिर कहता हूँ कि यह निश्चित रूप से अस्मिता नहीं है, बल्कि अभिज्ञान है। 19वीं शताब्दी वह रंगभूमि है जहाँ स्मृति की चेतना प्राप्ति का नाटक अनेक तरीके से विभिन्न भाषाओं में प्रस्तुत किया गया।"[21] नामवर सिंह ने 19वीं सदी के रेनेसां को 'मिथ्या कल्पना' मानते हुए दो महत्त्वपूर्ण काम किया। एक तरफ तो जो लोग 19वीं सदी के भारतीय नवजागरण को यूरोपीय ज्ञानतन्त्र के आधार पर देख रहे हैं उनकी बेवकूफियों को उजागर किया और औपनिवेशिक मानसिकता का प्रतिकार करते हुए 19वीं सदी के नवजागरण को नकारा। वहीं दूसरी तरफ भारतीय रेनेसां को मध्यकाल से जोड़कर उसे वास्तविक लोक के धरातल पर खड़ा किया। इन सबके बावजूद नामवर सिंह ने एक चालाकी यह की कि 'हिन्दी नवजागरण' के उस वास्तविक सामाजिक स्थिति और राजनैतिक चेतना पर कोई सवाल नहीं उठाया जो आगे चलकर एक व्यापक विवाद का कारण बनी। खड़ी बोली या हिन्दी–उर्दू विवाद से टकराते हुए उन महत्त्वपूर्ण सवालों को नहीं उठाया जो उस समय हिन्दी प्रदेश में चल रहे थे। आगे चलकर उन्हीं सामाजिक और राजनैतिक सवालों से वीरभारत तलवार टकराते हैं और हिन्दी नवजागरण का एक दूसरा रूप प्रस्तुत करते हैं। तलवार ने हिन्दी नवजागरण के आरंभ को लेकर अपनी पुस्तक 'रस्साकशी' में लिखा है – "भारतीय नवजागरण बंगाल में 1830 के दशक में शुरू हुआ और महाराष्ट्र में 1820 के दशक में। करीब 50 सालों तक यह नवजागरण इन दोनों प्रान्तों के भद्रवर्गीय प्रबुद्ध समाज में हलचल मचाता रहा। 1870 का दशक पूरा होते–होते इस नवजागरण की पहली ऊंची लहर जो धर्म और

समाज को सुधारने के महान साहसिक प्रयासों के रूप में थी – करीब–करीब खत्म हो चली थी। 1880 में उसके खिलाफ हिन्दू प्रतिक्रिया की शक्तियां प्रबल रूप से उठ खड़ी हुईं। प्रतिक्रिया की ये शक्तियां बंगाल में बंकिम और भूदेव मुखर्जी के नेतृत्व में और महाराष्ट्र में कई चितपावन ब्राह्मणों समेत तिलक के नेतृत्व में उभरी थीं। नवजागरण का पहले जैसा तेज बुझ चला था। पश्चिमोत्तर प्रान्त में जो भी और जैसा भी नवजागरण आया, दुर्भाग्य से वह इसी दौर में आया।"[22] यही नहीं, जिस प्रकार नामवर सिंह ने 19वीं सदी के नवजागरण को 'मिथ्या कल्पना' माना है उसी प्रकार वीरभारत तलवार ने 'हिन्दी नवजागरण' को एक भ्रामक नाम माना है। अंतर केवल इतना है कि नामवर जी 19वीं सदी के नवजागरण को नकार रहे हैं, वही तलवार 'हिन्दी नवजागरण' को। उन्होंने लिखा है – "हिन्दी नवजागरण एक भ्रामक नाम है क्योंकि यह अपनी ऐतिहासिक अंतर्वस्तु को प्रकट नहीं करता। इससे गलतफहमी होती है कि भारतीय नवजागरण से जहां इसका मेल नहीं दिखता, भिन्नता या विरोध दिखने लगता है, तो इसे जबरदस्ती उसी जैसा दिखाने का प्रयत्न करते हैं या फिर ऐसी सफाई देने लगते हैं जो एक तरह की लीपा–पोती होती है। ऐतिहासिक तथ्य बताते हैं कि यह एक ऐसी धारा थी जो नवजागरण के विरोध में शुरू हुई थी और जिसके आन्दोलन के केन्द्रीय मुद्दे कुछ और थे। 'ब्रह्म समाज' के सुधारों के खिलाफ बंगाल के रूढ़िवादियों ने 1830 के दशक में 'धर्म सभा' और 1860 के दशक में 'सनातन धर्मरक्षिणी सभा' कायम की। महाराष्ट्र में 'प्रार्थना समाज' के खिलाफ भी रूढ़िवादी मराठी ब्राह्मणों ने अपनी सभा बनाई। पश्चिमोत्तर प्रान्त में ब्राह्मों और आर्यों के सुधार आन्दोलन के खिलाफ 'काशी धर्म सभा', 'प्रयाग हिन्दू समाज', 'मध्य हिन्दू समाज' और 'धर्म महामंडल' जैसी सनातनी संस्थाएं उठ खड़ी हुईं। 19वीं सदी के ज्यादातर हिन्दी लेखक जिनके साहित्य में मिलने वाली चेतना को 'हिन्दी नवजागरण' कहा जाता है : वास्तव में उन्हीं सनातनी संस्थाओं से जुड़े हुए लेखक थे। जिस तरह सुधार की संस्थाएं आन्दोलनकारी थीं, उसी तरह उनके विरोध में बनी पम्परावादियों की संस्थाएं भी अपना आन्दोलन चलाती थीं। हिन्दी नवजागरण के लेखकों की सामाजिक धार्मिक चेतना ब्राह्मों, आर्यों के सुधार आन्दोलन के समर्थन में नहीं, उनके विरोध और प्रतिक्रिया में उभरी थीं, हालांकि सभी लेखकों में इस विरोध की मात्रा और किस्म एक जैसी नहीं थी। विरोध और प्रतिक्रिया के बावजूद उनकी चेतना पर अपने चारों ओर के सुधार आन्दोलनों का दबाव भी था। जिसके कारण वे किसी हद तक इन सुधार आन्दोलनों से प्रभावित भी हुए। यही कारण है कि हिन्दी नवजागरण के महत्त्वपूर्ण लेखकों की सुधार चेतना में दुविधा और अंतर्विरोध भरे मिलते हैं।"[23] इतना लम्बा उद्धरण देने का सिर्फ मेरा एक ही

मकसद है कि यह बात साफ हो जाए कि वीरभारत तलवार हिन्दी नवजागरण को किस रूप में बंगाल और महाराष्ट्र के नवजागरण के आलोक में देखते हैं।

हिन्दी नवजागरण को लेकर इतनी पेचीदगी है कि अपने सुविधा के अनुसार विद्वान जो कुछ भी चाहे देख लें। ये बात विभिन्न तबकों में बंटे हुए किसी भी युग के बारे में सत्य है, लेकिन यदि देखने–परखने की कोई सुसंगत वैज्ञानिक दृष्टि गैरजरूरी है तब सब कुछ बस भाषा और प्रस्तुतीकरण का खेल बनकर रह जाता है। 1857 की लड़ाई में लाखों भारतवासियों के कत्लेआम के साथ जब ये लड़ाई खत्म हुई, तब पुराने सामंती तबके से लेकर नवोदित मध्यवर्गीय बौद्धिक वर्ग तक इसकी दहशत व्याप्त थी। इसका अन्दाजा गालिब, सर सैय्यद व भारतेन्दु की प्रतिक्रियाओं से लगाया जा सकता है। यह अलग बात है कि जो लोग बंगाल के नवजागरण से हिन्दी नवजागरण और 1857 की तुलना करते हैं उनके लिए हिन्दी नवजागरण भ्रामक बनकर रह जाता है। 1857 के प्रति बंगाल नवजागरण के अग्रदूतों की उदासीनता प्रसिद्ध है। इस उदासीनता का एक परिणाम यह भी है कि कई विद्वानों ने यह तर्क गढ़ा कि 1857 के लड़ाकों के पास 'नए विचार' नहीं थे और यही उनकी विफलता का कारण था। वहीं कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि बंगाल नवजागरण के अग्रदूतों के पास ही नए विचार थे। इन्हीं नए विचारों की कसौटी पर वे हिन्दी नवजागरण को जांचने का प्रयास करते हैं। इस कसौटी का परिणाम यह होता है कि बहुत ही साफगोई से वे यह बात प्रस्तावित कर देते हैं कि हिन्दी क्षेत्र में कोई नवजागरण नहीं हुआ। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हिन्दी प्रदेश के लोगों ने जिस कत्लेआम को देखा था उससे न वे खुलकर अंग्रेजों का विरोध कर सकते थे और न ही मित्रता का सन्देश गा सकते थे। हम जिस हिन्दी नवजागरण की बात कर रहे हैं उसके अग्रदूत मुख्य रूप से साहित्यकार थे। वह वैसे सामाजिक नेता और आन्दोलनों से नहीं जुड़े थे, जैसे बंगाल और महाराष्ट्र नवजागरण के शुरुआती अग्रदूत। इस परिप्रेक्ष्य को साफ तौर पर तभी समझा जा सकता है जब हम 1857 के बाद हिन्दी प्रदेश के अन्तर्द्वन्द्व और खड़ी बोली के विकास प्रक्रिया को समझें और इसको जोड़ते हुए हिन्दी नवजागरण की पहचान करें।

1802 ई. के आस–पास देवनागरी लिपि में हिन्दी समाचार पत्र और धार्मिक प्रचार पुस्तकें निकलना शुरू हो गयी थीं। लेकिन हिन्दी में साहित्यिक रचनाओं का प्रकाशन 1868 के बाद शुरू हुआ। ठीक से कहें तो भारतेन्दु द्वारा सम्पादित 'कविवचन सुधा' पत्रिका से। इस परिदृश्य के बरक्स अर्थात् खड़ी बोली, दक्कनी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी, उर्दू या रेख्ता में लिखे गये आधुनिक साहित्य लेखन का प्रारम्भ मुद्रण टेक्नालॉजी आने से पूर्व अठ्ठारहवीं सदी के

पूर्वार्द्ध में ही हो गया था। यहां आधुनिक साहित्य लेखन से मेरा तात्पर्य लौकिक जीवन को केन्द्र में रखकर लिखे गए साहित्य से है जिसमें जनसाधारण के जीवन की कोई झाँकी दिखाई पड़ती हो। अलौकिक दिव्य जीवन या फिर दरबारी संस्कृति से सराबोर भोग–विलास या शृंगार का ही साहित्य ब्रजभाषा और अवधी में मिलता है। आज जिसे हम हिन्दुस्तानी नहीं बल्कि देवनागरी में लिखित हिन्दी कहते हैं अर्थात् खड़ी बोली के तत्सम मिश्रित साहित्यिक सृजन कर्म में आधुनिकता का आरम्भ अठारहवीं सदी में नहीं होता। मुद्रित रूप से देवनागरी लिपि में हिन्दी गद्य का आरम्भ उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में पत्रकारिता के माध्यम से हुआ। वहीं अगर आप उर्दू, दकनी और रेख्ता में गद्य की परम्परा देखें तो हस्तलिखित पुस्तकों के माध्यम से अट्ठारहवीं सदी के शुरू के दशक में ही मिलने लगता है। अठारहवीं सदी के कई ऐसे इतिहासकार हैं जिन्होंने अंग्रेजी या अरबी–फारसी से उर्दू में अनुवाद या मौलिक ग्रंथों की रचनाएं की हैं। इसकी लिपि जरूर फारसी है लेकिन ये कृतियां उर्दू (खड़ी बोली गद्य) की हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उर्दू गद्य के रूप में अठारहवीं सदी से ही साहित्येत्तर विषयों में खड़ी बोली गद्य की परम्परा रही है, लेकिन देवनागरी लिपि में ऐसी कोई परम्परा उन्नीसवीं सदी के पहले नहीं मिलती है।

इस पृष्ठभूमि में भारत की पहली जंगे आजादी की घटनाओं पर नज़र डालने से जो प्रतिबिम्ब खड़ा होता है वह भयावह और त्रासद है। जिस प्रकार अंग्रेजी शासन के खिलाफ लिखने और बोलने वाले पत्रकारों को सज़ा दी जा रही थी उससे आप अंग्रेजी शासन के दमनात्मक स्वरूप को देख सकते हैं। उदाहरण के रूप में मुनीर शिकोहाबादी और फज्ले हक खैरावादी थे जिन्हें 1857–1860 के बीच बगावत के पक्ष में शायरी करने के कारण कालापानी की सजा दी गई थी।[24] उस दौर में आपको रचनाकारों के कई ऐसे उदाहरण मिलेंगे जो अंग्रेजी शासन के खिलाफ लिखने के कारण यातना झेलते रहे। ऐसे परिदृश्य में अंग्रेजी शासन के खिलाफ लिखना कितना कठिन रहा होगा इसका आप स्वतः अनुमान लगा सकते हैं।

1860 के बाद हिन्दी उर्दू के पत्रकार ही नहीं साहित्यकार, पेशेवर शिक्षित मध्यवर्ग, व्यापारी आदि को यदि आप देखें तो पता चलता है कि अधिकांश लोग महारानी विक्टोरिया द्वारा कम्पनी का राज खत्म कर सीधे ब्रिटिश प्रशासन के अधीन हिन्दुस्तान का अधिग्रहण करने की घोषणा के साथ आशावादी सपने देख रहे थे। ज्यादातर शिक्षित पेशेवर लोग अंग्रेजी सरकार की विजय दुंदुभी में अपना सुर भी मिला रहे थे, लेकिन कुछ लोग ऐसे भी थे जो तब भी अंग्रेजी शासन के खिलाफ लिख रहे थे। उदाहरण रूप में 'हिन्दू पेट्रिएट' के सम्पादक हरिश्चन्द्र मुखर्जी या गुजराती उपन्यासकार गोवर्धन आदि। जो लोग बगावत को

जंगे आजादी न कहकर सिपाहियों और बदमाशों का विद्रोह बताकर औपनिवेशिक प्रचारतंत्र को समर्थन और पूर्ण बनाने में ही अपना हित और देश का हित सोचते थे वे कब तक चुप रहते? उनके सामने ही ब्रिटिश राज द्वारा उन्हीं के लोगों (भारत पर) पर कहर ढ़ाया जा रहा था। हत्या, फाँसी, जेल, कालापानी और काले कानूनों के दौर में जन–साधारण और पूरे देश की तबाही को कब तक देखते रहते? टैक्सों की मार और हिन्दुस्तान की साझी संस्कृति पर हमले को कब तक बर्दाश्त करते रहते? यह एक विचित्र तरह का मध्यवर्गीय द्वन्द्व था। इस द्वन्द्व की जड़ें तत्कालीन वर्गीय समाज के आधार में मौजूद थीं। इस द्वन्द्व को राजभक्ति या देशभक्ति का अन्तर्विरोध या 'दुचित्तापन' बताना पूर्णतः सही व्याख्या नहीं है। यही नहीं संक्रान्तिकालीन तर्कों का सहारा लेना भी वास्तविक मूलभूत प्रश्नों से बचना ही है। उस समय के तत्कालीन साहित्यिक सृजनशीलता और वैचारिक दृष्टि से बचने का एक लम्बा सिलसिला अभी तक चलता आ रहा है। यह सिलसिला तभी खत्म होगा जब हम उस समय के तमाम अन्तर्विरोधों को नज़रअंदाज करने की बजाय उसे द्वन्द्वात्मक दृष्टि से देखें। हमें यह विचार करना पड़ेगा कि वह कौन–सा कारण था, जिसके परिणामस्वरूप उर्दू रचनाकारों – जाफर, मीर, नजीर अकबराबादी, सौदा, जौक, गालिब, जफर, मुनीर, शिकोहावादी, हाली आदि की तरह हिन्दी के लेखक अपने नाटक, निबंध या कविता में लौकिक जीवन पर, खास कर देश की दुर्दशा और आम जनता की तबाही और बर्बादी पर ध्यान देना आरम्भ करते हैं। ठीक से कहें तो इन रचनाकारों की रचना के केन्द्र में प्रधान रूप से जीवन का यथार्थ और राष्ट्रीय स्वत्व का एक रूप दिखाई पड़ता है। जयशंकर प्रसाद 'यथार्थ और छायावाद' (1934) निबंध में लिखते हैं – "साधारण मनुष्य जिसे पहले अकिंचन समझते थे, वही क्षुद्रता में महान दिखाई पड़ने लगा। उस व्यापक दुःख संवलित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।"[25] चूंकि सामंत और राजा–महाराजा 1857 की युगान्तकारी जनक्रान्ति में वैसा नेतृत्व नहीं दे पाये थे जैसा कि आम जनता ने दिया। हकीकत तो यह है कि अधिकांश सामंत और राजाओं ने अंग्रेजी सरकार का साथ देकर भारतीय जनमानस के साथ गद्दारी की थी। तभी तो जयशंकर प्रसाद यह कहते हैं कि साधारण इंसान महान दिखने लगा।

अब यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि उस समय जो लिखा जा रहा था उसका यथार्थ क्या है? भारतेन्दु ने 1872 की 'कविवचन सुधा' में जंग–ए–आजादी के दौर के कालापानी की सजा भुगत रहे शेर अली पर तीन टिप्पणियाँ लिखी हैं। शेर अली ने ब्रिटिश बर्बरता के प्रतिनिधि लार्ड मेयो से प्रतिरोध स्वरूप छुरी घोंपकर उनकी हत्या कर दी। इस पर भारतेन्दु

लार्ड मेयो के बारे में लिखते हैं – "हा! यह कैसे दुःख की बात है कि आज के दिन हम उनके मरण का वृतांत लिखते हैं, जिनकी भुजा की छांह में सब प्रजा सुख से कालक्षेप करती थी और हम लोगों का पूरा हितकारी था।"[26] यह लिखते समय भारतेन्दु यह भूल जाते हैं कि जंग–ए–आजादी के तीन साल के बाद भीषण दौर में इसी अंग्रेज सरकार द्वारा लाखों लोगों को पेड़ों से लटका कर मार दिया गया और जेल में फाँसी दी गई। यहाँ तक कि 1857 के जंग में 1 लाख 25 हजार बागी सिपाहियों में किसी को भी जिन्दा नहीं छोड़ा गया था। वहीं शेर अली लिखते हैं – "उस चांडाल दुष्ट हत्यारे शेर अली के विषय में 'फेड ऑफ इंडिया' के सम्पादक से हम पूर्ण सम्मति करते हैं। निस्संदेह उस दुष्ट को सिर्फ प्राणदण्ड देना तो उसकी मुंहमाँगी बात देनी है, क्योंकि मरने से डरता तो ऐसा काम न करता। सम्पादक महोदय लिखते हैं कि ये दुष्ट प्राण से प्रतिष्ठा और धर्म को विशेष मानते हैं, इससे ऐसा करना चाहिए जिससे इन दुष्टों का सुख भंग हो और धर्म प्रतिष्ठा दोनों को हानि पहुंचे। वह लिखते हैं (और बहुत ठीक लिखते हैं अवश्य ऐसा ही नहीं वरन् इससे बढ़कर होना चाहिए) कि उसके प्राण अभी न लिए जाएं और उसे खाने को वह वस्तु मिले जो 'हराम' है और वस्त्र के स्थान पर उसको सूअर के चर्म टोपी और कुरता पहिराया जाये और यावतशक्ति उसको दुःख और अनादर दिया जाये। ऐसे नीच के विषय में जितनी निर्दयता की जाये सब थोड़ी है और ऐसे समय हम लोगों को कानून पर ध्यान रखना चाहिए उसको भरपूर दुःख देना चाहिए।"[27] यही नहीं आगे चलकर भारतेन्दु जो बात लिखते हैं वह उनके मनोभाव को और भी ज्यादा स्पष्ट करती है। वे लिखते हैं कि यदि वह लार्ड मेयो पर हमले का संकल्प पहले से नहीं बनाया होता – "तो वह ऐसे निर्जन स्थान में छुरी लेकर छिपा क्यों बैठा रहता। फिर एक दूसरे कैदी के 'इजहार' (अर्जुन सिंह नाम के क्षत्रिय के द्वारा उसे दबोचे जाने के बाद के इजहार) से स्पष्ट ज्ञात होता है, यदि वह उस वर्ग का न होता जो कि तन–मन से मानते हैं कि सरकार 'काफिर' है, इसलिए उसके बड़े–बड़े अधिकारियों को मारने से बड़ा 'सवाब' होता है। इन सब विषयों को भली भाँति दृढ़कर कर के तब उसको फाँसी देना उचित है।"[28] यह था भारतेन्दु का एक रूप जो साम्प्रदायिक मनोभावना और ब्रिटिश सत्ता के प्रति रुझान को इंगित करता है। ऐसा मनोभाव केवल भारतेन्दु तक सीमित नहीं था बल्कि प्रतापनारायण मिश्र 'ब्राह्मण' नामक पत्रिका के द्वारा जो विचार व्यक्त कर रहे थे वह भी इसी मानसिकता के शिकार थे। राधाचरण गोस्वामी का रूख भी इन लोगों से अलग नहीं था। यही कारण था कि इनके काव्य लेखन में ब्रजभाषा के बजाय खड़ी बोली अपनाने के सवाल पर आशंका व्यक्त की गई कि इससे उर्दू, फारसी और अरबी की साहित्यिक परम्परा हिन्दी में बलवती

हो जायेगी। वहीं बालमुकुन्द गुप्त, अयोध्याप्रसाद खत्री और श्रीधर पाठक जैसे लोग इस सवाल पर ब्रिटिश सत्ता द्वारा 'फूट डालो और राज करो' की नीति के सांस्कृतिक परिणामों के प्रति सजग होकर स्वस्थ और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार कर रहे थे, लेकिन ऐसे लोग बहुत कम थे।

भारतेन्दु ने जून 1874 की 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में उर्दू की मौत पर एक स्यापा लिखा –

"है है उर्दू हाय हाय। कहाँ सिधारी हाय–हाय।
कहाँ सिधारी हाय हाय। मुंशी मुल्ला हाय–हाय।"

उर्दू के मौत की ऐसी मनोकामना के पीछे अंग्रेजी राज की हिन्दुओं–मुसलमानों की पारस्परिक साम्प्रदायिक एकता की ऐतिहासिक आवश्यकता के बजाय उस पृष्ठभूमि में जहर घोलने की प्रवृत्ति काम कर रही है। दुःखद तो यह है कि उस नीति के भोले–भाले औजार के रूप में उर्दू–हिन्दी के अनेक लेखक, बुद्धिजीवी एक दूसरे के विरुद्ध खुलकर अभियान चला रहे थे। ऐसा केवल हिन्दी लेखकों के तरफ से ही नहीं हो रहा था, बल्कि ब्रिटिश शासन की अंगभूत नौकरशाही के रूप में सर सैय्यद भी इसी क्रिया–प्रतिक्रिया की एक कड़ी थे। इस भाषायी विद्वेष के अनेक कारण मध्यवर्ग के वर्गीय स्वार्थ से जुड़े थे। 1857 से 1860 के बीच आजादी की जंग के दौर ने जो जन–एकता बनाई थी, उसे ध्वस्त करना ही अंग्रेजी राज्य के एजेंडे का महत्त्वपूर्ण कार्य था। यह ध्यान रखना चाहिए कि यह तमाशा अंग्रेजों की प्रेरणा द्वारा ही खड़ा किया गया था। इसके बावजूद सारे हिन्दुस्तान में आजादी की लड़ाई के दौर में हिन्दुस्तानी की ही बात की जाती रही। उर्दू के प्रति घृणा, इस प्रवृत्ति की निन्दा की गई और एकता कायम कर धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र–राज्य की परिकल्पना पल्लवित की गई। इस जमाने में भी शिवप्रसाद सितारे हिन्द, अल्ताफ हुसैन हाली, सौदा, अजीमुल्ला खां ने साम्प्रदायिक रूख अख्तियार करना राष्ट्र के लिए घातक समझा। इसी परम्परा का विकास आगे चलकर द्विवेदी युग से होते हुए प्रेमचंद और सुदर्शन के यहाँ उत्कर्ष पर पहुँचा। इसी विवाद के मद्देनज़र 1934 में बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक खत प्रेमचंद को लिखा था। इस खत में उन्होंने लिखा – 'जिस दिन उर्दू, फारसी तथा अरबी की सांस्कृतिक परम्परा से हिन्दी वंचित हो जायेगी, उस दिन से हिन्दी दरिद्र हो जायेगी।'

इन सब सीमाओं, भ्रान्तियों और वर्गीय पूर्वाग्रहों के बावजूद भारतेन्दु मंडल की रचनाशीलता का एक मजबूत पक्ष था – यथार्थ के प्रति आग्रह। इसी आग्रह के कारण इनके

साहित्य में देश भक्ति की भावना प्रबल होती गयी और अंग्रेजी राज के प्रति भक्ति दिनोंदिन घटती गयी। भारत दुर्दशा का गहरा बोध अधिकांश रचनाओं में नया रूख ग्रहण कर करवटें बदलने लगा। विक्टोरिया राज के प्रति आशावादी सपनों के चकनाचूर होने में महज कुछ साल ही लगे। 1872 के उल्लिखित दृष्टिकोण के ठीक प्रतिलोम रूप का दर्शन 1875 में लिखे भारतेन्दु के नाटक 'भारत दुर्दशा' में मिलता है। यह छः अंकों में विभाजित छोटा सा नाटक है। नाटक का 'भारत दुर्दैव' देवता नहीं बल्कि राक्षस है, वस्तुतः वह अंग्रेजी राज का खल नायक और रूपक है। नाटक में आए तमाम अनुचर, फौजी, सूबेदार, रोग, अंधकार, मदिरा, आलस्य, निर्लज्जता, फौजदार आदि ऐसे पात्र हैं, जो अंग्रेजी राज की सेवा करने वाले राक्षसी चरित्र के रूप में भारत में तबाही मचा रहे हैं। यह चित्र देखिए जिसमें भारत दुर्दैव फौजी छावनी में प्रकट होकर आता है और मंच पर अपनी कैफियत बयान करता है।

"उरे!

उपजा ईश्वर कोप से और आया भारत बीच।
छार–खार सब हिन्द करू मैं, तो उतम नहि नीच।
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी।
कौड़ी–कौड़ी को करूं मैं सबको मुँहताज।
मुखे प्रान निकालूं इनका, तो मैं सच्चा राज।
काल भी लाऊ मँहगी लाऊं और बलाई रोग।
पानी उलटा कर बरसाऊँ, छाऊँ दुःख घनघोर।
काफर काला नीच पुकारूँ, तोडूँ पैर और हाथ।
है इनका संतोष खुसामद, कायरता भी साथ।
बुलाऊँ, देह उजाहूं, मंहगा करके अन्न
सबके ऊपर टिकस लगाऊं, धन है मुझको धन्न।
तुम मुझको सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी।"[29]

यहाँ अंग्रेजी राज के दमनकारी–उत्पीड़नकारी बर्बर चरित्र उभारने में भारतेन्दु कोई कोताही नहीं बरतते हैं। यही नहीं राधाचरण गोस्वामी ने फाग में एक रचना की है। इसमें भारत के दैन्य और जन–साधारण की दुःखदायी यातना का चित्र देखें :

"डफ बज्यो भरत भिखारी को।
केसर रंग गुलाल भूलि गयो,

कौऊ पूछत नहि पिचकारी को।
बिन धन अन्न लोग सब व्याकुल
भई कठिन विपत नर–नारी को।
चहुँ दिसी काल पड्यो भारत में
भय उपज्यो महमारी को।"[30]

अपने जमाने की हकीकत का इतना ही तीखा रूप प्रेमघन की कविताओं में भी है। उनके यहां अंग्रेजों और सामंतों के अमलों–कारिन्दों की तस्वीर अंकित करते हुए दिखाया गया है कि वे टोपी पहन और चश्मा लगाकर नाई प्रजा पर मसनद की टेक लगाए हैं। बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन का 'जीर्ण जनपद' नामक प्रबंध काव्य इसका बेहतरीन नमूना है। इसके साथ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए की इन यथार्थ और विरोध के बाद भी कुछ लेखकों की मानसिकता असंगत साम्प्रदायिक दृष्टि का पीछा नहीं छोड़ती है। हिन्दी के साहित्यिक इतिहास ग्रंथों में भारतेन्दु मंडल के रचनाकर्म के योगदान को ऐतिहासिक प्रक्रिया की एक विशिष्ट सांस्कृतिक प्रवृत्ति के रूप में देखने, उस दौर के वर्गीय समाज के भिन्न–भिन्न तबकों की वैचारिक दृष्टियों पर द्वन्द्वात्मक तरीके से विचार करने की परम्परा अभी तक बन नहीं पायी है। इस पृष्ठभूमि में कुछ नये प्रश्नों पर विचार करते ही सही तर्क और स्थापना दिया जा सकता है। जैसे भारतेन्दु युगीन नाट्य लेखन, रंगकर्म के नये प्रयास लोकगीत और लोक कथाओं में जनचेतना की अनुगूंज तथा भारत की एक आधुनिक लोकतांत्रिक परियोजना की संकल्पना से संबंधित सन्दर्भों का सही विवेचन।

1857 के बाद से ही फिरंगी शासन के खिलाफ जंगी मुहिम छेड़ने वाले बहादुर सिपाहियों, किसानों, बुनकरों, कुछ बागी नरेशों, रानियों और बगावत में हिस्सा लेने वाले उच्च व निम्न जातियों की स्त्रियों से संबंधित हजारों लोकगीत प्रचलित हो चुके थे। भारतेन्दु मंडल के तथा उस दौर के प्रायः सभी रचनाकार अवध, बुन्देलखण्ड, भोजपुर आदि जनपदीय अंचलों से आते थे। इसीलिए इन रचनाकारों ने खासकर ग्रामगीत के छंद और बोली बानी को आत्मसात कर नई रचनाशीलता का आह्वान किया। 1877–78 के बाद यह प्रवृत्ति भारतेन्दु युग के साहित्य में स्पष्ट रूप में दिखाई देती है। इस युग के प्रायः सभी कवियों ने नाटक लिखे हैं। उन नाटकों में लोकधुनों या हिन्दी–उर्दू भाषी जन–समुदाय में सदियों से प्रचलित छन्दों के साँचे में ढले हुए गीत भी उनके नाटक के अभिन्न अंग बने हैं। सृजनकर्म के केन्द्र में इहलौकिक जनजीवन, राष्ट्रीय स्वत्व का बोध और सामाजिक, आर्थिक जीवन के पीड़ादायी अंतर्विरोध के प्रति प्रारम्भिक ढंग की यथार्थवादी आलोचनात्मक दृष्टि के अभ्युदय

से 1868 के बाद के भारतेन्दु साहित्य का युगान्तकारी महत्त्व है। उर्दू विरोध – मुस्लिम विरोध की संकीर्णताओं की कसौटी पर भारतेन्दु युगीन जो कमजोरियां हैं, वे तत्कालीन शिक्षित मध्यवर्ग की सीमाएं और दुर्बलताएं हैं, कुछ प्रमुख रचनाकारों की व्यक्तिगत विलक्षणताएं नहीं।

उस युग की वर्गीय संरचना में एक ओर जहाँ उपनिवेशवाद के तहत लूट–खसोट पर आधारित औपनिवेशक पूंजीवाद का प्रसार हो रहा था, वहीं दूसरी ओर देशी सौदागरी पूंजी भी ईस्ट इंडिया कम्पनी और ब्रिटेन राज के हितों के मातहत होकर उनकी कृपा पर निर्भर करती थी। साथ ही 565 रियासतों और अनगिनत सामंत जमींदारों तथा महाजनों में नब्बे प्रतिशत अंग्रेजी राज के साथ खड़े थे। जनता का दोहरा शोषण हो रहा था। 1857 के बाद अंग्रेजी दमन का भयावह रूप दहला देने वाला था। फौज के लिए नये–नये कानून बनाए जा रहे थे और गाँव जलाये जा रहे थे। हजारों लोगों को पेड़ पर लटकाकर फाँसी दी जा रही थी। पत्रकारों को कालापानी की सजा दी जा रही थी। दमन की इस भीषणता के बीच टैक्सों में बढ़ोत्तरी, घूसखोरी, अकाल, महामारी की घटनाएं बढ़ती जा रही थीं। इसके अलावा गाँवों–कस्बों में प्रदर्शित किए जाने वाले लोकनाट्य, भगत और स्वाँग पर भी ब्रिटिश 'परफारमेंस एक्ट' लागू कर पाबंदी लगा दी जाती थी। इस ऐतिहासिक सच्चाई के बरक्स इक्कीसवीं सदी में मौजूद राजनीतिक–सांस्कृतिक कार्यभारों की रोशनी में अतीत से अनैतिहासिक मांगे करना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। इसीलिए भारतेन्दु युगीन साहित्य को खारिज करने का रूख असंगत प्रतीत होता है। यह जरूरी है कि हम उन कमजोरियों और संकीर्णताओं पर पर्दा डालकर उस युग के साहित्य का महिमामंडन न करें बल्कि आलोचनात्मक रूप से उसका पुनर्पाठ करें। यह भी संभव नहीं है कि एक को नायक बनाकर और गौण प्रश्नों पर थोड़ा भिन्न रूख रखने वाले को खलनायक बना दें। किसी को फरिश्ता और दूसरे को शैतान बना देना वस्तुपरक विवेचना नहीं हो सकती है। यह केवल व्यक्तिवादी और अनैतिहासिक दृष्टि मात्र है। वास्तविकता यह है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के पत्रकार, बुद्धिजीवी, लेखक, अंग्रेजी राज की सेवा करने वाले क्लर्क से लेकर अफसर तथा सौदागरी के धंधे में लगे दुकानदार व्यापारी भी मध्यकालीन बोध, सामंती विचारधारा, धार्मिक–सामाजिक रूढ़िवाद से निर्णायक विच्छेद कर आधुनिक जीवन मूल्यों की पक्षधरता की प्रक्रिया में भयंकर द्वन्द्व व दुविधा की मनोग्रंथि से पीड़ित थे। अपने ही संस्कारों से लड़ने वाले रचनाकारों की आत्मसंघर्ष की प्रक्रिया बहुत ही धीमी थी और उसकी विलक्षणताएं बहुत संकीर्ण रूप से उन्नीसवीं सदी के सम्पूर्ण हिन्दी–उर्दू साहित्य की रचना प्रक्रिया में भी अंतर्भूत हैं।

भारत की पराधीनता के दंश को भारतेन्दु युगीन लेखक महसूस करते हैं, बार–बार अपनी कविताओं, भाषणों और लेखों में भारतवासियों में एकता और मेल–मिलाप की जरूरत बताते हैं, ताकि भारत की उन्नति हो। समाज सुधार, धर्म सुधार और धार्मिक रूढ़िवाद के प्रति भारतेन्दु युग के लेखकों की सजगता कुल मिलाकर एक महत्त्वपूर्ण सकारात्मक तत्व है। परन्तु उस युग के वर्गीय अंतर्विरोध के मुख्य प्रश्न पर साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद के विरुद्व सम्पूर्ण भारत के सभी भाषायी समुदायों के एकजुट जनसंग्राम के लक्षण उस दौर के साहित्य में कहीं नहीं मिलते हैं। यहाँ तक की बगावत में जिस व्यापक पैमाने पर हिन्दू–मुस्लिम एकता कायम हुई थी, उसे और आगे ले जाकर पल्लवित करने की कहीं कोई भावना तक नहीं है। यही कारण है कि अंग्रेज अपनी नीति 'फूट डालो और राज करो' में सफल भी होते हैं। आगे चलकर अंग्रेज तो यहां से चले जाते हैं, लेकिन साम्प्रदायिकता जैसा कोढ़ हमेशा के लिए छोड़ जाते हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से ही संस्कृति के स्तर पर भी ब्रिटिश राज के साम्प्रदायिक क्रियाकलाप चलते रहे जिसे हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, मुस्लिम लीग, जमायते इस्लामी तथा अन्य ताकतों ने आगे बढ़ाया है। हिन्दी–उर्दू के बीच दरार की इस फाँस को कोट बगैर व्यापक तौर पर जन–हिस्सेदारी के इन प्रमाणों के बावजूद उन्नीसवीं सदी पर लम्बा विचार विमर्श चलता रहा, लेकिन 1857 के घटनाओं को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में रामविलास शर्मा के अलावा कम ही लोगों ने समेटा (सहेजा) है। रामविलास शर्मा के अपने अन्तर्विरोध हैं और उन अन्तर्विरोधों पर द्वन्द्वात्मक रूप से ही विचार करना चाहिए। हिन्दी–उर्दू विवाद हिन्दी प्रदेश की सीमा थी जिसको रेखांकित करना हमारा कर्त्तव्य है।

उन्नीसवीं सदी के हिन्दी–उर्दू साहित्य की सीमा को ध्यान में रखकर ही साहित्यिक परम्परा की विभिन्न मंजिलों का सटीक विश्लेषण संभव है। यह स्वीकार करना चाहिए कि परम्परा के मूल्यांकन में अंतर्विरोध है। इस अंतर्विरोध को द्वन्द्वात्मक रूप से समझे बिना फतवा देने की प्रवृत्ति से आलोचनात्मक लेखन को क्षति ही नहीं पहुँची है, बल्कि इस बीच आलोचनात्मक इतिहास दृष्टि का भी क्षरण होता है। अतः हमें यह साफ साफ देखना चाहिए कि रंगकर्म, फिल्मों के संवाद, गीत, संगीत, गायकी के अलग–अलग घरानों में तथा मसहूर गायकों की बंदिशों से देवनागरी लिपि और फारसी लिपि का कोई झगड़ा कभी खड़ा नहीं हो पाया। ऐसा नहीं है कि यहां सांस्कृतिक फूट परस्त नीतियों के तहत अंग्रेज तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और मुस्लिम तत्ववादियों ने कुचक्र फैलाने की कोशिश नहीं की, लेकिन सजग लेखक हमेशा 'मनुष्यता' के लिए लड़ते रहे। हकीकत तो यह है कि एक ही भाषा की दो लिपियां रही हैं और हो भी सकती है।

अब यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि द्विवेदी युग में यह राष्ट्रीय प्रतिरूप और साहित्य किस रूप में खड़ा होता है। कहाँ वह भारतेन्दु युगीन चेतना से जुड़ता है और कहाँ उससे अलग होकर अपना स्वरूप बनाता है। वह स्वरूप क्या है? उसको कैसे देखा जाए? यह विचारणीय प्रश्न है। दरअसल 1857 के विद्रोह से बौखलाए अंग्रेजों ने 1858 में क्वीन के नाम पर किए गए तथाकथित सुधारों के द्वारा नए सामंतों के अलावा अधिकारियों, कर्मचारियों, वकीलों, नवशिक्षितों आदि के रूप में समाज में पैदा हो रहे मुखर तबकों को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने तथा अपने सामाजिक आधार के रूप में विकसित करने की प्रक्रिया तेज कर दी। इस तरह उन्होंने अठारहवीं सदी के सामाजिक जीवन में आकार ले रहे मध्यवर्ग का गला घोंट कर एक नए मध्यवर्ग का सृजन किया जिसकी जड़ें समाज की सतह पर बिखरी हुई थीं। इस नए मध्यवर्ग का अपनी परम्परा से रिश्ता अंग्रेजों से घुट्टी में मिले औपनिवेशिक मूल्यों और संस्कारों के माध्यम से जुड़ता था। इसी नये मध्यवर्ग ने आगे चलकर अपने जन्मदाता अंग्रेजों द्वारा पेश की गई भारतीय परम्परा की विशिष्ट आध्यात्मिक पुनर्व्याख्या के रूढ़िवादी–मनुवादी स्वरूप को अपने सहोदर नवसामंतों के लिए छोड़कर इसके उदार वेदांती संस्करण को अपनी विचारभूमि के रूप में चुना और इसी पर खड़े होकर 'हिन्दी नवजागरण' और 'स्वाधीनता आन्दोलन' का संचालन किया। हकीकत तो यह है कि 'हिन्दी नवजागरण' के लिए धर्मनिरपेक्षता का मतलब अधिक से अधिक सर्वधर्मसंभाव था, क्योंकि अपनी परम्परा के धर्मनिरपेक्ष पहलुओं से इसकी जान पहचान नहीं थी। और अपने औपनिवेशिक संस्कारों के मुताबिक इनसे भारतीयों को धार्मिक समुदायो में बाँटकर ही देखना सीखा था। इस प्रकार 'हिन्दी नवजागरण' 1857 की अगली कड़ी नहीं, बल्कि संवेदना और मूल्यबोध के क्षेत्र में 1857 से प्रत्यावर्तन था। यानी ठीक शब्दों में कहें तो पीछे की तरफ एक लम्बी वेदांती छलांग। अतः हमें 'हिन्दी नवजागरण' पर विचार करते हुए इन अन्तर्विरोधों को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।

2.2 तत्कालीन परिदृश्य और साहित्य

'द्विवेदी युग' हिन्दी साहित्य और इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। इस युग में भारतीय जनमानस और साहित्य दोनों नई संभावनाओं की तरफ अग्रसर थे। एक तरफ स्वाधीनता आन्दोलन व्यापक जन–आन्दोलन के साथ बढ़ता है तो वहीं दूसरी तरफ साहित्य अपने स्वरूप को नई दृष्टि के साथ विस्तार देता है। भारतेन्दुकाल में साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध अनगूंज उठी थी उसका विस्तार इस युग में होता है। एक तरफ राष्ट्रीय परिदृश्य पर अंग्रेजी शासन का विरोध शुरू होता है तो वहीं दूसरी तरफ सामंती रूढ़ियों पर भी। अगर आप महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' पत्रिका के अंक देखें तो यह बात और भी स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती है। इसमें प्रकाशित लेखकों का विचार अगर आप देखें तो, यह बात स्पष्ट रूप में दिखाई देती है कि इस युग के साहित्यकारों की चिन्ताओं में सामाजिक सुधार और साम्राज्यवाद विरोध का स्वर प्रबल है। साम्राज्यवाद और उपनिवेश की शक्तियां जिस रूप में बढ़ रही थीं उसका उतना ही क्रान्तिकारी विरोध इस युग के लेखकों द्वारा व्यक्त किया जा रहा था। इस युग के लेखक दुनिया भर में चल रही समाजवादी क्रान्तियों को देख रहे थे और उनसे प्रेरणा भी ले रहे थे। अयोध्या सिंह ने लिखा है – "नये और पुराने साम्राज्यवादियों के बीच दुनिया के फिर से बंटवारे के लिए युद्ध, अर्थात् साम्राज्यवादी युद्ध उन्नीसवीं सदी के अंत में आरम्भ हो गए थे। पहला साम्राज्यवादी युद्ध 1980 में नए साम्राज्यवादी संयुक्त राज्य अमेरिका और पुराने साम्राज्यवादी स्पेन के बीच हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्पेन को पराजित कर उसके उपनिवेश पुर्तोरिको, फिलिपीन द्वीप समूह, हवाई द्वीप समूह, गुआम और पूर्वी समोआ छीन लिए। उसने क्यूबा को स्पेन से छीन लिया और अपने प्रभाव क्षेत्र में शामिल कर लिया, सिर्फ नाम के लिए उसे स्वतन्त्र रहने दिया। दूसरा साम्राज्यवादी युद्ध नए साम्राज्यवादी जापान और पुराने साम्राज्यवादी रूस के बीच 1904–05 में हुआ। जापान ने रूस को पराजित कर कोरिया और पोर्ट आर्थर पर कब्जा कर लिया, मंचूरिया से अपनी सेना हटाने को रूस को बाध्य किया और उसे अपने प्रभाव क्षेत्र में शामिल कर लिया।"[31] रूस और जापान युद्ध में रूस की हार और जापान की विजय तथा उसके बाद रूस की क्रान्ति ने खासकर एशिया के पराधीन देशों के राष्ट्रीय और जनतांत्रिक आन्दोलनों को बहुत प्रभावित किया। रूस जैसे बड़े साम्राज्यवादी देश को जब एक छोटे ऐशियाई देश जापान ने पराजित किया तो पराधीन देशों की जनता के अन्दर यह विश्वास पैदा हो गया कि साम्राज्यवादियों की शक्ति अजेय नहीं है। भारतवासियों ने भी उस समय रूस की हार पर खुशी मनाई और जापान की तारीफ करते हुए पत्रिकाओं में लेख भी लिखे।

साम्राज्यवादी रूस की हार पर और रूसी क्रान्ति के प्रभाव के बारे में लेनिन ने कहा था कि – "विश्व पूंजीवाद और रूस के 1905 के आन्दोलन ने एशिया को अंततः जगा दिया है।"[32] इस बात की पुष्टि 1905 की 'सरस्वती' में 'जापान की जीत' का कारण विषय पर छपे एक लेख में होती है। इस लेख का लेखक कौन था इसका नाम पत्रिका में नहीं है। इस लेख में भारती की तत्कालीन स्थिति को ध्यान में रखते हुए उस लेखक ने रूस जापान युद्ध में जापान की जीत के कारण बताए हैं। जिस जातिगत दंश से यह देश पिछड़ा हुआ था उस पर प्रहार करते हुए उस लेखक ने लिखा है – "यह निश्चय करके जापान ने जातिभेद को उठा दिया। सामाजिक दृष्टि से किसान और प्रधानमंत्री एक हो गए। सब जापानी एक सामाजिक सूत्र में बंध गए। परस्पर शादी–विवाह होने लगे।"[33] इस लेखक ने इस बात पर जोर दिया कि जब तक भारतीय जनता अपनी रूढ़िवादी ऊँच–नीच भेद से ऊपर नहीं उठेगी तब तक वह साम्राज्यवाद का विरोध नहीं कर सकती है। इसके साथ इस लेखक ने जमींदारी और ताल्लुकेदारों के खात्मे पर भी जोर दिया। उन्होंने लिखा – "जापान में छोटे–छोटे तअल्लुकेदारों ने अपनी तअल्लुकेदारी को सुपुर्द करके राजा की शक्ति बढ़ा दी थी।"[34] यही नहीं उस लेखक ने आगे लिखा है – "इस जीत का प्रधान कारण जापान की विज्ञान वृद्धि है। यदि जापान में अनेक प्रकार की विज्ञान शिक्षा की उन्नति न होती तो कदापि जापान आज रूस–विजयी न कहलाता।"[35] इस लेख में लेखक ने अनेक प्रश्नों के साथ विश्लेषित करने का प्रयत्न किया है कि हमें अपने कूपमंडूकता से ऊपर उठकर विज्ञान के तरफ बढ़ना होगा तभी हम साम्राज्यवादी शक्तियों से सशक्त रूप में लड़ पायेंगे। लेखक इस लेख के माध्यम से आधुनिक विज्ञान पद्धति का स्वागत करते हुए जहां सामंती संस्कारों पर प्रहार किया वहीं इसको राष्ट्रीयता से जोड़ते हुए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ भारतीयों के एकजुट होने का आह्वान भी किया। द्विवेदी युगीन लेखकों को यह लगता था कि अगर देश को सामंतवाद और अंग्रेजी शासन के खिलाफ लड़ना है तो वैज्ञानिक पद्धति के साथ शिक्षा को जोड़ना बहुत जरूरी है। जापान जिस तरह से अपने देश में वैज्ञानिक शिक्षा के माध्यम से विकास कर रूस को हराया था वह तत्कालीन लेखकों के लिए प्रेरणास्रोत था। तभी उस लेखक ने लिखा – "यदि जापान में विज्ञान का प्रवेश न होता तो वह विदेशियों द्वारा अब तक पददलित हो गया होता, उसका बाल सूर्य्यधारी झंडा गिर गया होता, उसकी जातीयता का सर्वनाश हो गया होता, पराक्रमी समुराइयों के खून की नदियां बहाकर शान्तसागर में शान्त हो गई होती और अपने पुराने बेढंग शास्त्रों को लेकर अर्वाचीन शस्त्रधारी विदेशियों के सामने जापान के देशभक्त जापानी एक–एक कटते गये होते। परन्तु विज्ञान ने जापान को इस

भयंकर विनाश से बचा लिया।"[36] द्विवेदी युगीन लेखक इस बात को समझ गए थे कि अंग्रेजों ने इस देश के लोगों में तुच्छता की धारणा बैठा दी है। इस तुच्छता से लड़ना और उससे बाहर जनता को निकालने कि जिम्मेदारी द्विवेदी युगीन लेखकों पर थी, जिसका उन्होंने भरपूर निर्वहन किया।

बीसवीं सदी के आरम्भ में साम्राज्यवाद विरोधी भावना और राष्ट्रीय आन्दोलन को बढ़ाने वाली अन्य घटनाएं भी हैं। इसमें बक्सर विद्रोह (1899–1907) और चीन की क्रान्ति (1911) प्रमुख हैं। चीन के क्रान्ति पर भी 'सरस्वती' पत्रिका में कई लेख प्रकाशित हो चुके हैं जैसे – अप्रैल 1911 में 'चीन का समाचार पत्र', 'सितम्बर 1915 में चीन में सामाजिक परिवर्तन', 'चीन की जागृति' इत्यादि शीर्षक से प्रकाशित आलेख हैं। फरवरी 1913 की 'सरस्वती' में लंदन स्थित सुन्दरराज के लेख 'भारतीय युवकों का उलाहना' का जिक्र रामविलास शर्मा ने किया है। उसमें रामविलास जी ने एक बात बताने की कोशिश की है कि किस प्रकार उस समय के लेखक भारतीयों को स्वदेश प्रेम का सन्देश दे रहे थे। उन्होंने लिखा है – "इस लेख के आरम्भ में सुन्दरराज ने अपनी चीन यात्रा की चर्चा की है। शंघाई में उनकी बातचीत चीनी भाषा के एक समाचारपत्र के सम्पादक से हुई। वहाँ उन्होंने चीनी छात्रों को विदेश–यात्रा के लिए प्रस्थान करने से पहले उस सम्पादक से विदा लेते देखा। इसके बारे में उन्होंने लिखा – "उस समय मैंने एक ऐसा अपूर्व दृश्य देखा जिसका प्रभाव आज तक मेरे हृदय में मिटाये नहीं मिटता। सैकड़ों युवा उक्त सम्पादक से विदेश यात्रा के लिए विदा ले रहे थे। जब वे सम्पादक के कार्यालय से बाहर निकले तब उनके चेहरे पर ऐसा अनुपम भाव व्यंजित हो रहा था जिसे मैंने किसी जाति के चेहरों पर कभी देखा ही नहीं। दृढ़ता उनके चेहरे से टपक रही थी। यह इसी दृढ़ता का फल है जो आज हम चीन में जागृति का प्रबल प्रादुर्भाव देखते हैं। उन विद्यार्थियों की विदेश यात्रा मानो यह सूचित करती है कि पुराने निःसार विचार नये उन्नतिशील विचारों के लिए स्थान खाली कर रहे हैं। उस समय मुझे आशा हुई थी कि ऐसे ही भाव शायद मुझे अपने देशवासियों के चेहरे पर देखने को मिले। पर वह आशा निष्फल ही रही। हजारों भारतीय युवक शिक्षा प्राप्त करने इंग्लैण्ड आते हैं। परन्तु उनमें वह बात, वह स्वदेश प्रेम कहाँ जो मातृभूमि की दशा सुधारने के लिए मनुष्य को दृढ़ चित्त बनाता है।"[37] यह बात उस समय के लेखकों की चिन्ता में शामिल थी कि जो चीनी छात्र या जापानी विदेश जा रहे हैं वह अपने स्वदेश लौटने पर अपने देश के लिए काम करते थे। वही भारतीय जब विदेश जाते थे तो 'बैरिस्टर' या बड़े पदों पर नियुक्त होकर, अपनी ही जनता को लूटते थे या हिकारत भरी नज़रों से देखते हैं। इस औपनिवेशिक

मानसिकता के खिलाफ द्विवेदी युगीन लेखक लड़ रहे थे। हकीकत तो यह है कि इस लड़ाई में हमें आज तक कोई सफलता नहीं मिली। आज जाति व्यवस्था, इलिटनेशपन अपना रूप विकराल कर लिया है। हम आज भी उस दंश को झेल रहे हैं जिनके खिलाफ द्विवेदी युगीन लेखक लड़ रहे थे। उस समय के लोगों के लिए जो विदेश जाकर विदेशी हो जाते थे। उनके लिए सुन्दरराज ने लिखा है – "ज़रा अपने जापानी और चीनी भाईयों की ओर देखो और यदि तुम्हारे ह्रदय में अपने देश के प्रति कुछ भी हो तो उनका अनुसरण करो और उनके पद चिह्नों पर चलो।"[38]

भारतीय इतिहास के जिस दौर में द्विवेदी युग खड़ा हो रहा था राजनीतिक स्तर पर उहापोह की स्थिति थी। 1857 में जिस एकता का हिन्दी प्रदेश ने परिचय दिया था वह सपना धीरे–धीरे टूट रहा था। एक तरफ तो अंग्रेजों के खिलाफ भारतीय जनमानस लामबंद हो रहे थे, लेकिन दूसरी तरफ उसके विभाजन की स्पष्ट झलकियाँ भी दिखने लगी थी। 1885 से लेकर 1906 तक का समय इसका गवाह है। "1885 का वर्ष वह समय था जब अंग्रेज इस गुमान में थे कि भारत में इनका राज चिरस्थायी है। आठ वर्ष पूर्व देश में अकाल की विभीषिका के बीच एक शानदार दरबार लगा था जिसमें भारत के ब्रिटिश साम्राज्य का अंग होने की घोषणा की गई थी। पितृक्त कल्याणकारी राज्य की विचारधाराएं और साथ में कभी–कभी ट्रस्टीशिप की और स्वायत शासन के प्रशिक्षण की बातें पूर्णरूपेण श्वेत और निरंकुश राज्य की वास्तविकताओं पर शायद ही पर्दा डाल सकने में समर्थ रही हों। ..... 1885 से लगभग दस वर्ष पहले पूर्वी बंगाल में जमींदारों की ज्यादतियों के खिलाफ सशक्त कृषक आन्दोलन, दक्कन–महाराष्ट्र में साहूकार विरोधी दंगे, और आंध्रप्रदेश में 'रम्पा' क्षेत्र में सशक्त आदिवासी विद्रोह हो चुके थे। किन्तु इन सभी आन्दोलनों का आक्रामक रूख सामने मौजूद अत्याचारी की ओर अधिक और दूरस्थ ब्रिटिश आकाओं की ओर कम रहता था। मिसाल के लिए 1873 में पबना के किसान केवल 'महारानी विक्टोरिया' की ही रैयत बनना चाहते थे। 'फूट डालो और राज करो' की नीति के लिए यहां पर्याप्त वस्तुगत आधार मौजूद थे। जैसे पूर्वी बंगाल में मुसलमान किसान और हिन्दू जमींदार थे। मालाबार में भोपला मुसलमान किसान और नंबूदरी अथवा नाचर सवर्ण हिन्दू जमींदार थे। संयुक्त प्रान्त के कुछ हिस्सों में मुसलमान ताल्लुकदार और हिन्दू काश्तकार थे या पंजाब में हिन्दू साहूकार तथा व्यापारी और मुसलमान या सिख किसान थे।"[39] इस परिस्थिति में द्विवेदी युगीन रचनाकारों को देशी सामंतवाद से भी लड़ना था और विदेशी साम्राज्यवाद से भी। इन रचनाकारों के यहां जो राष्ट्रीय आन्दोलन खड़ा हो रहा था उसके अभिजात तथा बुद्धिजीवी वर्ग की सीमाएं भी

उपस्थित हो रही थी। आगे चलकर इन्हीं अभिजात तथा बुद्धिजीवी वर्ग की सीमाओं के कारण देश तो आजाद हो गया लेकिन आजाद देश के जिस स्वरूप का सपना लेकर चले थे वह अधूरा रह गया। फैज़ की वह पंक्ति याद आती है :

'ये दाग दाग उजाला, ये शबगजीदा सहर,
वो इन्तजार था जिसका, ये वो सहर तो नहीं
ये वो सहर तो नहीं जिसकी आरजू लेकर
चले थे यार कि मिल जायेगी कहीं न कहीं
फलक के दश्त में तारों की आखिरी मंजिल
कहीं तो होगा शब–ए–सुस्त मौज का साहिल।'

दरअसल जिस राजनीतिक और सामाजिक जागरण ने ऐसे संगठन पैदा किए थे जो धर्मनिरपेक्ष थे जिनका आधार वर्गीय था। वे किसी धर्म या सम्प्रदाय का नहीं बल्कि वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे। देश के अंदर राजनीतिक चेतना बढ़ाने में इन्हीं वर्गीय संगठनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। वहीं दूसरी तरफ इस जागरण में धार्मिक पुनरुत्थानवादी और सुधारवादी आन्दोलन चलाने वाले हिन्दुओं, मुसलमानों और पारसियों ने जिस संगठन को जन्म दिया वही कारण बने अंग्रेजों की नीति (फूट डालो और राज करो) को सफल बनाने में।

1885 में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। सारे देश में राष्ट्रीय आन्दोलन को संगठित करके पृथक–पृथक आन्दोलनों में शक्ति नष्ट करने की जगह सर्वमान्य राजनीतिक कार्यक्रम अपनाकर एक शक्तिशाली आन्दोलन की प्रबल भावना के परिणामस्वरूप इसकी नींव रखी गई थी। इस संगठन की नींव रखने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने ब्रिटिश भारत की राजधानी और राष्ट्रीय आन्दोलन के शक्तिशाली केन्द्र 'कलकत्ता' को चुना था। प्रश्न उठता है कि तब मुम्बई में ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की भारत सरकार के भूतपूर्व सचिव (1870–79) और रिपन तथा डफरिन के गैर सरकारी सलाहकार एलेन अक्टोवियन ह्यूम। ए.ओ. ह्यूम के नेतृत्व में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना की जरूरत क्यों आ पड़ी? इस पर प्रकाश डालते हुए अयोध्या सिंह ने लिखा है – "कांग्रेस का जन्म इसलिए हुआ कि ब्रिटिश शासक और पैरोकार इसकी जरूरत समझते थे। यह राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वाभाविक विकास नहीं, राष्ट्रीय आन्दोलन में साम्राज्यवादियों और उपनिवेशवादियों के हस्तक्षेप का परिणाम था।"[40] लेकिन कांग्रेस की स्थापना अंग्रेजों ने जिस विचार से किया था वह धीरे–धीरे टूटता चला गया। 1888 का वर्ष

कांग्रेस के इतिहास में बड़े संकट का वर्ष था। अंग्रेजों ने जिस चालाकी से इस संगठन को बनाया था वे उसे तोड़ने की कोशिश भी करने लगे। "मद्रास उत्तर और दक्षिण भारत में वितरित पुस्तिकाओं में अपनी आलोचना देखकर ब्रिटिश नौकरशाह आग बबूला हो गए। कांग्रेस को नेस्तनाबूद कर देने के लिए वे अपने वफादार चाकरों और खैरख्वाहां को लेकर उस पर टूट पड़े। एक तरफ वायसराय डफरिन और पश्चिमोत्तर प्रदेश के गर्वनर कोलविन, दूसरी तरफ से बनारस के राजा और हैदराबाद के नवाब ने, तीसरी तरफ सैय्यद अहमद और राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने, चौथी तरफ से ब्रिटिश इंडियन एशोसिएशन ने तथा पांचवी तरफ से सर दिनशा मानकजी पेटिट और तिकड़मबाजी कर मुसलमानों और पारसियों को, हिन्दुओं के एक बड़े हिस्से को जमींदारों और धनीमनी व्यक्तियों को कांग्रेस से अलग कर देने और उसका दुश्मन बना देने की कोशिश की।"[41] इस कोशिश में पूरी तरह अंग्रेज सफल नहीं हुए। कांग्रेस को वो समाप्त तो नहीं कर पाये लेकिन हिन्दू–मुस्लिम अलगाववाद की नींव रख दी जिसका बड़ा परिणाम 1906 में 'मुस्लिम लीग' की स्थापना से शुरू हुआ।

अब इस बात पर विचार कर लेना लाजमी है कि क्या मुस्लिम लीग की स्थापना सिर्फ अंग्रेजों की देन है?

"इस शाम को मुझे एक अफसर से निम्नलिखित पत्र मिला है – 'मैं महामना को यह समाचार दिए वगैर नहीं रह सकता कि आज एक बहुत, बहुत बड़ी घटना हो गई है। यह राजनीतिज्ञता का ऐसा काम है जिसका असर भारत और भारतीय इतिहास पर बहुत वर्षों तक बना रहेगा। यह छह करोड़ बीस लाख लोगों को राजद्रोही प्रतिपक्ष की कतारों में शामिल होने से रोककर पीछे खींच लेने से किसी भी प्रकार कम नहीं।"[42]

लेड़ी मिन्टो ने अपनी डायरी में यह 1 अक्टूबर 1906 को दर्ज किया है। यह कौन सी घटना थी जिसका जिक्र मिन्टो द्वारा किया जा रहा था। वह क्या था जिसका असर भारतीय इतिहास और भारत पर बहुत वर्षों तक पड़ने वाला था। दरअसल यह घटना 1 अक्टूबर 1906 को आगा खां के नेतृत्व में मुसलमानों के एक प्रतिनिधिमंडल का वायसराय मिन्टो से मिलना, ब्रिटिश शासकों के प्रति मुसलमानों की वफादारी का इजहार करना कुछ विशेषाधिकारों के लिए आवेदन करना तथा मिन्टो द्वारा उन आवेदनों को स्वीकार करना था। ब्रिटिश शासन इस घटना को अपनी बड़ी भारी सफलता समझता था। उन्हें यह विश्वास हो गया था कि इसके जरिए वे भारत के 6.2 करोड़ मुसलमानों को स्वाधीनता आन्दोलन से अलग रख सकते हैं।

सैय्यद अहमद ने इंडियन कांग्रेस का विरोध आरम्भ से ही किया था। जब ब्रिटिश शासकों का रूख कांग्रेस के खिलाफ होने लगा तो सैय्यद अहमद ने उस पर हमले और भी तेज कर दिए। उन्होंने कोशिश की कि अधिकतर लोग इस संगठन से दूर रहें। सैय्यद अहमद का यह अभियान कितना सफल हुआ यह अलग विचारणीय प्रश्न है। इस संबंध को लेकर द्वन्द्वात्मक दृष्टि अपनाने के बजाय कुछ बड़े विद्वानों द्वारा बड़ी गलतियां की गईं। जाने–अनजाने वे साम्राज्यवादियों के अलावा हिन्दू या मुस्लिम साम्प्रदायिकतावादियों के प्रचार का शिकार हुए हैं। साम्राज्यवादियों और साम्प्रदायिकवादियों ने यह दिखाने की कोशिश की कि कांग्रेस सिर्फ हिन्दुओं का संगठन है। मुसलमान इससे अलग रहे। जो मुसलमान कांग्रेस में थे वे मुसलमानों के प्रतिनिधि न थे। वहीं हिन्दू साम्राज्यवादियों ने यह दिखाने की कोशिश की कि मुसलमान राष्ट्रीय आन्दोलन से आमतौर पर अलग रहें। वे सबसे पहले मुसलमान थे बाद में भारतीय। यह सही बात है कि मुसलमान प्रतिनिधियों का प्रतिशत 1893 के बाद आमतौर पर संतोषजनक न था। रुझान गिरावट की तरफ ही था। निश्चित रूप से इसका एक खास कारण सर सैय्यद अहमद और ब्रिटिश शासकों का विरोध था। ब्रिटिश शासकों की मेहरबानी से 1890 के बाद होने वाले हिन्दू–मुस्लिम दंगों, गोवध विरोधी आन्दोलन, हिन्दी–उर्दू विरोध आदि भी एक हद तक कांग्रेस से मुसलमानों को अलग रखने में सहायक हुए। लेकिन इन सबसे बड़ा कारण था कांग्रेस के अंदर पैदा हुए गरमदल का धार्मिक और सामाजिक मामलों में कठमुल्लापन। अगर तिलक, विपिनचन्द्रपाल और लालालाजपत राय वगैरह ने धार्मिक और सामाजिक मामलों में वही उदार रूख अपनाया होता जो नरमदल वालों ने अपनाया था, तो सैय्यद अहमद और ब्रिटिश शासकों का भी किसी भी प्रकार का विरोध मुसलमानों को बड़ी संख्या में कांग्रेस में शामिल होने से न रोकता।

मुसलमानों के बहुत बड़े हिस्से को 1905–1907 के राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्ताल तरंग से अलग रखने में सैय्यद अहमद के प्रेम से ज्यादा हमारे उग्र राष्ट्रवादी नेताओं के धार्मिक और सामाजिक कूपमंडूकता का प्रेत सहायक हुआ। इन बातों को भूलकर, बिना द्वन्द्वात्मक हुए यह कह देना कि 'वे सब मुसलमान पहले थे और भारतीय बाद में थे' इतिहास को विकृत करना और हिन्दू साम्प्रदायिकता के हाथ खेलना है। वस्तुतः धार्मिक भेदभाव के बावजूद हिन्दुओं और मुसलमानों के स्वार्थ एक थे, लेकिन दोनों सम्प्रदाय के धार्मिक पुनरुत्थानवादी नेताओं ने अपने स्वार्थ के कारण एक राष्ट्र की दो कौमों का बंटवारा कर दिया और अंग्रेजों की नीति 'फूट डालो और राज करो' को सफल बनाने का नया मैप तैयार कर दिया।

एक तरफ तो हिन्दू–मुस्लिम बंटवारे की आग धधक रही थी, वहीं दूसरी तरफ उन्नीसवीं सदी के अंत और 20वीं सदी के प्रारम्भ में सामाजिक आन्दोलन भी चल रहे थे जो ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ अपना स्वर मजबूत कर रहे थे। 1875 में फूले ने 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की जिसका उद्देश्य था गैर ब्राह्मण लड़कियों की शिक्षा की व्यवस्था करना। पिछड़े तबकों और दलितों तक अपनी आवाज को पहुंचाने के लिए फुले ने कविताओं, नाटकों और संवाद जैसे माध्यमों का भी सहारा लिया। जाति–व्यवस्था और ब्राह्मणवाद के विरोधी रहे फुले ने मराठी में 'गुलामगीरी' लिखकर हिन्दूवादी व्यवस्था की खामियों को उजागर करने का प्रयास किया। कांग्रेस की स्थापना के वर्ष 1885 में 'गुलामगीरी' का अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित किया। ताराबाई सिन्दे ने भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरोध में 1882 में एक पुस्तक लिखा, जिसका नाम था – 'स्त्री–पुरुष तुलना' (Comparision of women and men)। इस पुस्तक में उन्होंने पुरुषवादी समाज पर चोट करते हुए प्रश्न उठाया कि 'सावित्री अपने पति की जान बचाने के लिए यम के पास गई लेकिन कभी आपने सुना है कि किसी पति ने अपनी पत्नी की जान बचाने के लिए इस तरह का प्रयास किया है।"[43] महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध उन्होंने पुराण की कहानियों के संदेश को दृष्टांत बनाया और समाज में व्याप्त बुराईयों को मिटाने का प्रयास किया।

महाराष्ट्र में चल रहे इस सामाजिक आन्दोलन से द्विवेदी युगीन लेखक काफी प्रभावित थे। वे ये जानते थे कि अगर इस देश में स्वाधीनता आन्दोलन की लड़ाई को तेज करना है तो हमें तीन स्तरों पर लड़ना होगा। पहला – साम्राज्यवादी शक्तियों के खिलाफ, दूसरा – सामंतवादी और ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ, तीसरा – साम्प्रदायिक शक्तियों के खिलाफ। जापान, चीन इत्यादि देशों की क्रांतियों का विश्लेषण कर और उसके पक्ष में भारतीयों को एकजुट करने के दिशा में लगातार ये लेखक लिखते रहे। वहीं विज्ञान और वैज्ञानिक शिक्षा पर जोर देकर ये उसी सामंती और ब्राह्मणवादी संरचना को तोड़ना चाहते थे, जो वर्षों से इस देश में दलितों के शोषण का कारण बनी हुई थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी का मराठी नवजागरण से गहरा संबंध था। द्विवेदी जी ने मराठी नवजागरण से संबंधित दस से अधिक आन्दोलनकारी, गायकों, पुरुषों और स्त्रियों की जीवनियां लिखी। इसमें ताराबाई, रूख्साबाई, झाँसी की रानी, कुमारी गोदावरी बाई आदि मुख्य है। इन लोगों की जीवनी लिखने का द्विवेदी जी का साफ मतलब यही था कि साम्राज्यवादी तथा सामंतवादी शक्तियों के खिलाफ आमजन को खड़ा करना। 'सरस्वती' पत्रिका का कार्य–भार संभालते ही द्विवेदी जी एक तरफ सामाजिक बुराईयों को सुधारने का प्रयास करते हैं तो वहीं दूसरी तरफ हिन्दी भाषा को।

सन् 1914 के 'सरस्वती' में प्रकाशित 'हीराडोम' की एक कविता द्विवेदी जी छापते हैं। इस कविता को पढ़ने पर साफ दिखता है कि भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के दंश से दलित जातियां कितना त्रस्त थीं। हीराडोम की कविता 'अछूत की शिकायत' की पंक्तियाँ देखें :

"हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी
हमनी के सहेब से मिनती सुनाइबि।
हमनी के दुख भगवानों न देखता ते,
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।
....
हमनी क इनरा के निगिचे न जाइलेजां
पांके से पिटि–पिटि हाथ गोड़ तुरि दैलें,
हमने के एतनी काही के हकलानी।"[44]

इसके साथ ही साथ द्विवेदी युगीन लेखक साम्राज्यवाद के विरोध में मजदूरों और किसानों के योगदान और उनकी हड़तालों पर भी गर्मजोशी से लिख रहे थे। मई 1907 की 'सरस्वती' में माधवराव सप्रे का एक लेख प्रकाशित हुआ। लेख का शीर्षक था – 'हड़ताल'। उक्त लेख के आरम्भ में ई.आई. रेलवे के तारबाबुओं की हड़ताल का जिक्र है। इसके साथ मिल मजदूरों की हड़तालों का भी हवाला है। कई पुतलीघरों के मजदूरों ने भी हड़ताल की है। इनके अलावा भी हड़तालों का सिलसिला बढ़ता जा रहा था। सप्रे जी कहते हैं – "जमालपुर और आसनसोल में तो कुछ समय हुआ हड़तालों में तेजी बहुत बढ़ गई थी। बंगाल–नागपुर रेलवे, नार्थ–वेस्टर्न रेलवे, अवध–रुहेलखण्ड रेलवे और अन्य स्थानों में भी हड़ताल होने की आशंका हुई थी और (अब) भी कहीं–कहीं है। कोई–कोई कहता है कि इस समय हिन्दुस्तान में हड़तालों की बीमारी फैली है, कोई कहता है कि यह 'स्वदेशी आन्दोलन' का परिणाम है। कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि हड़तालों का वास्तविक संबंध औद्योगिक और आर्थिक विषयों से ही है। किसी–किसी विशेष राजनीतिक स्थिति में हड़तालों का उपयोग होता है।"[45] राजनीति का प्रश्न अलग रखकर केवल आर्थिक दृष्टि से हड़तालों का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं – "जब किसी देश की सम्पत्ति थोड़े से पूंजीवालों के हाथ में आ जाती है और अन्य लोगों का मजदूरी से अपना निर्वाह करना पड़ता है, तब पूंजीवाले अपने व्यापार का सब नफा स्वयं आप ही ले लेते हैं, और जिन लोगों के परिश्रम से यह सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है और अन्य लोगों को मजदूरी से अपना निर्वाह करना पड़ता है, तब पूंजीवाले अपने व्यापार का सब नफा स्वयं आप ही ले लेते हैं और जिन लोगों के परिश्रम

से यह सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है, उसको वे पेटभर खाने को नहीं देते। ऐसी दशा में श्रम करने वाले मजदूरों को हड़ताल करनी पड़ती है।"[46] इन हड़तालों से मजदूर वर्ग को रेखांकित करते हुए सप्रे जी यह दिखाते हैं कि किस प्रकार पूंजीपतियों की मनमौजी चलती रहती है। इस लेख में जातिगत सवालों पर कुछ प्रश्न न उठाते हुए केवल पूंजीपतियों तक ही उनकी दृष्टि सीमित रहती है, यह उनकी सीमा को भी रेखांकित करता है। आगे चलकर महावीर प्रसाद द्विवेदी अपनी पुस्तक 'सम्पत्तिशास्त्र' में इस आर्थिक विवेचन और निर्धनता को व्यापक रूप में आत्मसात करते हैं। सप्रे जी जिन आर्थिक कारणों से मजदूरों की निर्धनता को बताते हैं उसी से संबंधित विवेचन से द्विवेदी जी के 'सम्पत्तिशास्त्र' की पृष्ठभूमि तैयार होती है।

द्विवेदी कालीन लेखकों में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुलेरी जी ने अपने निबंधों के माध्यम से देश में व्याप्त अंधविश्वासों पर प्रहार किया। 'कछुआ धर्म', 'आँख', 'मारेसि मोहि कुठाऊँ' जैसे निबंधों से वह भारतीय समाज में व्याप्त अंधविश्वास और कुरीतियों पर तीव्र प्रहार किए। यही नहीं इस युग के महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, गोविन्दनारायण मिश्र इत्यादि लेखक भी भारतीय अंधविश्वास और कूपमंडूकता की तार्किक व्याख्या कर सामाजिक सुधार और आन्दोलनों की व्यापक जमीन खड़ा कर रहे थे। एक तरफ ये लेखक सामाजिक सुधार और आन्दोलनों के साथ खड़े होकर भारतीय सामंती व्यवस्था का स्वरूप उजागर कर रहे थे तो वहीं दूसरी तरफ साम्राज्यवाद विरोधी चेतना से इतिहास का पुनर्मूल्यांकन भी प्रस्तुत कर रहे थे। रामविलास शर्मा ने 'सरस्वती' में प्रकाशित आलेखों पर विचार करते हुए लिखा है कि "भारत तथा अन्य देशों के स्वाधीनता–संग्रामों, फ्रांस, रूस आदि देशों की राज्यक्रांतियों पर 'सरस्वती' में जो सामग्री प्रकाशित हुई वह इतिहास का ज्ञान कराने के अलावा समकालीन संदर्भ में भारतीय जनता को अपने स्वाधीनता संघर्ष में प्रेरणा देने वाली थी। यह भारतीय इतिहास को विश्व इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न था।"[47]

भारतीय जिस अंधविश्वास की बैलगाड़ी पर चल रहे थे उस पर प्रश्न उठाते हुए इस काल के लेखकों ने कई वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया। गुलेरी जी का एक निबंध है – "सांप काटने के विलक्षण उपाय।' इस लेख में गुलेरी जी उस अंधभक्ति पर चोट करते हैं जो कई वर्षों से केवल रीति के नाम पर चलती आ रही है और जिसने एक कुरीति को जन्म दिया है। उन्होंने नामों की महिमा का उल्लेख करते हुए बताया है कि धीरज सिंह एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनके नाम का स्मरण कर लेने से और उनके यहां पहुँच जाने से साँप का विष नहीं चढ़ता है। वे बताते हैं कि धीरज सिंह एक समय उच्चकुल की सर्पिणी को एक नीच कुल

के सर्प से सहवास करते देख लिया था। उन्होंने मर्यादा की रक्षा करते हुए बेंत की चोट मारकर उन दोनों को अलग कर दिया। वह सर्पिणी उस नीच कुल साँप से बोली राजा को मारने के लिए, लेकिन वह 'का पुरुष ने दुम दबाकर अपनी बहकाई हुई प्रेयसी को बेंत का चोट स्मरण करने के लिए छोड़ दिया।' फिर वह सर्पिणी अपने वास्तविक पति (उच्चकुल वाले) के पास आकर राजा को मारने के लिए कहती है यह बताकर कि राजा ने उसके साथ प्रमाद किया। जब सर्प राजा के पास जाता है तो उसे सच्चाई पता चलती है। वह राजा से वर मांगने के लिए कहता है और राजा वर मांगता है कि कोई भी सांप किसी को काटे वह मेरा नाम ले ले और यहां आ जाए तो वह मरेगा नहीं। सांप तथास्तु कहता है और चला जाता है, तब से लोग वहां जाकर ठीक हो जाते हैं। गुलेरी जी इस पर आगे लिखते हैं, "यदि सत्य है तो इस विषय की जांच होनी चाहिए जब मकसूदनगढ़ के ठाकुर साहब प्रत्येक सांप के काटे को भला चंगा करके उसे वस्त्र देकर सत्कार करते हैं, तब अवश्य ही वे रजिस्टर रख सकते हैं। उसमें लिखा जाना चाहिए कि आमुक दिन साँप का काटा अमुक व्यक्ति यहां आया उसके कथन के अनुसार सांप ने अमुक स्थान में इतने दिन पहले काटा था और वह चंगा होकर चला गया। यदि 10 वर्ष तक भी ऐसा नक्शा रखा जाये तो यह गवाही ऐसी प्रबल हो जायेगी कि कट्टर नास्तिक भी इसे नहीं हिला सकता।"[48] इस तरह के व्यंग्य से तमाम अंधविश्वासों पर उस काल के लेखक प्रश्न उठाते हैं और सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते हैं।

इस युग के लेखकों के यहां स्वाधीनता आन्दोलन की अनुगूंज और सामाजिक सुधार के साथ 'जातीय साहित्य' का रूप भी स्पष्ट दिखने लगता है। कालिदास, भवभूति से लेकर कबीर, तुलसी, घनानंद, देव, बिहारी जैसे कवियों की कविताओं पर व्याख्याएं लिखने की परम्परा शुरू होती है। इस जातीय साहित्य की अवधारणा का संबंध औपनिवेशिक मानसिकता के विरोध से जुड़ता है। जिस प्रकार अंग्रेजों ने अपनी जातीयता को श्रेष्ठ साबित करने के क्रम में भारतीय समुदाय को पिछड़ा बताया था उसके लिए जरूरी था कि स्वाधीनता की लड़ाई के साथ–साथ इस औपनिवेशिक चेतना से भी मुक्त हुआ जाए। इसलिए इस युग के लेखकों ने अपने साहित्य के उन लेखकों को खड़ा किया और उन पर लिखा जो श्रेष्ठ थे। हिन्दी जाति की अवधारणा कोलकत्ता से प्रकाशित हिन्दी के पहले समाचार–पत्र 'उदंत मार्तण्ड' के समय से मिलती है जो 'हिन्दुस्तानियों के हित के हेत' के नाम से उसमें छपता था। यहां यह बात स्पष्ट रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि यहां हिन्दुस्तानी का अर्थ हिन्दुओं के हित के हेतु से नहीं था। यहां हिन्दुस्तानी का प्रयोग हिन्दी पट्टी से था जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों रहते थे। द्विवेदी काल में निकलने वाली पत्रिका 'समालोचक' में क्रममाला के

रूप में एक लेख निकला जिसका शीर्षक था 'जातीय साहित्यलोचना की अवधारणा' इस लेख की पंक्तियां देखें : "समाज का उद्यम और आकांक्षा, प्रवृत्ति और निवृत्ति, आशा और प्रेम, नीति और प्रेम यह सब साहित्य का उत्पादन है। साहित्य के उक्त सर्वव्यापी सार्वभौमिक लक्षण न्यारे–न्यारे देश और समाज में स्वतन्त्र आकार में प्रकटित होते हैं। उन्हीं से जातीय साहित्य का उद्‌भव होता है।"[49] यहां स्पष्ट रूप से यह दिखता है कि लेखक का जातीयता से सीधा संबंध 'समाज में स्वतन्त्र आकार' से है। आगे इसी क्रम में लेखक ने लिखा हे – "हमारा देश यूरोप नहीं है, हमारे देश में जल, वायु और ऋतुओं का वैचित्र्य होना, हमारे लतापता, गिरिपर्वत, नद–नदी, हमारे पशु–पक्षी, हमारे कीट–पतंग सर्वोपरि हमारे बालक–बालिका, हमारे युवक–युवती, हमारे वृद्ध–वृद्धा, हमारा घर–बाहर, आहार, विहार, आचार नीति, धर्म कुछ भी विलायत सा नहीं है। और यही सब कल्पना की लीला भूमि है, इन सब आवलम्बनों पर ही कल्पना की स्फूर्ति है, जो सब गुण साहित्य में रहते हैं। उनके विकास का क्षेत्र ज्यों ही भिन्न होगा त्यों ही साहित्य का आकार भी जातिभेद से भिन्न होगा। जातीय साहित्य की इस प्रवृत्ति को भूलकर हम अंग्रेजी और संस्कृत साहित्य के अतुल वैभव को देखकर सोचते हैं। ज्ञानरत्नों के इन सकल महासमुद्रों के रहते बंगाल के बंगोसागर में या मराठी के अरब समुद्र में गोता भरना ठीक भी है, किन्तु हिन्दी साहित्य की तलैया में कैसे गोता भरा जाए? किन्तु हमें जानना उचित है कि जगत में नाना प्रकार के खाद्य पदार्थों के रहते भी हमारे देह पोषण के लिए जिन को संग्रह करके अन्न व्यंजन प्रस्तुत करके, हम खाते पचाते हैं, वही हमारे काम आते हैं। वैसे ही इस सकल ज्ञानभंडार में जो कुछ शिक्षणीय विषय है, वह हमारे जातीय, निज साहित्य के रूप पाकपात्र में सुसिद्ध होकर ही हमारे जातीय जीवन के रसक्त में परिणित होता होगा। चाहे किसी ज्ञान भंडार से ज्ञान संकलन किया जाए। उसमें से जो हमारी प्रकृति उपयोगी है वही हमारे साहित्य में स्थान पा सकता है।"[50] यहाँ लेखक यह मान रहा है कि ज्ञान अर्जन की प्रक्रिया में हम सभी पद्धतियों का उपयोग कर सकते हैं, लेकिन उन पद्धतियों का प्रयोग हमेशा हमें अपने साहित्य और समाज की अनुरूपता में लाकर करना होगा। हम अपनी पहचान तभी बना सकते हैं जब हमें अपनी जातीय संस्कृति और साहित्य की वास्तविक भावभूमि की समझ हो। हमारे साहित्य और जीवन का संबंध एक दूसरे से जुड़ा हुआ है और इसकी वास्तविक पहचान तभी होगी जब हम अपने साहित्यकारों की रचना और उस समय की जीवन स्थितियों को साथ–साथ देखें और व्याख्यायित करें।

द्विवेदी युगीन साहित्यकारों और आलोचकों के लिए जरूरी था कि वह अपने साहित्यकारों को नए स्वरूप से विवेचित करें। इस विवेचन के लिए ही वह जातीय साहित्य

की आवश्यकता पर बल देते हैं। आगे लेखक ने खुद लिखा है – "जातीय साहित्य और जातीय भाषा हमको जो सिखाता है वह हमारा हो जाता है। ...रोज–रोज ही हमारी आकांक्षाएं बढ़ती जायं तो हमारे साहित्य में जो कुछ है उसमें हम कुछ नया जोड़ सकते हैं। तो हम सोचेंगे कि हमारी प्रकृति जातीय साहित्य के ग्रहण के लिए उपयुक्त हुई है। इससे हम देखते हैं कि जातीय साहित्य रूप दर्पण में जातीय जीवन कैसे प्रतिबिम्बित होता है और वही जातीय साहित्य हमारे जातीय जीवन के गठन में काम देता है। जातीय साहित्य में उसके प्रतिकार की चेष्टा जातीय साहित्यालोचना की बड़ी प्रधान आवश्यकता है।"[51]

अपने साहित्य में कुछ नया जोड़ने और उसकी वास्तविक पहचान की आकांक्षा ही इस युग के साहित्यकारों को अतीत की तरफ ले जाती है। इस युग के रचनाकारों का अतीत के रचनाकारों से मोह नहीं एक संवाद स्थापित होता है। यह संवाद बहुत कुछ साम्राज्यवाद विरोध से भी जुड़ता है और अपनी परम्परा के पुनर्मूल्यांकन से भी। 1900 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा प्राचीन साहित्यकारों की कृतियों की खोज शुरू होती है और इस खोज के तथा मूल्यांकन के क्रम में हिन्दी आलोचना की पहली पुस्तक 'हिन्दी नवरत्न' (1910) आती है। दरअसल द्विवेदी युगीन आलोचना जातीय साहित्यालोचन की पहली कड़ी है। यह कहना गलत न होगा कि सन् 1900 से 1920 का समय भारतीय जनमानस और हिन्दी आलोचना के सम्वर्धन का काल है। एक तरफ 1915 में गांधी के नेतृत्व में भारतीय जनमानस स्वाधीनता के तरफ बढ़ता है तो वहीं महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु, श्यामसुन्दर दास, कृष्णबिहारी मिश्र, पद्मसिंह शर्मा जैसे आलोचकों के द्वारा आलोचना अपने जातीय साहित्य की तरफ।

2.3 हिन्दी आलोचना का सम्वर्धन काल : द्विवेदी युग

द्विवेदी युग के आलोचकों का एक सुनिश्चित मानसिक धरातल स्वाधीनता आन्दोलन और जातीय साहित्य की भावनाओं से निर्मित हुआ था। इस युग के आलोचक एक तरफ भारतीय समीक्षा पद्धति के शास्त्रीय विधान के निकट थे, तो वहीं दूसरी तरफ उनकी आलोचना दृष्टि नवीन आलोक में विकसित होने वाली पाश्चात्य सिद्धान्तों से भी टकरा रही थी। हकीकत यह है कि आधुनिक युग में जिन–जिन आलोचनात्मक पद्धतियों और शैलियों के अन्तर्गत आलोचनात्मक प्रवृत्तियों का विकास हुआ, वे सभी द्विवेदी युग में निर्मित हो रही थीं। भारतेन्दु युग में पंडित बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा बालकृष्ण भट्ट द्वारा पुस्तक समीक्षा और आलोचना के जो रूप विकसित हुए थे उसका विस्तार इस युग की आलोचना में दिखाई पड़ता है।" महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है – "इस युग के सम्पादक और समालोचक कृतियों के संबंध में केवल

दस–पाँच पंक्तियों में परिचय के तौर पर यों ही कुछ लिखकर अपने कर्त्तव्य से छुट्टी नहीं पाने लगे, अपितु उनकी दृष्टि इस ओर भी जाने लगी कि यथासम्भव समालोचना के लिए प्राप्त रचनाओं का कुछ विशद विवेचन भी हो।"[52] भारतेन्दु युग की अधिकतर पुस्तकों की समालोचना उनकी छपाई, कीमत, पृष्ठ संख्या आदि बताकर ही कर दी जाती थी, अथवा उस पर कुछ टिप्पणी लिख दी जाती थीं, लेकिन द्विवेदी युग में आलोचना की समीक्षा पद्धति इससे आगे बढ़कर रचना में व्याप्त गहराई को छूने का प्रयास करती है।

द्विवेदी युग में आलोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का विवेचन हुआ है। उसका सैद्धान्तिक पक्ष एक तरफ प्राचीन संस्कृत साहित्य के रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों को परखता है तो वहीं दूसरी ओर उसमें पाश्चात्य जगत में विकसित होने वाली व्याख्यात्मक आलोचना का भी पर्याप्त रूप देखने को मिलता है। द्विवेदी युगीन सैद्धान्तिक आलोचना का मुख्य उपजीव्य काव्य–विवेचन ही रहा, किन्तु साहित्य के अन्य अंगों का विवेचन इस युग में अपने समृद्धि को पाता है। द्विवेदी युग के 'अधिकांश आलोचक मध्य श्रेणी के व्यक्ति थे। इनके संस्कार प्राचीन भारतीय आदर्श तथा आचार–शास्त्र के अधिक निकट थे। यद्यपि युग धर्म ने उनके मानस में सुधारवादी विचारधारा और नैतिकता की विकासोन्मुखी भावना का प्रस्फुटन भी किया था, किन्तु वे अतीत के प्रति बनी हुई अपनी अवस्थाओं में इतने सुदृढ़ थे कि नवीनता का आलोक उन्हें बिना किसी सांस्कृतिक आधार के चमत्कृत और मुग्ध नहीं बना सकता था।"[53] इस युग के आलोचक साहित्य को एक 'संजीवनी शक्ति' और 'मंगलविधायिनी प्रेरणा' के रूप में देखते हैं। उनके महत्त्व का निरूपण व्यक्तिवादिता से न करके सामाजिक दृष्टिकोण से करते हैं। यही कारण है कि भक्तिकालीन साहित्य जहां उनके लिए आदर्श बनता है वहीं रीतिवादी साहित्य उनके उपेक्षा का कारण। रीतिकालीन कवि देव और बिहारी को लेकर जो भी मतभेद हैं उसमें उनके व्यक्तिवाद और सामाजिकता का अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

द्विवेदी युगीन आलोचना का स्वरूप वाद–विवाद से निर्मित होकर खड़ा हो रहा था। उस समय के आलोचकों में छोटी–छोटी बातों को लेकर कभी–कभी इतनी अधिक तन जाती थी कि तत्कालीन पत्र–पत्रिकाएं उन्हीं के विवाद प्रणाली से ओत–प्रोत रहती थीं। इसका एक बड़ा कारण था कि उस समय के अधिकांश आलोचक सम्पादक भी थे। उन्हें अपने पत्रों में अपने मन के उमंगों की उद्भावना का सर्वाधिक उपयुक्त अवसर मिलता था। इस तरह की आलोचना में साहित्य के गंभीर समीक्षा की प्रवृत्ति उतनी अधिक नहीं होती थी, जितनी भाषा

शुद्धि के आन्दोलन विषयक वाह्य विवेचन की। आचार्य शुक्ल ने इसी प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए लिखा है – "समालोचना का आरम्भ यद्यपि भारतेन्दु के जीवनकाल में कुछ न कुछ हो गया था पर उसका अधिक वैभव इस द्वितीय उत्थान में ही दिखाई पड़ता। श्रीयुत पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने पहले विस्तृत आलोचना का रास्ता निकाला फिर मिश्र बंधुओं और पं. पद्मसिंह शर्मा ने अपने ढंग पर कुछ पुराने कवियों के संबंध में विचार किये। पर यह सब आलोचना के बहिरंग बातों तक ही रही। भाषा के गुण–दोष, रस–अलंकार आदि की समीचीनता इन्हीं सब परम्परागत विषयों तक पहुँची। स्थायी साहित्य में समालोचना जिसमें किसी कवि की अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएं दिखाई जाती हैं, बहुत कम दिखाई पड़ी।"[54] शुक्ल जी की यह बात अंशतः सही है, लेकिन हमें यह देखना है कि जो विस्तृत आलोचना का रास्ता निकल रहा था, वह कैसा था। खुद शुक्ल जी के साहित्यिक धरातल का समय भी वही है।

द्विवेदी युग में प्राचीन, मध्यकालीन और नवीन धाराओं के कवियों और उनकी कृतियों का विवेचन हो रहा था। इस युग में पाश्चात्य विचारकों पर भी आलोचकों के द्वारा चर्चा की जा रही थी। यहां जो वाद–विवाद चल रहा था उसने भविष्य के आलोचकों के लिए 'आलोचना' का विस्तृत रास्ता तैयार किया। किसी कवि की सूक्ष्म अंतर्वृत्ति और उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विवेचना से ज्यादा जरूरी उस समय की आलोचना की अन्तर्ध्वनि का विश्लेषण है। हम हिन्दी आलोचना की वास्तविक जमीन को द्विवेदी युग को नकार कर या सीमित कर नहीं बल्कि उसकी विस्तृत जांच कर उसको परख कर समझ सकते हैं। द्विवेदी युगीन आलोचक "प्राचीन गौरव के प्रति आस्थावान एवं समसामयिक परिस्थितियों से असंतुष्ट थे। इनमें से पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त आदि अपने उद्यम से पश्चिमी साहित्य तथा ज्ञान–विज्ञान के विभिन्न विभागों से परिचित हुए थे, जबकि श्यामबिहारी मिश्र, शुकदेवबिहारी मिश्र, बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर, पं. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', पं. कृष्णबिहारी मिश्र आदि विधिवत् अंग्रेजी शिक्षापद्धति से विद्यार्जन कर बी.ए., एम.ए. आदि की उपाधियां पा चुके थे और पं. गोविन्द नारायण मिश्र, पं. पदम्सिंह शर्मा, माधव प्रसाद मिश्र, लाला भगवानदीन आदि मुख्यतः संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, फारसी, उर्दू आदि के ही ज्ञाता थे। बदली हुई परिस्थितियों में हिन्दी साहित्य का आदर्श और स्वरूप क्या हो, इस पर विद्वानों में अपनी–अपनी पृष्ठभूमि के अनुरूप मतभेद होना स्वाभाविक था।"[55] इस स्वाभाविकता की पहचान जरूरी है। केवल सीमित अर्थों में कह देना कि द्विवेदी युगीन आलोचना केवल 'गुण दोष' विवेचन की आलोचना है उचित मालूम नहीं पड़ता है। हिन्दी गद्य के लिए खड़ी बोली

के व्यवहारोपयोगी रूप को प्रस्तुत कर उसकी विविध विधाओं का प्रवर्तन हो गया था किन्तु पद्य में ब्रजभाषा की महिमा बनी हुई थी। इसका कारण भी था। कुछ कवियों को लगता था कि खड़ी बोली में कविता नहीं हो सकती है। एक तो अभ्यास का मामला था लेकिन उससे अधिक उर्दू के शब्दों से बचने की प्रवृत्ति भी काम कर रही थी। परिणामतः भारतेन्दु के बाद हिन्दी साहित्य में प्राचीनता के खिंचाव और परिवर्तन भीरुता के कारण बहुत कुछ यथास्थितिवादी मनोवृत्ति हावी हो गई थी। इस युग के आलोचक परम्परा से संवाद करते हुए यथास्थितिवादी मनोवृत्ति को तोड़ते हैं। इस प्रक्रिया में वह कितना आधुनिक और कितना रूढ़िवादी हुए इसका विवेचन जरूरी है। केवल इस युग की आलोचना को गुण–दोष तक सीमित करना ठीक नहीं।

हिन्दी साहित्य के वृहद इतिहास भाग–9 के आलेचना खण्ड में विष्णुकांत शास्त्री ने लिखा है – "द्विवेदी युग की केन्द्रीय विचारधारा में भारतीय यथार्थवाद, सर्वभूतहितवाद, साहित्यिक, 'कांतासम्मित उपदेशवाद' (अंशतः रसवाद भी) तथा पश्चिमी बुद्धिवाद, उपयोगितावाद, सुधारवाद और मानवतावाद का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। इसलिये इस काल में साहित्य के आनंदविधायी पक्ष, सौन्दर्यपक्ष, कलापक्ष की उपेक्षा कर उसके हितकारी, उपयोगी पक्ष पर बल दिया गया। पराधीन दरिद्र, अशिक्षित देश के साहित्यकारों से यह अपेक्षा की गई कि वे लोकोपयोगी साहित्य की सृष्टि करें। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में "साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन में बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि की तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धार बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जाएं और आत्मगौरव की उद्‌भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुंच जाए। मनोरंजन भाग के लिए प्रस्तुत किए गए साहित्य से भी चरित्रगठन को हानि न पहुँचनी चाहिए। अनुद्योग विलासिता का उद्‌बोधन जिस साहित्य से नहीं होता, उसी से मनुष्य में पौरुष अथवा मनुष्यत्व आता है।"[56] यहां 'द्विवेदी युग का केन्द्रीय पक्ष बताते हुए विष्णुकांत शास्त्री इस युग की आलोचना को केवल महावीर प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि तक सीमित कर देते हैं। यह सही बात है कि द्विवेदी की दृष्टि उपयोगितावादी थी। द्विवेदी जी की दृष्टि में सुरुचि और नैतिकता के कुछ विशिष्ट सिद्धान्त थे, जिसको प्रतिमान बनाकर वे साहित्य का परीक्षण करते थे तथा अपने सत्–असत् का रचनाओं पर आरोपण कर वे निर्णय देते थे। एक हद तक आप यह कह सकते हैं कि महावीर प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि आर्यसमाजी भावनाओं के अनुरूप सुधारवादी दृष्टि थी, जिसका केवल तत्कालीन महत्त्व था। इसका प्रमाण तब और स्पष्ट रूप से सामने आता है जब पद्मसिंह शर्मा ने सरस्वती के लिए सादी, गालिब और बिहारी पर लिखा हुआ एक लेख द्विवेदी जी को भेजा। इस लेख को

द्विवेदी जी छापते तो नहीं हैं लेकिन 1907 के 'सरस्वती' में अपनी सम्पादकीय नीति की रक्षा करते हुए उन्होंने 'कवि और कविता' शीर्षक से लेख लिखकर पद्मसिंह शर्मा की मान्यताओं का खण्डन किया। इसमें द्विवेदी जी लिखते हैं, "यदि यह कहें कि आशिकाना (शृंगारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। इश्क भी यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है। पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहने वालों का सारा रोना, कराहना, ठंडी साँसें लेना, जीते जी अपने कब्रों पर चिराग जलाना सब सच है? सब न सही उसके प्रलापों का थोड़ा सा भी अंश सच है।"[57] इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए रामविलास शर्मा लिखते हैं – "रीतिवादी कल्पना के आकाश में तीन कवि जगमगा रहे हैं – सादी, गालिब और बिहारी। यह कल्पना बाल की खाल निकालती है, दूर की कौड़ी लगती है, चमत्कार उत्पन्न करती है, यथार्थ जगत से उतनी ही दूर है जितनी धरती से आकाश।"[58] इसका सामाजिक आधार स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है – "भारत और ईरान में सामंतवाद सैकड़ों सालों से जमा हुआ था। दरबारी कविता भी सैकड़ों सालों से होती चली आ रही थी। सच और झूठ की समस्या के अलावा यह परम्परा इतनी घिसी–पिटी हो गई थी कि साहित्य की प्रगति के लिए इसे निर्मूल करना जरूरी था। हिन्दी और उर्दू दोनों रीतिवाद की आलोचना एक साथ करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं – "वही तुक, वही छंद, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इस पर भी लोग पुरानी लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैया, धनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज नहीं आते। नख–शिख, नायिका भेद, अलंकारशास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले आते हैं। अपनी व्यर्थ बनावटी बातों से देवी–देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते। फल उसका यह हुआ कि कविता की असलियत काफूर हो गई।"[59] इन बातों पर ध्यान दें तो स्पष्ट दिखता है कि अधिकतर बातें हिन्दी–उर्दू रीतिकाव्य के रूप–आकार से संबंधित है, केवल एक बात अन्तर्वस्तु पर कही गई है कि वे अपनी व्यर्थ बनावटी बातों से देवी–देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते।

भारत की प्राचीन वैचारिक परम्पराओं का वर्गीकरण करते हुए रामविलास शर्मा ने लिखा है – "एक ओर वेदान्त की विचारधारा थी जो ब्रह्म को सर्वव्यापी बताकर सामाजिक विषमताओं को असत्य और भ्रम सिद्ध करती थी। बीसवीं सदी के अनेक समाज सुधारकों और साहित्यकारों पर वेदांती विचारधारा का प्रभाव देखा जा सकता है। किन्तु उसके साथ–साथ और उतनी ही पुरानी एक दूसरी विचारधारा थी जो संसार को मिथ्या नहीं मानती, उसे असार नहीं कहती पर देवी–देवताओं, स्वर्ग–नरक की आलोचना करती है। यह भारत की भौतिकतावादी

विचारधारा है जिसका संबंध वृहस्पति और चार्वाक इन दोनों नामों से जोड़ा जाता है।"[60] इन परम्पराओं से महावीरप्रसाद द्विवेदी के विचारों का क्या रिश्ता है आइए इसे व्यवहार क्षेत्र में देखते हैं। 1901 में अपने लेख 'निरीश्वरवाद' में चार्वाक मत से सहानुभूति व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है – "जिस मत वालों की तर्कना शक्ति इतनी बलवती और विवेक परम्परा इतनी विशाल थी, उस चार्वाक मत का नाम तक, जो इस समय दो चार दर्शनशास्त्र के जानने वालों के अतिरिक्त किसी को विदित नहीं रहा, वह आश्चर्यजनक नहीं।" इस बात को रामविलास शर्मा जी स्पष्ट कहते हुए तर्क देते हैं – "जो वर्णव्यवस्था और देवी–देवताओं का विरोध करें, यहां तक कि ईश्वर का अस्तित्व भी माने, उसकी विचारधारा का भारत जैसे धर्मप्राण देश में लुप्त होना स्वाभाविक ही है।"[61] यहां महावीरप्रसाद द्विवदी को तो छोड़िए रामविलास शर्मा जी भी भूल जाते हैं कि 'मार्क्सवादी' ईश्वर का अस्तित्व कितना मानते हैं।

द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना के विवेचन में यह दिक्कत है कि उसे द्विवेदी जी की निगाह से ही देखा जाता है। द्विवेदी युगीन आलोचना का यह केवल एक पक्ष है। द्विवेदी युगीन आलोचना को स्पष्ट अर्थों में समझना है तो आपको द्विवेदी सेन्ट्रीक दृष्टि से अलग विचार करना होगा। उस समय मिश्रबंधु, कृष्णबिहारी, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', पद्मसिंह शर्मा, श्यामसुन्दर दास आदि आलोचकों की दृष्टि क्या थी, इसका विश्लेषण भी आवश्यक है। आचार्य शुक्ल ने पद्मसिंह शर्मा के आलोचनात्मक विश्लेषण पर लिखा है – "पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर एक अच्छी आलोचनात्मक पुस्तक निकाली। इसमें उस साहित्य परम्परा का बहुत अच्छा उद्घाटन है जिसके अनुकरण पर बिहारी ने अपने प्रसिद्ध सतसई की रचना की। 'आर्यासप्तशती' और 'गाथासप्तशती' के बहुत से पदों के साथ बिहारी के दोहों का पूरा–पूरा मेल दिखाकर शर्मा जी ने बड़ी विद्वता के साथ एक चली आती हुई साहित्यिक परम्परा के बीच बिहारी को रखकर दिखाया। किसी चली आती हुई साहित्यिक परमपरा का उद्घाटन भी साहित्य समीक्षक का एक भारी कर्तव्य है।"[62] यह कौन–सी परम्परा थी जिसका जिक्र शुक्ल जी कर रहे हैं, इसका विवेचन आगे प्रस्तुत किया जाएगा। यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि शुक्ल जी पद्मसिंह शर्मा के आलोचना पक्ष पर विचार करने का एक रास्ता तैयार किया। यही नहीं उन्होंने कृष्णबिहारी मिश्र की पुस्तक 'देव और बिहारी' पर लिखा है – "इस पुस्तक में बड़ी शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ दोनों बड़े कवियों के भिन्न रचनाओं का मिलान किया गया है। इसमें जो बातें कही गई हैं वे बहुत कुछ साहित्यिक विवेचन के साथ कही गई हैं, 'नवरत्न' की तरह यों ही नहीं कही गई हैं, यह पुरानी परिपाटी की साहित्य समीक्षा के भीतर अच्छा स्थान पाने योग्य है।"[63]

आचार्य शुक्ल के कोपभाजन का शिकार द्विवेदी युगीन आलोचकों में सबसे अधिक 'मिश्रबंधु' हुए हैं। इस कोपभाजन की पड़ताल पर कुछ बातें। आचार्य शुक्ल ने लिखा है – "कवियों का बड़ा भारी इतिवृत्त संग्रह (मिश्रबंधु विनोद) तैयार करने के पहले मिश्रबंधुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रंथ निकाला था। जिसमें सबसे बढ़कर नई बात यह है कि 'देव' हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं। हिन्दी के पुराने कवियों को समालोचना के लिए सामने लाकर मिश्रबंधुओं ने वेशक जरूरी काम किया। उनकी बातें समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं, यह दूसरी बात है। रीतिकाल के भीतर यह सूचित किया जा चुका है कि हिन्दी में साहित्यशास्त्र का वैसा निरूपण नहीं हुआ जैसा संस्कृत में हुआ है। हिन्दी में रीतिग्रंथों के अभ्यास से लक्षण, व्यंजना, रस आदि के वास्तविक स्वरूप की सम्यक् धारणा नहीं हो सकती। कविता की समालोचना के लिए यह धारणा कितनी आवश्यक है, कहने की आवश्यकता नहीं। इसके अतिरिक्त उच्चकोटि की आधुनिक शैली की समालोचना के लिए विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वेषण, बुद्धि और मर्म ग्राहि प्रज्ञा अपेक्षित है। 'करो कृतहि न मानै' ऐसे–ऐसे वाक्यों को लेकर यह राय जाहिर करना कि 'तुलसी कभी राम की निंदा नहीं करते, पर सूर ने दो चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की निन्दा भी की है। साहित्यमर्मज्ञों के निकट क्या समझा जायेगा।"[64] दरअसल शुक्ल जी के इस बात को जो लोग अक्षरशः मानकर मिश्रबंधुओं की आलोचना को दरकिनार कर देते हैं उन्हें थोड़ा ठहरकर यह विचार करना चाहिए कि मिश्रबंधुओं से नाराज शुक्ल जी क्या अलग प्रस्थापनाएं दे रहे हैं। जब हम इस तरफ ठहरकर नज़र डालते हैं तो आचार्य शुक्ल और मिश्रबंधुओं की कई प्रस्थापनाएं एक सी ही खड़ी दिखती हैं। भक्ति आन्दोलन की शुरुआत या कारण के प्रश्न पर जहां मिश्रबंधुओं का मानना है कि "धर्म पर बल प्रयोग होने से हिन्दुओं को समाज संरक्षण बहुत आवश्यक समझ पड़ा जिससे हमारी धर्म की तार्किक प्रगति भक्ति की ओर भी चलने लगी।"[65] वहीं शुक्ल जी कहते हैं – "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। ... अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग क्या था।"[66] इस तथ्य के बाद साफ स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शुक्ल मिश्रबंधुओं से अलग क्या कह रहे हैं। यही नहीं तुलसीदास, सूरदास, देव, मतिराम आदि कवियों पर जो मिश्रबंधुओं का मत है उसको देखने पर यही लगता है कि शुक्ल जी ने केवल अपनी भाषा परिमार्जित कर उन्हीं के शब्दों को पिरो दिया है। मिश्रबंधुओं ने गोस्वामी तुलसीदास के संबंध में लिखा है – "इन्होंने बाललीला का अच्छा कथन किया है, पर यह कहना ही पड़ता है कि

सूरदास का वर्णन इनसे कहीं अच्छा है।"[67] "वहीं आचार्य शुक्ल ने लिखा है – गोस्वामी तुलसीदास जी ने गीतावली में बाललीला को इनकी (सूरदास की) देखादेखी बहुत अधिक विस्तार दिया है सही, पर उसमें बालसुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आयी, उसमें रूप वर्णन की ही प्रचुरता रही।"[68] ऐसे कई उदाहरण मिलेंगे जो लगता है कि आचार्य शुक्ल ने सीधे–सीधे मिश्रबंधुओं से उठा लिया है। फिर क्या कारण है कि मिश्रबन्धुओं की आलोचना शुक्ल जी के लिए केवल संग्रह या कवि कीर्तन बन कर रह जाता है।

इस युग के आलोचक भारतीय परम्परा और पाश्चात्य के अन्तर्द्वन्द्व में अपनी आलोचना दृष्टि का विकास कर रहे थे। यह कहा जा सकता है कि इस युग की आलोचना में सूक्ष्म विश्लेषण के लिए जिस गहराई की आवश्यकता थ वह पूर्णरूपेण विकसित नहीं हो पायी थी। शुरुआती दौर की आलोचना में उस गहराई को देखने से ज्यादा उचित है उस समय की पृष्ठभूमि के आलोक में आलोचना को देखना। कालिदास से लेकर छायावादी कविता तक की अपनी आलोचना में समेटना उस युग में एक बड़ी बात थी। द्विवेदी युगीन आलोचना 'एक ओर यदि आदर्शवादी, उपयोगितावादी दृष्टि से प्रेरित होकर उत्थानमूलक साहित्य सर्जना की प्रेरणा उसमें निहित है तो दूसरी ओर काव्य के शब्दगत एवं अर्थगत सौष्ठव को परखने की परम्परागत सूक्ष्म दृष्टि भी उससे सुलभ है। समग्र हिन्दी साहित्य पर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विचार करने का सूत्रपात करना उसके काव्यशास्त्र विनोद के कारण ही संभव हो सका। टीकाओं के द्वारा मध्ययुगीन काव्य को सजीवन प्रदान करना एवं शोध के द्वारा 'भट्ट–भणंत' और इतिहास का पार्थक्य बताना तथा हिन्दी के विकास क्रम को स्पष्ट संकेतिक करना उसके गौरव को बढ़ाने वाले तत्व हैं। इन्हीं उपलब्धियों के कारण द्विवेदी युगीन आलोचना का ऐतिहासिक महत्त्व सदा बना रहेगा।"[69] द्विवेदी युगीन आलोचक कई अन्तर्द्वन्द्व से टकराकर अपनी आलोचनात्मक चेतना का विस्तार कर रहे थे। इन आलोचकों ने भारतीय काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों रस, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति आदि को ही अपनी आलोचना के आधार के रूप में स्वीकार किया था, लेकिन आलोचना के डिजाइन या साहित्य एवं आलोचना के सामाजिक उत्तरदायित्व संबंधी अपनी मान्यताओं के लिए वे पश्चिम के आलोचकों, विचारों को भी ग्रहण किया। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खुद लिखा है – "समालोचना करने की नई प्रणाली अंग्रेजी शिक्षा की बदौलत हम लोगों ने सीखी है।"[70] मिश्रबंधु ने पुरानी पद्धति के गुण–दोष निरूपण से नई समालोचना को भिन्न बताते हुए लिखा है – "समालोचना का कुछ–कुछ काम प्राचीन आचार्य लोग गुण दोष कथन के अध्यायों में करते आए थे, किन्तु उसे विशिष्ट गुण–दोष कथन से बढ़कर समालोचना कहना शोभा नहीं देता।"[71] द्विवेदी युगीन

समालोचना विषय प्रतिपादन के ढंग और दृष्टिकोण की नवीनता के कारण केवल गुण–दोष विवेचन तक सीमित न रह कर आगे निकल गई थी।

द्विवेदीयुगीन आलोचना का विकास कई द्वन्द्वों से टकराकर हुआ। जैसे नवीनता और प्राचीनता का द्वन्द्व, ब्रज और खड़ी बोली का द्वन्द्व, हिन्दी–उर्दू का द्वन्द्व, देव–बिहारी का द्वन्द्व, अनस्थिरता संबंधी विवाद और द्वन्द्व, शब्द रूपों का द्वन्द्व आदि। इन द्वन्द्वों के साथ ही उस युग की आलोचना में शोधात्मक प्रकृति का विकास भी देखने को मिलता है। उदाहरण रूप में आप भाषा के ऐतिहासिक विकास पर चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' का लेख 'पुरानी हिन्दी' देख सकते हैं। गुलेरी जी ने 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक लेखमाला में अपभ्रंश से हिन्दी के विकास को और उसकी पारस्परिक सर्वदेशिकता को विस्तृत रूप में विवेचित कर हिन्दी आलोचना को व्यापक फलक प्रदान किया। साथ ही साथ इस युग के आलोचकों ने साहित्यालोचन की कई शैलियां भी विकसित की। इसमें सैद्धांतिक, व्यावहारिक, तुलनात्मक, ऐतिहासिक और शोधपरक शैलियां महत्त्वपूर्ण हैं। बाद के दिनों में इन्हीं शैलियों का विस्तारपूर्वक विवेचन कर हिन्दी आलोचना की परम्परा को समृद्ध बनाया गया।

अतः अब जरूरी है कि हम द्विवेदी–युग में विकसित हुए प्रतिमानों और शैलियों की पड़ताल करें। हकीकत तो यही है कि जब तक हम द्विवेदीयुगीन आलोचना के प्रतिमानों का परीक्षण कर उन्हें स्थिर नहीं कर लेते तब तक का हिन्दी आलोचना के विकास और स्वरूप को ठीक ढंग से नहीं समझ पाएंगे। इन प्रतिमानों को समझने और स्थिर करने की प्रक्रिया में उस युग के आलोचकों के बारे में जानना और समझना जरूरी है। अतः आगे हम पहले इस युग के आलोचकों को देखते हैं।

सन्दर्भ

1 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 15
2 शेखर बंद्योपाध्याय – पलासी से विभाजन तक, पृ. 179
3 सं. शंभुनाथ – 1857 नवजागरण और भारतीय भाषाएँ, पृ. 26
4 रामविलास शर्मा – स्वाधीनता संग्राम के बदलते परिप्रेक्ष, पृ. 1
5 सं. शंभुनाथ – 1857 नवजागरण और भारतीय भाषाएँ, पृ. 29
6 विशेष अध्ययन के लिए देखें पायनियर में 1857 पर धारावाहिक रूप में प्रकाशित प्रफुल्ल गोरोड़िया का आलेख।
7 सं. शंभुनाथ – 1857 नवजागरण और भारतीय भाषाएँ, पृ. 138
8 वही, पृ. 202
9 वही, पृ. 202
10 रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी साहित्य और सम्वेदना का विकास, पृ. 79
11 वही, पृ. 80
12 वही, पृ. 80
13 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 19
14 रामविलास शर्मा – भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, पृ. 13
15 रामविलास शर्मा – भारतीय नवजागरण और यूरोप, 'प्रस्तावना'
16 सं. शंभुनाथ – 1857 नवजागरण और भारतीय भाषाएँ, पृ. 41
17 http://www.hindisamay.com/content/6830/021
18 वही,
19 वही,
20 वही,
21 वही,
22 वीरभारत तलवार – रस्साकशी, पृ. 341
23 वही,
24 विशेष अध्ययन के लिए देखें – खुदा बख्श लाइब्रेरी, पटना से प्रकाशित, अर्ली उर्दू हिस्ट्रोग्राफी (डॉ. जावेद अली खां, प्रकाशक – खुदाबख्श ऑरियेन्टल लाइब्रेरी, पटना) इसमें दर्जनों ऐसी पुस्तकों का विवरण दिया गया है।
25 सं. ओमप्रकाश सिंह – जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली, भाग–7, पृ. 90
26 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र – कविवचन सुधा, सन् 1972
27 वही, 1972
28 वही, 1972
29 सं. ओमप्रकाश सिंह – भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली, भाग–1, पृ. 117
30 राधा चरण गोस्वामी की कविताएँ,
31 अयोध्या सिंह – भारत का मुक्ति संग्राम, पृ. 152
32 वही, पृ. 152
33 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 48
34 वही, पृ. 59
35 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 50
36 वही, पृ. 51

37 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 57
38 वही,
39 सुमित सरकार – आधुनिक भारत, पृ. 17, 18, 19
40 अयोध्या सिंह – भारत का मुक्ति संग्राम, पृ. 113
41 वही, पृ. 133
42 वही, पृ. 186
43 Gail omvedt, Dalit Vision, The Anticast movement construction of an Indian Identity, P-19
44 सरस्वती – सितम्बर, 1914, भाग–15, खण्ड–2
45 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 78
46 वही,
47 वही, पृ. 102
48 चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ग्रंथावली, भाग–2, पृ. 57
49 समालोचक, वर्ष–2, 1903–1904, जुलाई, पृ. 59
50 वही, पृ. 59, 60
51 वही, पृ. 105
52 महावीरप्रसाद द्विवेदी – समालोचना समुच्च, पृ. 2
53 नन्ददुलारे वाजपेयी – नया साहित्य, नए प्रश्न, पृ. 32
54 रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 352
55 हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग–9, पृ. 137
56 वही, पृ. 140
57 कृष्णमोहन – आधुनिकता और उपनिवेश, पृ. 13
58 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 336
59 वही, पृ. 332
60 वही, पृ. 107
61 वही,
62 रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 377
63 वही, पृ. 376, 377
64 मिश्रबंधु – हिन्दी नवरत्न, पृ. 26
65 मिश्रबंधु – हिन्दी नवरत्न, पृ. 26
66 रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 61
67 मिश्रबंधु – हिन्दी नवरत्न, पृ. 50
68 रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 134
69 हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग–9, पृ. 179
70 आलोचनांजलि, पृ. 3
71 मिश्रबंधु – मिश्रबंधु विनोद, भाग–4, पृ. 163

तीसरा अध्याय

तत्कालीन आलोचक और उनकी आलोचना दृष्टि

प्रमुख आलोचक

3.1 महावीरप्रसाद द्विवेदी

3.2 मिश्रबन्धु (श्याम बिहारी मिश्र, गणेश बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र)

3.3 पद्मसिंह शर्मा

3.4 कृष्ण बिहारी मिश्र

3.5 डॉ. श्यामसुन्दर दास

3.6 लाला भगवानदीन

3.7 बालमुकुन्द गुप्त

तत्कालीन आलोचक और उनकी आलोचना दृष्टि

किसी भी समय और समाज की चेतना का विस्तार और उत्स उस युग के रचनाकारों में झलकता है। आलोचक इसी चेतना और उसके सांस्कृतिक सरोकार का परीक्षण अपने आलोचनात्मक विवेक से करता है। इसलिए किसी भी समय के आलोचना–कर्म को समझने के लिए जरूरी है, उस युग की आलोचना दृष्टि को समझना। अब सवाल यह है कि द्विवेदी युगीन आलोचकों ने अपने आलोचना–कर्म में जिस दृष्टिकोण का विकास किया है, उसके प्रतिमान क्या हैं? उस प्रतिमान की समझदारी कहाँ से विकसित हुई है? इस युग के प्रतिनिधि साहित्यकार महावीरप्रसाद द्विवेदी जिनके नाम पर इस युग का नामकरण भी हुआ है ने समालोचक का कर्त्तव्य बताते हुए लिखा है – "किसी पुस्तक या प्रबंध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं, यदि नहीं तो उसमें पुरानी बातों को नये ढंग से लिखा है या नहीं यही विचारणीय विषय है।"[1] यहाँ महावीरप्रसाद द्विवेदी की बातों से स्पष्टतः तीन प्रवृत्तियाँ झलकती हैं। पहली – उपयोगितावादी, दूसरी – तुलनात्मक और तीसरी – शोधपरक तथा नवीन विश्लेषण की प्रवृत्ति। मिश्र बंधुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में लिखा है – "अंग्रेजी या वर्तमान विचारों से कवियों की जाँच में दो मुख्य प्रश्न उठते हैं – कवि को कुछ कहना था या नहीं, और उसने उसे कैसा कहा है? संक्षिप्त रीति से कहने में पहला प्रश्न यों भी कहा जा सकता है कि उसका संदेश क्या है?"[2] वही पहले संस्करण की भूमिका में 'समालोचना' पर बात रखते हुए लिखा है – "भविष्य के लेखकों और कवियों के लिए समालोचना शुरू का काम करती है, क्योंकि उन्हें वह यह सिखलाती है कि किस प्रकार की रचना अच्छी है, और सभ्य समाज में आदर पा सकती है। यदि कपूर और कपास श्वेत वर्ण होने के कारण ही एक मूल्य के आँके जाने लगे, तो संसार में उपयोगी पदार्थों का बहुत शीघ्र अभाव हो जाए।"[3] मिश्रबन्धुओं की यह बात भी उसी प्रवृत्ति को रेखांकित करती है जो महावीरप्रसाद द्विवेदी कह रहे हैं। यह सच बात है कि इस युग के आलोचक भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा दोनों से टकरा रहे थे, लेकिन उनकी आलोचना दृष्टि में जो स्थान नैतिकता, उपयोगिता, गुण–दोष विवेचन का था, ठीक उसी प्रकार का स्थान बिंब विधान, प्रतीक योजना, कल्पना की विलक्षणता, काव्यभंगिमा (पोएटिक डिक्शन) आदि का नहीं था।

यहाँ तक की साहित्यिक गुण दोष का निरूपण करते समय इस युग के अधिकांश आलोचक, आचार्यों एवं टीकाकारों के मार्ग पर चलते रहें। कृष्णबिहारी मिश्र ने द्विवेदीयुगीन आलोचकों के इस पहलू को उजागर करते हुए लिखा है – "समालोचना से अभिप्राय है कि कवितागत गुण–दोषों पर विचार किया जाए। गुण–दोष क्या है, इसका पता काव्यशास्त्र के ग्रंथों के अध्ययन से मालूम हो सकता है। काव्यशास्त्र में कविता की उत्तमता या हीनता की जो कसौटी दी हुई है, उसमें रस, अलंकार, भाषा, गुण–दोष, लक्षण व्यंजना आदि पर विचार करना पड़ता है।"[4] इसी विवेचना में वे आगे लिखते हैं – "... अंग्रेजी ढंग की समालोचना में जो बातें कही जाती हैं वे भी प्रायः यही हैं। कुछ थोड़ा सा भेद है।"[5] यह बात कितनी थोड़ी कितनी ज्यादा है, इस युग के आलोचक अपने–अपने अनुसार समझते रहे हैं।

द्विवेदी युग की आलोचना मुख्यतः अतीत की कविता के मूल्यांकन की तरफ अधिक झुकी हुई थी और साथ–ही–साथ प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र से प्रभाव ग्रहण कर रही थी। उनके विचार में नवीनता का आग्रह तो था, लेकिन यह आग्रह उनके विश्लेषण का आधार नहीं बन पा रहा था। विचार के स्तर पर नवीनता को ग्रहण करना जितना सुगम होता है, अनुभूति के स्तर पर उतना सुगम नहीं होता है। इसलिए द्विवेदी युगीन आलोचकों में नवीनता और प्राचीनता का द्वन्द्व स्पष्ट रूप में दिखता है। यह द्वन्द्व हिन्दी आलोचना के विकास में काफी महत्त्वपूर्ण है। इस द्वन्द्व को सही रूप में नहीं पहचान पाने के कारण ही आचार्य शुक्ल ने लिखा है – "द्वितीय उत्थान (द्विवेदी युग) के भीतर 'समालोचना' की यद्यपि उन्नति हुई पर उसका स्वरूप प्रायः रूढ़िगत (कन्वेशनल) ही रहा।"[6] आचार्य शुक्ल की यह बात द्विवेदी युगीन आलोचना को समझने के लिए मुकम्मल नहीं है। हमें ठहरकर इस युग के आलोचकों की आलोचना दृष्टि का परीक्षण करना चाहिए। बिना उपयुक्त परीक्षण के इस निष्कर्ष पर पहुँचना हिन्दी आलोचना के विकासक्रम को सही अर्थों में न परिभाषित करना होगा। जरूरत हिन्दी आलोचना के इस संवर्धन काल को समझने की है। अब थोड़ा ठहरकर हिन्दी आलोचना के इस काल के आलोचकों पर एक नज़र डालते हैं।

3.1 महावीरप्रसाद द्विवेदी

महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य के कुछ चंद साहित्यकारों में है, जिन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य को अनेक विषय क्षेत्रों से जोड़कर व्यापकता प्रदान की है। जहाँ तक हिन्दी आलोचना के विकास का सवाल है, यह कह सकते हैं कि जिस हिन्दी आलोचना का उद्‌भव भारतेन्दु–युग में हुआ था। उस आलोचना को द्विवेदी जी ने व्यापक और तार्किक बनाया। वे एक कुशल सम्पादक होने के साथ ही साथ हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, मराठी और बंगला साहित्य के मर्मज्ञ भी थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य को ज्ञान के अन्य अनुशासनों और भाषाओं के साथ जोड़कर समृद्ध किया। वैसे तो वे 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक बनने से पहले प्रसिद्ध हो चुके थे, लेकिन इस पत्रिका के सम्पादक बनने के बाद उन्होंने संगठन क्षमता का परिचय दिया। वैंकेट शर्मा लिखते हैं – "सन् 1896 ई. के प्रारम्भ में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में उनकी 'कुमारसम्भव की भाषा' विषयक समालोचना प्रकाशित हुई, जिसका उत्तरवर्ती अंश कालाकांकर से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दोस्थान' नामक प्रसिद्ध पत्र में छपा। द्विवेदी जी की संस्कृत में नैसर्गिक रुचि थी। उन्होंने सन् 1897 ई. के नवम्बर से सन् 1898 ई. के मई तक वैंकटेश्वर समाचार बम्बई में 'कालिदास के ऋतुसंहार की भाषा' पर निरंतर रूप से समालोचनाएँ लिखी। सन् 1901 ई. में 'कालिदास की समालोचना' प्रकाशित हुई, जिसमें रघुवंश और मेघदूत की आलोचना भी सम्मिलित कर दी गई थी। इस प्रकार कालिदास के ग्रंथों का समीक्षण हिन्दी में प्रथम बार उनकी लेखनी का चमत्कार प्रदर्शित करता हुआ समालोचना जगत में सामने आया।"[7]

हिन्दी आलोचना में महावीरप्रसाद द्विवेदी की व्यवस्थित शुरुआत 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक बनने के साथ 1903 ई. से होती है। 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने लेखकों का ऐसा दल तैयार किया जो आधुनिक हिन्दी साहित्य में नवीन चेतना के प्रसार करने में उनका सहायक बने। इसके साथ ही वे हिन्दी गद्य के विकास में विभिन्न भाषाओं और विषयों को माध्यम बनाएं। कविता में ब्रज भाषा की जगह खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करना और साम्राज्यवाद विरोध उनके आलोचना कर्म के प्रधान प्रतिमान है। रामविलास शर्मा उनकी भाषा विषयक दृष्टि की विवेचना करते हुए लिखते हैं – "द्विवेदी जी ने हिन्दी भाषा के विकास के अनेक पक्षों पर ध्यान दिया। भारत में अंग्रेजी की स्थिति, भारतीय भाषाओं के बीच सम्पर्क भाषा की समस्या, हिन्दी–उर्दू की समानता और आपसी भेद, हिन्दी और जनपदीय उप–भाषाओं के संबंध आदि पर उन्होंने गहराई से विचार किया।"[8] रामविलास शर्मा ने यह माना है कि

द्विवेदी जी के महत्त्वपूर्ण कार्यों में एक भाषा संबंधी परिष्कार है, लेकिन वे साथ ही यह भी मानते हैं – "भाषा–परिष्कार का काम उनके व्यापक कार्यक्रम का एक अंश मात्र है और वह उसका सबसे महत्त्वपूर्ण अंश नहीं है।"[9] वहीं आचार्य शुक्ल का मानना है कि – "द्वितीय उत्थान के भीतर बहुत दिनों तक व्याकरण की शिथिलता और भाषा की रूपहानि दोनों साथ–साथ दिखाई पड़ती रहीं। व्याकरण के व्यतिक्रम और भाषा की अस्थिरता पर थोड़े ही दिनों में कोप दृष्टि पड़ी, पर भाषा की रूपहानि की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया। पर जो कुछ हुआ वही बहुत हुआ और उसके लिए हमारा हिन्दी साहित्य पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे। 'सरस्वती के सम्पादक के रूप में उन्होंने आयी हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखाकर लेखकों को बहुत सावधान कर दिया। यद्यपि कुछ हठी और अनाड़ी लेखक अपनी भूलों और गलतियों का समर्थन तरह–तरह की बातें बनाकर करते रहे, पर अधिकतर लेखकों ने लाभ उठाया और लिखते समय व्याकरण आदि का पूरा ध्यान रखने लगे। गद्य की भाषा पर द्विवेदी जी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिए शुद्धता आवश्यक समझी जायेगी तब तक बना रहेगा।"[10] जिस भाषा के परिमार्जन को रामचन्द्र शुक्ल द्विवेदी जी की बड़ी उपलब्धि मान रहे हैं उसे रामविलास शर्मा केवल अंश मात्र कह रहे हैं। अब सवाल यह है कि रामविलास शर्मा द्विवेदी जी के किन और कार्यों को महत्त्वपूर्ण मान रहे हैं।

द्विवेदी जी के चिंतन प्रक्रिया का सबल पक्ष है साम्राज्यवाद विरोध। चूँकि जिस समय द्विवेदी जी रचना कर रहे थे, वह समय भारतीय जनता के शोषण और दमन से भरा पड़ा है। अंग्रेजी शासन जिस तरह से आम जनता पर कहर ढ़ा रहा था, उसका विरोध करना उस युग के रचनाकारों के यहाँ स्वाभाविक रूप में मिलना कठिन था, फिर भी साहित्यकार इस अंग्रेजी शासन के खिलाफ अपनी आवाज को धार दे रहे थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी अपनी लेखनी से अंग्रेजी शासन के खिलाफ आवाज उठाई। उनसे जितना बन पड़ा उन्होंने साम्राज्यवादी शक्तियों के खिलाफ सांस्कृतिक रूप से अपनी बात को विवेचित किया। रामविलास शर्मा द्विवेदी जी के इसी साम्राज्यवादी विरोध के प्रवृत्ति को विशेष महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यह बात एक हद तक ठीक भी है। 'सम्पत्तिशास्त्र' की भूमिका की शुरुआत ही द्विवेदी जी करते हैं – "हिन्दुस्तान सम्पत्तिहीन देश है। यहाँ सम्पत्ति की बहुत कमी है। जिधर आप देखोगे उधर ही आँख को दरिद्र–देवता का अभिनय किसी न किसी रूप में अवश्य ही देख पड़ेगा। परन्तु इस दुर्दमनीय दरिद्र को देखकर भी कितने आदमी ऐसे हैं जिनको उसका

कारण जानने की उत्कण्ठा होती है? यथेष्ट भोजन वस्तु न मिलने से करोड़ों आदमी जो अनेक प्रकार के कष्ट पा रहे हैं उनका दूर किया जाना किसी तरह सम्भव नहीं है? गली–कूचों में सब कहीं धनाभाव के कारण जो कारुणिक क्रन्दन सुनाई पड़ता है उनकी अवस्था उन्नत करने का कोई साधन नहीं? बताईये तो सही, कितने आदमी ऐसे हैं जिनके मन में इस तरह के प्रश्न उत्पन्न होते हैं।"[11] आगे भारत की निर्धनता का मुख्य कारण बताते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है – "इस देश में अंग्रेजों के पधारते ही – उनकी सत्ता का सूत्रपात होते ही – यहाँ की स्थिति में फेरफार शुरू हो गया। जो बातें सम्पत्तिशास्त्र की उत्पत्ति का कारण मानी गई है वे उपस्थित होने लगी। यहाँ की सम्पत्ति इंग्लैण्ड गमन करने लगी। हुकूमत के बल पर इस देश के व्यापार की जड़ में कुठाराघात होने लगा।"[12] यही नहीं आगे वे लिखते हैं – "सम्पत्तिशास्त्र का सम्बन्ध व्यापार और राज–व्यवस्था से बहुत अधिक है। पर इन दोनों बातों में यह देश पराधीन है। जिस तरह से विदेशियों ने इस देश के राजपाट को अपने अधीन कर लिया है उसी तरह व्यापार को भी। जब सम्पत्तिशास्त्र के उत्पादक कारण उपस्थित हुए तब स्वाधीनता जाती रही। और स्वाधीनता के बिना सम्पत्ति वृद्धि के नियम बनाकर तदनुकूल व्यवहार करना और सम्पत्ति को नष्ट होने से बचाना बहुत कठिन काम है।"[13] यहाँ स्पष्ट है कि सम्पत्तिशास्त्र की चिंता में द्विवेदी जी का लक्ष्य पराधीनता से भारतीय जनमानस की मुक्ति से है। द्विवेदी जी भारतीय जनमानस का शोषण और दमन देखकर दुखी थे। इसलिए उन्होंने 'सरस्वती' में जितना काम साहित्य और भाषा के मानकीकरण का किया, उतना ही काम देश की अन्य ज्वलंत समस्याओं पर लिखकर और अपने समकालीनों से लिखवाकर जनता को जागरूक करने का भी किया।

अगस्त 1915 की 'सरस्वती' में उन्होंने ईश्वरदास मारवाड़ी का एक आलेख प्रकाशित किया, जिसका शीर्षक था 'भारतीय किसानों के उद्धार का उपाय।' इस आलेख में अठारहवीं सदी के 'दुर्भिक्षों' से अंग्रेजी राज के 'दुर्भिक्षों' की तुलना की गई है। इस लेख में अठारहवीं सदी में जहाँ चार दफे दुर्भिक्ष पड़ा वही उन्नीसवीं सदी में 28 बार पड़ा और लगभग चार करोड़ मनुष्य इसके कोपाग्नि का शिकार हुए।[14] हकीकत यह है कि जिस किसानों की चिंता द्विवेदी जी कर रहे थे वह समस्या आज भी किसानों से अलग नहीं हुई है। आज भी किसानों की आत्महत्याओं का दौर थमा नहीं है। उस समय जो काम अंग्रेज कर रहे थे, आज वही काम दूसरे रूपों में बाजार कर रहा है। आज आजादी का 70वां पर्व मनाने के बाद भी अगर आप केवल NCRB के आंकड़े देखें तो – '1997 से 2008 तक महाराष्ट्र में 41404, मध्यप्रदेश तथा छत्तीसगढ़ में 32454, कर्नाटक में 25684 तथा आन्ध्रप्रदेश में 23279 किसानों ने

आत्महत्या की है।"[15] वर्तमान में यह आंकड़े और भी ज्यादा बढ़ते जा रहे हैं। द्विवेदी जी की मूल चिंता में किसानों की आर्थिक दुर्व्यवस्था थी। इसलिए वे केवल सम्पत्तिशास्त्र लिखकर इस समस्या से तौबा नहीं कर लिए, बल्कि लगातार अपने लेखन में इस समस्या को उठाते रहे। यह अकारण नहीं है कि द्विवेदी जी जहाँ 1908 में 'सम्पत्तिशास्त्र' लिखते हैं वहीं ठीक एक वर्ष बाद गाँधी की 'हिन्द स्वराज' जैसी पुस्तक आती है। सम्पत्तिशास्त्र' में द्विवेदी जी की पूरी चिंता भारत के गाँव, उसकी जमीन और उसके किसानों की है। उन्होंने अपने इस पुस्तक में दिखाया कि इस देश की कृषि तथा अन्य उत्त्पादनों को अंग्रेजी शासन द्वारा बर्बाद किया जा रहा है। किसानों की बेहाल अवस्था, अकाल तथा अन्य सरकारी प्रकोपों से आम जनता की त्रासद स्थिति का कारण यह अंग्रेजी राज ही है। रामविलास शर्मा ने द्विवेदी जी की इसी साम्राज्यवाद विरोधी दृष्टि को प्रमुखता से अपनी पुस्तक 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' में व्यक्त किया है। अंग्रेजों के आने के बाद जो समाज व्यवस्था बदल रही थी उसका चित्रण वे यथार्थ के धरातल पर करते हैं और हिन्दी साहित्य को नए मार्ग पर लाते हैं। रामविलास शर्मा के शब्दों में कहें तो – "द्विवेदी जी सीमित अर्थों में साहित्यकार नहीं हैं। उनका उद्‌देश्य हिन्दी साहित्य में नवीन चेतना का प्रसार करना है। इस उद्‌देश्य की सिद्धि के लिए वह समाज–विज्ञान, प्रकृति विज्ञान, दर्शनशास्त्र और साहित्य इन सभी के विकास का प्रयत्न करते हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी की भूमिका एक महान शिक्षक की भूमिका है, केवल साहित्यकार की नहीं।"[16]

रामविलास शर्मा द्विवेदी जी को जो शिक्षक बता रहे हैं उसका एक पक्ष तो साम्राज्यवाद विरोध से जुड़ता है, लेकिन जो दूसरा पक्ष है उसको रामविलास जी अपने अनुसार व्याख्यायित करते हैं। इस व्याख्या में उनकी वस्तुनिष्ठ दृष्टि थोड़ी कमजोर हो जाती है। रामविलास शर्मा ने द्विवेदी के बारे में लिखा है – "जैसे समाजशास्त्र और इतिहास पर लिखते हुए द्विवेदी जी और उनके सहयोगियों ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया, वैसे ही साहित्य–सम्बन्धी निबन्धों और टिप्पणियों में उन्होंने रूढ़ि विरोधी आधुनिक दृष्टिकोण अपनाया। जैसे वे विज्ञान–सम्बन्धी लेखों द्वारा पुराने विचार बदलकर नयी सामाजिक चेतना का प्रसार करना चाहते थे, वैसे ही साहित्य द्वारा वे जनता के पुराने संस्कार बदलकर उसका मानस नये साँचे में ढ़ालना चाहते थे। कलात्मक साहित्य उनके लिए व्यापक शिक्षा–प्रसार का एक अंश था, उसकी अपनी विशेष समस्याएँ थी, विकास का अपना मार्ग था, पर उसका उद्‌देश्य समाज–निरपेक्ष कला की साधना नहीं था। द्विवेदी जी के आलोचनात्मक कार्य को उनके व्यापक शिक्षा–सम्बन्धी कार्य के अभिन्न अंग के रूप में देखना चाहिए।"[17] यहाँ

रामविलास जी की दो बातों का परीक्षण करना बेहद जरूरी है। पहली – नयी सामाजिक चेतना और दूसरी पुराने संस्कारों का बदलाव।

महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके समकालीन अधिकांश साहित्यिक आलोचकों ने अपने आलोचना का जो निकष निर्धारित किया, उस पर उपयोगितावाद और नैतिकतावाद (आर्यसमाजी दृष्टि) का सर्वाधिक प्रभाव था। इस युग के आलोचक जिस धरातल पर खड़े होकर साहित्य–विवेचन कर रहे थे वह अत्यन्त स्थूल धरातल था। इसलिए इनके यहाँ सुधारवादी प्रवृत्ति ज्यादा दिखाई पड़ती है। ठीक वैसे ही जैसे–जैसे मंचों पर बाबाओं द्वारा (प्रवचन शैली) का बड़ी सुदृढ़ता और निर्भीकता से प्रयोग किया जाता है। द्विवेदी जी अपने आलोचनात्मक विवेक में जिस सुरुचि और नैतिकता के विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे थे वह हद तक आर्यसमाजी भावनाओं से जुड़ा हुआ था। ध्यान से देखें तो इसी कारण कई लेखक द्विवेदी जी के कोप–भाजन हुए। इनकी आलोचना दृष्टि उन लेखकों के साथ न्याय भावना का निर्वहन नहीं कर पायी। उनके समकालीन रोमांटिक लेखक जो इनके व्यंग्य–लक्ष्य का शिकार हुए, इसके पीछे इनकी यही उपयोगितावादी और आर्यसमाजी दृष्टि काम कर रही थी। इसी दृष्टि के कारण रीतिकाव्य के प्रति द्विवेदी जी की अरुचि और भर्त्सना की भावना का प्रबल रूप देखने को मिलती है। मुक्तक और गीतकाव्य के स्थान पर प्रबन्ध और महाकाव्यों का महत्त्व, यथार्थ के स्थान पर आदर्श का अधिकार इसी का प्रतिफलन है। इसी कला के विषय में जीवन पक्ष की आदर्शात्मकता को भी इतना अधिक बोझिल बनाकर उन्होंने ग्रहण किया कि साहित्य की मूल–वृत्ति कुछ कुंठित सी हो गई। द्विवेदी जी अपनी उपयोगितावादी और सुधारवादी दृष्टि से समालोचना कर आलोचनात्मकता के एक विशेष पक्ष पर इतना अधिक परिसीमित हो गए कि इसके प्रतिक्रिया में हमें युग के दरमियान विकसित होने वाले कुछ आलोचकों का आलोचनात्मक विवेक ज्यादा उचित जान पड़ता है। इसके सबसे अच्छे उदाहरण कृष्णबिहारी मिश्र और पद्मसिंह शर्मा हैं। अब कुछ उदाहरणों के साथ महावीरप्रसाद द्विवेदी की सुधारवादी और नैतिकतावादी दृष्टि का प्रमाण देखिए।

'कालिदास' द्विवेदी जी के प्रिय कवियों में एक हैं कालिदास के काव्यों पर और नाटकों पर द्विवेदी जी वहीं प्रशंसात्मक रूप से लिखते हैं जहाँ उनको कालिदास के काव्य में आदर्श चरित्र दिखाई पड़ता है। उन्होंने कालिदास के उच्च काव्यों में जो स्थान 'रघुवंश' को दिया है वही 'मेघदूत', 'विक्रमोर्वशीय' और 'मालविकाग्निमित्र' को नहीं दिया है।

विद्याभूषण जी के 'कालिदास' ग्रंथ की आलोचना करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं – "मेघदूत में कोई ऐसा आदर्श चरित्र नहीं जिससे कोई लोक–हितकर या समाज–हितकर शिक्षा मिल सके। राम, सीता और दुष्यंत–शकुन्तला के आदर्श चरित्र से समाज का बहुत कुछ उपकार साधन हो सकता है परन्तु मेघदूत के यक्ष और यक्ष पत्नी के चरित्र से उस तरह का कोई उच्च उद्देश्य साधन नहीं हो सकता। ... विक्रमोर्वशीय और 'मालविकाग्निमित्र' में समाज के लिए हितकारी आदर्श चरित्र नहीं है। महाकवि ने वैसा चरित्र–चित्रण करने का प्रयास नहीं किया।"[18] दरअसल द्विवेदी जी की नैतिकतावादी दृष्टि सुन्दर चरित्रों की सृष्टि की पक्षपाती थी, लेकिन उनके सुन्दर में उनकी नैतिकता कैसे सम्पृक्त है इसका एक उदाहरण और देखें – "कवि का प्रधान गुण सृष्टि नैपुण्य है। सुन्दर–सुन्दर चरित्रों की सृष्टि और उस चरित्रावली का देश, काल और अवस्था के अनुसार काव्य में समावेश करना ही कवि का सर्वश्रेष्ठ कौशल है। ... जिस काव्य से संसार का उपकार साधन नहीं हुआ वह उत्तम काव्य नहीं कहा जा सकता। समुद्र के किनारे बैठकर अस्तगमनोन्मुख सूर्य की शोभा को देखना बहुत ही आनंददायक दृश्य है, परन्तु उसके अवलोकन से क्षण स्थायी आनंद के सिवा दर्शकों और पाठकों का कोई हित साधन नहीं हो सकता। उससे कोई शिक्षा नहीं मिल सकती। जिस दृष्टि से आमोद–प्रमोद के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं वह काव्य उत्कृष्ट नहीं।"[19] यदि नैतिकता की शिक्षा का मानक या मानदण्ड भी सामने रखा जाए तो भी 'मेघदूत' निराश नहीं करेगा। वास्तव में मेघदूत में नैतिकता व्यंग्य है। यक्ष अपनी पत्नी के प्रेम में इतना रम जाता है कि उसे कुबेर का ध्यान ही नहीं रहता है। इस अपराध के कारण उसे देश बहिष्कृत होने का शाप मिलता है। जब यक्ष रामगिरी पर्वत पर अपने को तपाकर जीवनानुभव से संपृक्त होता है तो वह शाप मुक्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि साधना से ही जीवन उज्ज्वल होता है। यक्ष की साधना अलौकिक नैतिकता को तोड़ कर लौकिक जीवनानुभव को प्रस्तुत करती है। इस लौकिकता को केवल नैतिकतावादी आदर्श से नहीं देखा जा सकता है।

यह तो हुई संस्कृत काव्य की आलोचना में द्विवेदी जी की नैतिकतावादी दृष्टि। अब जरा उस तरफ ध्यान दिया जाए जिस पर रामविलास शर्मा का द्विवेदी जी के मानदण्ड को लेकर जोर है। रामविलास जी रीतिकाल के विरोध को नवीन चेतना मानते हैं। यह रीतिकालीन विरोध से नवीन चेतना कैसे जुड़ी है इसकी पहचान करना जरूरी है। आधुनिक काल में बुर्जुवा जनतांत्रिक क्रांतियों के साथ–साथ जीवन के विविध क्षेत्रों में जिस नैतिक और आदर्शवादी मूल्यों की स्थापना हुई उन्होंने अपने आपको संस्कृति के क्षेत्र में 'नवजागरण' के

रूप में व्याख्यायित किया। ज्ञान और विवेक के निर्विवाद साम्राज्य की स्थापना उस संस्कृति की घोषणापत्र बनी जिसकी मूल प्रतिज्ञा स्वतंत्रता, समानता और भातृत्व के मूल्य थे। सामंती पिछड़े हुए मूल्यों से इसका टकराव प्रमुख रूप से ऐन्द्रियता के बिन्दु पर हुआ। चूंकि ज्ञान का प्राथमिक स्रोत इन्द्रियां हैं, इसीलिए वेदांत समेत दुनिया की सारी भाववादी विचार परम्पराएँ इन्द्रियों के दमन का उपदेश देती हैं, यानी स्पष्ट शब्दों में कहें तो ऐन्द्रियता का निषेध करती है। यही नहीं इस ऐन्द्रियता के निषेध से वह ज्ञान और विवेक की सम्भावना का भी निषेध करती है। इसीलिए ऐन्द्रियता नवजागरण में केन्द्रीय भूमिका निभाने वाला अनिवार्य तत्त्व है। अब यह देखना रोचक है कि वह 'हिन्दी नवजागरण' से होते हुए कैसे महावीरप्रसाद द्विवेदी तक आकर उलट जाता है। इसके साथ यह भी बात महत्त्वपूर्ण है कि रामविलास शर्मा जैसे लेखक उसको किस रूप में प्रस्तुत करते हैं।

1901 में 'नायिका भेद' शीर्षक लेख में द्विवेदी जी ने लिखा है – "अब देखिए इस प्रकार के पुस्तकों में क्या लिखा रहता है। लिखा रहता है परकीया (परस्त्री) और वेश्याओं की चेष्टा और उसके घृणित कृत्यों के लक्षण और उदाहरण। परकीया के अन्तर्गत अविवाहित कन्याओं के पापाचरण की कथा!! पुरुष मात्र में पति बुद्धि रखने वाली कुलटा स्त्रियों निर्लज्ज और निर्गल प्रलाप।"[20] आगे भी द्विवेदी जी ने जो कुछ लिखा है उसमें उल्लेखनीय रूप से महिलाओं के ही किसी न किसी प्रकार के 'पापाचरण' की ध्वनि व्यंजित होती है। रामविलास शर्मा ने इसके एतराज का कारण बताते हुए लिखा है – "रीतिवादी काव्य–शास्त्र की जगह साहित्य में नयी दृष्टि अपेक्षित है जो मनुष्य समाज को उन्नत करे, प्राकृतिक नियमों का उद्‌घाटन करे और अलौकिक आनंद के दृश्य दिखाए। ... हिन्दी के काव्यशास्त्री लोकोत्तर आनंद की बात निरंतर करते थे, पर यह आनंद बहुत ही संकीर्ण मनोरंजन (अथवा ऐन्द्रिय उद्दीपन) में सीमित हो गया।"[21] इस तरह हिन्दी और उर्दू दोनों के रीतिवादी परम्पराओं का विरोध साथ–साथ चल रहा था।

इस स्पष्टीकरण के बाद तस्वीर काफी साफ हो जाती है। अलौकिक आनंद के स्थान पर 'ऐन्द्रिय उद्दीपन' से मन को 'कलुषित' करने वाले स्त्रियों को 'पापाचरण' के लिए प्रेरित करने वाले और अपने 'कलुषित' प्रयासों से 'देवी–देवताओं' तक को बदनाम करने में नहीं संकोच करने वाले कवि नवजागरण के हिन्दी संस्करण से खारिज कर दिए जायेंगे और रीतिकाव्य की 'काली सूची' में डाल दिए जायेंगे। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि रीतिवादी कवियों के विरोध की प्राथमिक वजह उनका यही दुर्गुण यानी उनके द्वारा चुनी गई विषय वस्तु है, उनकी काव्य–रीति नहीं। (यहां कुछ अपवादों को छोड़कर यह बात कही जा रही

है) इहलौकिकता के खिलाफ अलौकिकता और ऐन्द्रियता के खिलाफ परम्परावादी नैतिकता की स्थापना का स्वप्न देखने वाले क्या 'नवजागरण' और समाज में नयी चेतना लाने वाले माने जाएंगे। अब यहाँ से इन नवजागरण के अग्रदूतों को देखें तो यह बात स्पष्ट तौर पर कही जा सकती है कि हिन्दी नवजागरण का एक रूप पुरातनपंथ का ही नवजागृत संस्करण है। महावीरप्रसाद द्विवेदी के यहाँ भी नवजागरण का वही पुरातनपंथ का नवजागृत रूप देखने को मिलता है। यह मानक इनके आलोचना का प्रतिबिम्ब भी है और प्रतिमान भी। जहाँ एक तरफ साम्राज्यवाद का विरोध उनके आलोचनात्मक मानदण्ड का सार्थक पहलू है वही नैतिकतावादी दृष्टि उनके आलोचना की सीमा भी है। महावीरप्रसाद द्विवेदी के आलोचना कर्म में इन दोनों पहलुओं का स्पष्ट अन्तर्द्वन्द्व दिखता है। इन अन्तर्विरोधों के बावजूद यह कह सकते हैं कि महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने लेखन के माध्यम से हिन्दी साहित्य को, साहित्य और विज्ञान और अन्य अनुशासनों से जोड़कर विस्तृत बनाया। भाषा परिष्कार के साथ ही साथ उन्होंने साम्राज्यवाद विरोधी स्वर को भी ऊँचा किया।

3.2 मिश्रबन्धु (श्याम बिहारी मिश्र, गणेश बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र)

मिश्रबन्धुओं से पहले भारतेन्दु युग में आलोचना के प्रारम्भिक रूपों की शुरुआत हो चुकी थी। तद्युगीन परिस्थितियों, लेखकों की सामाजिक संवेदनशीलता, नई विधाओं को व्याख्यायित करने की चुनौतियों और पाश्चात्य समीक्षा के प्रभावों के बीच मिश्रबन्धुओं की आलोचना खड़ी होती है। परिस्थितियाँ बदल रही थीं, नए तरह के समाज का गठन हो रहा था और साहित्य विश्लेषण की नई पद्धतियों की जरूरत दिखाई पड़ रही थी। इन आलोचकों ने बदले हुए समय की माँग को महसूस किया और प्रायः सभी चुनौतियों को स्वीकार कर उसका उत्तर देने की कोशिश की। इन आलोचकों ने प्राचीन काव्य रूढ़ियों का तिरस्कार करते हुए नाटक और काव्य के नए विषयों का चुनाव किया। नाटक में चरित्र–चित्रण और जीवंत भाषा की आवश्यकता महसूस की और आलोचना में पक्षपात रहित गुण–दोष कथन का नया मानदण्ड स्थिर किया। इन सबके बावजूद द्विवेदी जी की तरह इनकी भी दृष्टि नैतिकतावादी सामाजिक आदर्शवादी प्रवृत्तियों से निकल नहीं पाई थी। स्थान–स्थान पर अपनी आलोचना में इन्होंने कृतियों की उपयोगी वृत्तियों की ओर संकेत करके उनका महत्त्व भी स्थापित किया है। इनका मानना भी था कि – "विषय की उपयोगिता काव्योत्कर्ष बढ़ाती है।"[22] यही नहीं आगे लिखते हैं – "अब हिन्दी गद्य में वर्तमान प्रकार के उपकारी विषयों पर रचना की आवश्यकता है और नाटक विभाग की पूर्ति और भी आवश्यक है।"[23] यहाँ पर ये आलोचक अपने युग के लिए उपयोगी ग्रंथों की सृष्टि का समर्थन तो करते ही हैं साथ ही साथ पुराने कवियों की भी आलोचना में अपने नैतिकतावादी दृष्टिकोण को लादते रहते हैं। दरअसल आधुनिक और नई सामाजिक चेतना के नाम पर नवजागरण काल में जिन मूल्यों का निर्माण हुआ उसमें 'नैतिकता' का भाव–बोध सबसे प्रखर रहा। इस नैतिकता के निर्माण की प्रक्रिया बड़ी रोचक रही है, जिसका जिक्र मैंने महावीरप्रसाद द्विवेदी के सन्दर्भ में विवेचित किया है। हकीकत यह है कि जिस नैतिकता के मूल्य को लेकर नवजागरण कालीन लेखक खड़े हो रहे थे वह बहुत कुछ सामंती संस्कार के द्वारा संचालित हो रहा था। इस निर्माण प्रक्रिया को न समझ पाने के कारण बहुत सारे प्रबुद्ध लोग भी इस मूल्य के साथ अपने आलोचनात्मक विवेक को विकसित कर रहे थे।

1857 में राष्ट्रीय मुक्ति की ताकतों की निर्णायक पराजय के बाद बिचौलिया वर्ग का सामने आना एक वस्तुगत प्रक्रिया के तहत हुआ था, और उसके आगे बढ़े हुए समुदाय के लोगों ने बेशक अपनी सीमाओं में रहते हुए ही उच्च आदर्शों से संचालित होकर

'हिन्दी–नवजागरण' और राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया। यही नहीं, कुछ लोगों ने तो आगे चलकर विपरीत मानदण्डों को भी अपने अनुकूल बनाने का प्रयास किया। ऐसी स्थिति में नया सामंत और शिक्षित वर्ग अपने को बचाने के लिए 'नैतिकता' की, नई चादर ओढ़कर समाज में अलख जगाने की कसमें खाने लगा। हकीकत यह है कि वह अपने नैतिक मूल्यों के बचाने की कोशिश में समाज को एक शिथिल अवस्था में रखकर स्वतंत्रता को पुकारने लगता है। नैतिकता के ये मूल्य आगे और प्रखर होने लगे। जिस तरह महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी नवजागरण की नैतिकता में फंसे हुए थे उसी प्रकार मिश्रबन्धु भी। वास्तव में द्विवेदी युग में जिस नैतिकता का विकास व्यापक हुआ उसमें सामंती संस्कार जाने–अनजाने दिखाई पड़ ही जाता है। उदाहरण के रूप में 'नवरत्न' में देव की काव्य–कला का वर्णन करते हुए मिश्रबन्धुओं ने लिखा है – "देव महाराज देश–देश घूमे हैं। यह पूर्ण रसिक भी थे। अतः जहाँ गए, वहाँ की स्त्रियों को इन्होंने बहुत ध्यान–पूर्वक देखा है। इन्होंने प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की स्त्रियों का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया है। इनका देश वर्णन देखकर कहीं–कहीं यह संदेह अवश्य उठता है कि सम्भवतः इनका चाल–चलन बहुत ठीक न था।"[24] देव की कविताओं की तारीफ करने के बाद उनपर इस तरह का सन्देह नैतिकता के उसी आग्रह से आ रहा है, जिसका निर्माण नवजागरण कालीन चेतना के नए सामंतवादी वर्ग और अपने लाभ के लिए शिक्षित वर्ग ने प्रचारित किया था। यह चेतना आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से होती हुई समकालीन आलोचकों में भी झलकती है। आज की समकालीन आलोचना भी पूरी तरह इस सामंती नैतिक मूल्यों से मुक्त नहीं हो पाई है। खैर ...

जिस समय हिन्दी आलोचना अपनी सैद्धान्तिकी बना रही थी उसी के साथ–साथ व्यावहारिक आलोचना का भी विकास हो रहा था। इसी व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत एक प्रवृत्ति का विकास हुआ – अतीत के साहित्य और साहित्यकारों का विवेचन। मिश्रबन्धुओं ने इसी पृष्ठभूमि में अपना आलोचना कर्म शुरू किया। उन्होंने यह महसूस किया कि हिन्दी के अपने साहित्य पर आलोचकों का ध्यान नहीं है। इसलिए इन्होंने हिन्दी के प्राचीन कवियों की विवेचना और विश्लेषण का कार्य शुरू किया। अपने शुरुआती दौर में वे कुछ पत्रिकाओं में भक्तिकालीन और रीतिकालीन कवियों पर लेख लिखे। इसी क्रम में उन्होंने कवियों की उत्कृष्टता–निकृष्टता को पहचाना। आगे चलकर इन्हीं चिंताओं और अनुभवों का प्रतिफलन थी हिन्दी आलोचना की पहली पुस्तक 'हिन्दी नवरत्न'। मिश्रबन्धुओं की आलोचना दृष्टि अपनी नैतिकताओं के बावजूद समकालीन समीक्षकों की अपेक्षा अधिक साहित्यिक थी। उन्होंने कृतियों के शुद्ध साहित्यिक स्वरूप को परखने का प्रयास अधिक किया। 'विनोद

हिन्दी नवरत्न' और अन्य निबंधों में उन्होंने कवियों की जीवनियों को एक तरफ तथा साहित्यिक कृतियों और उसके मूल्यांकन को दूसरी ओर रखा। रस–परम्परा का समर्थन करते हुए वे साहित्य के सर्वमान्य आलम्बनों, उद्दीपनों आदि के घेरे में ही साहित्य के स्थाई मूल्यों का आकलन किया है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में वे कवियों की कृतियों की व्याख्या करने में सफल नहीं हुए हैं। इस कारण आलोचना के नवीन व्याख्यात्मक रूप का सम्यक् मूल्यांकन उनके आलोचना दृष्टि में नही आ पाया है। इसके बावजूद वे आलोचना के नए रूपों और समय की बदलती हुई प्रवृत्तियों के प्रति जागरूक हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। आलोचना के सन्दर्भ में उन्होंने अपनी पुस्तकों में जो कुछ व्यक्त किया है उससे स्पष्ट है कि वे नवीन प्रवृत्तियों और पाश्चात्य साहित्य में आए हुए प्रभावों को पकड़ने की कोशिश करते हैं। उन्होंने गुण–दोष कथन वाली पुरानी आलोचना और वर्तमान प्रशंसात्मक आलोचना दोनों की खामियों को पहचानते हुए साहित्यिक स्वरूप की ओर निर्देश किया है। उदाहरण स्वरूप उनकी आलोचना की कुछ बानगी देखें –

"हिन्दी समालोचना की चाल बहुत थोड़े दिनों से चली है। प्राचीन प्रथा के लोग समझते थे कि समालोचना करने में किसी भी कवि की निन्दा न करनी चाहिए। इस विचार के कारण समालोचना की उन्नति प्राचीन काल में न हुई।"[25] वहीं आगे लिखते हैं – "संसार बड़ा सौन्दर्योपासक है। बिना गुण के यह किसी का माल नहीं खरीदता। मित्रों की झूठी प्रशंसा तथा शत्रुओं की ईर्ष्यापूर्ण निन्दा का प्रभाव कुछ ही काल रह सकता है किन्तु अन्त में भवभूति की 'कालोऽह्मायं निखधिर्विपुला य पृथ्वी' वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। प्रयोजन केवल इतना है कि शुद्ध साहित्य सेवा और चमत्कृत ग्रंथों का अस्तित्व ही समय पर लेखकों तथा हिन्दी साहित्य की गरिमा का कारण होगा। इतर कोई युक्ति काम न आवेगी।"[26] यहाँ आलोचना के नए उत्तरदायित्व के प्रति मिश्रबन्धुओं की जागरूकता दिख पड़ती है यह जागरूकता ही उन्हें आलोचना के नए मापदण्डों के प्रति सजग करती है। नैतिकतावादी दृष्टि के आग्रह के बावजूद भी मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी आलोचना के परिपाटी को नए स्वरूप में ढालकर हिन्दी आलोचना के स्वरूप को विस्तार दिया। अब थोड़ा ठहर कर उनके द्वारा विवेचित महत्त्वपूर्ण पुस्तकों पर विचार करते हैं।

मिश्रबन्धुओं का 'मिश्रबन्धु–विनोद' चार भागों में विभक्त है तथा इसमें लगभग पाँच हजार कवियों और साहित्यकारों का परिचय संकलित है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन सन् 1913 में प्रयाग के इण्डियन प्रेस से हुआ था। इसमें समालोचना के ऐतिहासिक पद्धति का निर्वाह बहुत कम है। काल–विभाजन और युग–प्रवृत्तियों के निरूपण में भी मिश्रबन्धुओं ने

स्वयं की पसंद को ही तरजीह दिया है। सच कहें तो 'विनोद' में कवि वृत्त संग्रह की प्रवृत्ति ही अधिक है। इसका एक प्रमाण तो यह है कि विनोद के चौथे भाग में 264 कवियों का विवरण था, किन्तु धीरे–धीरे इसकी संख्या 1500 के पास पहुँच गयी। ऐसा होने का प्रधान कारण यही था कि मिश्रबन्धुओं ने अपने विनोद में बिना किसी प्रकार के निश्चित प्रतिमान और परीक्षण के उन सभी को अपने ग्रंथ में शामिल कर लिया, जिसका जीवन–चरित्र उनके पास पहुँचा। स्वयं मिश्रबन्धुओं ने अपने 'विनोद' के बारे में लिखा है – 'विनोद मुख्यतया कवि वृत्तियों का कथन बन गया है।' इसके बावजूद भी मिश्रबन्धुओं ने अपने 'विनोद' के प्रारम्भ में जो भूमिका लिखी है, उसमें उनके समालोचना विषयक दृष्टिकोण का पता चलता है। इस भूमिका में उन्होंने सामयिक साहित्य की गतिविधि तथा अपनी सीमाओं का विश्लेषण किया है। वे साहित्य के इतिहास की सीमाएँ समझते थे, अतः उन्होंने उसका नाम 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' न रख कर 'मिश्रबन्धु विनोद' रखना ही उचित समझा है। खुद उनके मतानुसार "इतिहास ग्रंथ में छोटे–बड़े सभी कवियों एवं लेखकों को स्थान नहीं मिल सकता, जबकि इसमें इतिहास से इतर बातों का भी कथन हुआ है।"[27] साथ ही भूमिका भाग में मिश्रबन्धुओं ने ग्रंथ निर्माण की प्रेरणा, विषय–निरूपण, लेकिन शैली, कालक्रम, आधारभूत सामग्री तथा उनका विवरण, सहायक विद्वानों के नाम, कालविभाग तथा विविध समय और उसकी दशा आदि विभिन्न प्रसंगों का विवेचन कर एक प्रकार से 'मिश्रबन्धु बिनोद' की परिचयात्मक समालोचना कर दी है।

मिश्रबन्धु के सामने इतिहासनुमा दो ग्रंथ थे – शिवसिंह सरोज और ग्रियर्सन कृत 'मार्डन वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दुस्तान।' मिश्रबन्धुओं ने अपने विनोद को इतिहास नहीं कहा, लेकिन हिन्दी साहित्य के एक व्यवस्थित इतिहास की आवश्यकता का अनुभव जरूर किया था। इस अनुभव की सार्थकता ही कही जायेगी कि 'मिश्रबन्धु विनोद' का काल विभाजन और एक हद तक प्रवृत्ति विभाजन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को प्रभावित करता है। 'मिश्रबन्धु विनोद' के योगदान को स्वीकार करते हुए विष्णुकान्त शास्त्री ने लिखा है – 'यह ठीक है कि विनोद को सही अर्थों में इतिहास नहीं कहा जा सकता है न उसे ठीक अर्थों में आलोचना ग्रंथ ही कहा जा सकता है, किन्तु यह भी सही है कि पहली बार हिन्दी में बड़े पैमाने पर दोनों को समीप लाने का कार्य इसी ग्रंथ ने किया। पूर्व माध्यमिक एवं प्रौढ़ माध्यमिक कालों के कवियों द्वारा पूर्वालंकृत काल के कवियों के अनुकरण पर की गई बहुत परिमाण में रीतिग्रंथों की रचना को विशेष लाभदायक न मानना इसी ऐतिहासिक दृष्टि के सुपरिणाम हैं।"[28]

मिश्रबन्धुओं द्वारा लिखी गई आलोचनात्मक पुस्तकों में सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'हिन्दी नवरत्न' है। यह पुस्तक 1910 में इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। इसमें हिन्दी के नौ और बाद में कबीर को जोड़कर दस कवियों पर समालोचनाएँ लिखकर संग्रहीत की गई थी। ये दस कवि थे – तुलसी, सूर, देव, बिहारी, भूषण, मतिराम, केशव, कबीर, चन्दबरदाई और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। इस पुस्तक में मिश्रबन्धुओं ने तीन त्रयी बनाई। वृहदत्रयी, मध्यत्रयी और लघुत्रयी। बृहदत्रयी में तुलसी, सूर, देव को रखा। मध्यत्रयी में बिहारी, भूषण, केशव को रखा और लघुत्रयी में मतिराम, चंद और भारतेन्दु को रखा। 'हिन्दी नवरत्न' के प्रकाशन के साथ ही उसकी आलोचनाओं की झड़ी लग गई। 'अतिशयोक्ति के प्रेमी भगवानदीन से लेकर नवीन आलोचना के मार्ग प्रशस्त करने वाले महावीरप्रसाद द्विवेदी तक ने उस पुस्तक के प्रायः सभी पहलुओं की आलोचना की। इन आलोचना को अगर आप ध्यान से देखें तो इनमें समरूपता नहीं है। कुछ लोगों ने इस पुस्तक में व्यक्त नए दृष्टिकोण और नई पद्धतियों के प्रति विक्षोभ जाहिर किया तो कुछ लोगों के मुताबिक इस पुस्तक में भी प्राचीनतावादी दृष्टिकोण मौजूद था। फिर भी इस आलोचना–प्रत्यालोचना के दौर में हिन्दी–नवरत्न' ने लम्बा रास्ता तैयार किया, जो इस पुस्तक की सार्थकता है।

मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी–नवरत्न' की जो भूमिका लिखी है, उसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास का सामान्यतया सिंहावलोकन हो जाता है। प्राप्त सामग्री के आधार पर उन्होंने प्रत्येक रत्न का व्यापक जीवन–परिचय भी दिया है, जो जीवन–चरित–मूलक समालोचना पद्धति का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। हालांकि उन्होंने जीवन की साहित्यिक प्रतिक्रिया, विश्लेषण उस प्रविधि से नहीं कर सके, जिस विधि से समकालीन आलोचना करना चाहती है। यद्यपि कई स्थलों पर उनका कवि परिचय पक्षपातपूर्ण भी बन गया है और ऐसा लगता है कि वे कवियों की वंश परम्परा तक को अपने अनुकूल सिद्ध करना चाहते हैं, बावजूद इनके कार्यों के महत्त्व को कमतर नहीं किया जा सकता है। कवियों के काव्य–सौष्ठव को विश्लेषित करते हुए, उनके काव्यांशो को भी उद्धृत किया है। विवरणात्मक विश्लेषण के साथ–साथ सैद्धान्तिक निरूपण भी इस पुस्तक में इनके आलोचना–कम के भीतर दिख पड़ता है। तुलनात्मक आलोचना करते हुए भी उनका अधिक जोर साहित्यिक ही रहा है। उदाहरण स्वरूप 'सूरदास' की समालोचना करते हुए उन्होंने लिखा है – "तुलसीदास जब कभी राम की नर–लीला का वर्णन करते हैं, तब पाठक को यह अवश्य याद दिला देते हैं कि राम परमेश्वर हैं, वह केवल नर–लीला करते हैं यह बात ऐसे भोंडे प्रकार से भी वह सैकड़ों बार स्मरण कराते हैं कि जी उकता उठता है, और यह जान पड़ता है कि गोस्वामी जी पाठक

को इतना बड़ा मूर्ख समझते थे कि कितनी ही बार याद दिलाने पर भी वह राम का ईश्वररूप भुला देगा, अतः उसको पुनः–पुनः स्मरण कराने की आवश्यकता है। यह बात सूरदास में नहीं है। यह एक दो बार स्मरण कराने को ही यथेष्ठ समझते हैं। इन्होंने, जहाँ तक हमें स्मरण है, केवल दो–चार स्थानों पर सिफारशी छंद दिए हैं। ... सूरदास की भाषा शुद्ध ब्रज–भाषा है। चंद आदि के होने पर भी यह कहना अयथार्थ न होगा कि हिन्दी के वास्तविक उत्कृष्ट प्रथम कवि सूरदास ही थे।"[29] यहाँ आप मिश्रबन्धुओं का तुलनात्मक आलोचना और निर्णयात्मक आलोचना दोनों का पुट स्पष्ट रूप में देख सकते हैं। 'हिन्दी–नवरत्न' आलोचना के कई मानदण्डों पर उत्कृष्ट पुस्तक नहीं है। इसमें जिस प्रकार से कविताओं और कवियों का विश्लेषण किया गया है वह एक सतही विश्लेषण भर है। इन सभी बिन्दुओं के बावजूद यह कह सकते हैं कि हिन्दी नवरत्न हिन्दी आलोचना की पहली पुस्तक है जिसने हिन्दी के प्रमुख कवियों का एक साहित्यिक विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत किया।

'मिश्रबन्धु–विनोद' और 'हिन्दी–नवरत्न' मिश्रबन्धुओं के समालोचक व्यक्तित्व के निर्माण के प्रमुख साधन हैं। इन दोनों पुस्तकों को देखने के बाद यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी जी से मिश्रबन्धुओं की दृष्टि अधिक लचीली और नैतिक मूल्यों को स्वीकार करते हुए भी साहित्य के अपने मूल्यों पर अधिक जोर देने वाली थी। इसी कारण आप देखेंगे कि उन्होंने रीतिकालीन काव्य को द्विवेदी जी की तरह तिरस्करणीय नहीं माना है। इसीलिए इन्होंने मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में काव्य की न्यूनता पाई और अपने युग के आलोचकों में छायावाद का सबसे अधिक स्वागत किया।

3.3 पद्म सिंह शर्मा

पद्म सिंह शर्मा की प्रसिद्धि के केन्द्र में 'बिहारी सतसई' की आलोचना है। हालांकि शर्मा जी के पहले भी 'बिहारी सतसई' की अनेक टीकाएं ब्रजभाषा में तथा खड़ी बोली के गद्य–पद में लिखी गई हैं। पद्म सिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' पर टीका लिखकर बिहारी को केन्द्र में लाने का प्रयास किया। बिहारी सतसई तुलनात्मक आलोचना की किताब है। वैसे तो संस्कृत–साहित्य में भी कवियों की पारस्परिक तुलना का विधान रहा है, किन्तु वह सूत्र–प्रणाली से अधिक विशद् नहीं कहा जा सकता। संस्कृत के अनुकरण पर हिन्दी–साहित्य में भी तुलना की जो विधा पूर्ववर्ती युग में प्रचलित रही, वह भी अत्यधिक अपर्याप्त और सूत्रबद्ध थी। तुलनात्मक आलोचना के सम्बन्ध में कृष्णबिहारी मिश्र ने लिखा है – "कविता के गुण समझने के लिए उसमें आए हुए काव्योत्कर्ष की परीक्षा करनी पड़ती है। यह परीक्षा कई प्रकार से की जा सकती है – जांच के अनेक ढंग मिल जाता है, कविता को सब ओर से उलट–पलट देख लेने में ही पर्याप्त आनन्द मिल जाता है, कविता के यथार्थ जौहर खुल जाते हैं, पर कभी इतना श्रम पर्याप्त नहीं होता। ऐसी दशा में अन्य कवियों की उसी प्रकार की उन्हीं भावों को अभिव्यक्त करने वाली सूक्तियों में पद्य विशेष का मुकाबला करना पड़ता है। इस मुकाबले में विशेष और हीनता स्पष्ट झलक जाती है। यही क्यों ऐसी अनेक नई बातें भी मालूम हो जाती हैं जो अकेले एक पद्य में देखने से ध्यान में भी नहीं आती। जरा सा फर्क कवि की मर्मज्ञता की गवाही देने लगता है।"[30] इस प्रकार एक कवि का काव्यगुण दिखाने के लिए अनेक पूर्ववर्ती और समकालीन कवियों की कविताओं की परीक्षा करने वाले आलोचकों में पद्म सिंह शर्मा का नाम उल्लेखनीय है। यह तुलनात्मक आलोचना को केन्द्र में रखकर आलोचना लिखनेवालों में प्रमुख है। यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो किसी न किसी रूप में उस काल के सभी समीक्षकों में तुलनात्मकता की प्रवृत्ति मौजूद थी। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी कालिदास की तुलना कहीं भवभूति से, कहीं शेक्सपियर से करते हुए कालिदास के विविध गुणों का उद्घाटन किया है। मिश्रबन्धु अनेक अवसरों पर तुलसी, सूर, देव, बिहारी आदि की तुलनात्मक ढंग से चर्चा कर बढ़ जाते हैं, लेकिन इन आलोचकों ने तुलनात्मक आलोचना को ही अपना एकमात्र ध्येय नहीं बना लिया। इनकी तुलनाओं में केवल पूर्वग्रहपूर्ण जोशीली प्रशस्तियां नहीं हैं। इनकी आलोचना में भाव–पा का विश्लेषण और व्याख्यात्मक स्वर भी लक्षित होता है।

पद्म सिंह शर्मा ने सतसई की समालोचना में वैयक्तिक रुचि और प्रभावभिव्यंजक पद्धति का ही प्रधान प्रयोग किया है, लेकिन उसका एक शास्त्रीय आधार भी है। वह शास्त्रीय

आधार रूढ़िग्रस्त और संकुचित नियमबद्धता की प्रणाली से मुक्त और स्वच्छन्दतावादी विधि में प्रयुक्त हुआ है। उन्होंने अपनी अपनी समालोचना के प्रारम्भिक वक्तव्य में कविता की उपयोगिता और महत्त्व का विवेचन कर अपनी समालोचना को प्रतिष्ठित करने की एक पठिका प्रस्तुत कर ली, जिसके केन्द्र में शृंगार रस है। शृंगार रस का विवेचन अत्यन्त भावमय और आह्लादजनक है। शृंगार विवेचन के मूल में बिहारी के काव्य की प्रतिष्ठा थी। उनका मानना था कि बिहारी ने जिस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का प्रसार किया, वह वस्तुतः मानव जीवन का अत्यन्त आकर्षक और भव्यतम पक्ष है। इस विवेचन में उन्होंने उन लोगों की मनोवृत्ति का भी तार्किक खण्डन किया है, जो शृंगार को अश्लीलता का यथार्थ समझ कर उस पर नाक भौं सिकोड़ते हैं और बिहारी के काव्य में किसी भी प्रकार का उज्ज्वल पक्ष नहीं पाते।

पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी सतसई की जो इतनी विशद विवेचना की उसका मूल कारण तो उनकी आंतरिक अभिरुचि अथवा मानसिक प्रवृत्ति तो थी ही, किन्तु उसका बाह्य कारण भी है। वह यह है कि उन्हें संवत् 1967 विक्रमी में प्रायः वर्ष भर 'सरस्वती' पत्रिका में सतसई की एक प्रसिद्ध टीका पर 'सतसई–संहार' शीर्षक एक कटु आलोचना लिखनी पड़ी। इस आलोचना ने विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया और जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें अपनी अभिरुचि तथा पाठकों के सानुरोध निवेदन के कारण सतसई का भाष्य और समीक्षा करना पड़ा। ऐसा करते हुए शर्मा जी ने सतसई की समस्त उपलब्ध टीकाओं और विवेचनाओं का उपयोग किया था और उन सबके अध्ययन के पश्चात् उनके भीतर जो प्रतिक्रिया हुई, उसी का प्रतिफलन सतसई की समालोचना है।

'बिहारी सतसई' की भूमिका में पद्मसिंह शर्मा लिखते हैं – "बहुत से महापुरुष कविता की उपयोगिता को स्वीकार तो किसी प्रकार कर लेते हैं पर शृंगार रस उनके निर्मल नेत्रों में कुछ खार–सा या तेजाब सा खटकता है। वह शृंगार की रसीली लता को विषैली समझकर कविता वाटिका से एकदम जड़ से उखाड़ फेकने पर तुल खड़े हैं। उनकी शुभ सम्मति में शृंगार रस ही सब अनर्थों की जड़ है, शृंगार रस के अश्लील काव्यों ने ही संसार में अनाचार और दुराचार का प्रचार किया है। शृंगार के साहित्य का संसार से यदि आज संहार कर दिया जाए तो सदाचार का संसार सर्वत्र अनायास हो जाए, फिर संसार के सदाचारी और ब्रह्मचारी बनने में कुछ देर न लगे।"[31] यही नहीं आगे लिखते हैं – "वास्तव में देखा जाए तो कवियों पर असभ्यता या अश्लीलता के प्रचार का दोषारोपण करना उनके साथ अन्याय करना है – शृंगार रस के काव्यों में परकीयादि का प्रसंग कुरुचि का उत्पादन होने से नितान्त निन्दनीय कहा जाता है। यह किसी अंश में ठीक हो सकता है पर ऐसे वर्णन से

कवि का अभिप्राय समाज की नीतिभ्रष्ट और कुरुचि सम्पन्न बनाना नहीं होता, ऐसे प्रसंग पढ़कर धूर्तविदों की गूढ़ लीलाओं को दाव–घात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके उस विषय में सतर्क रहे यही ऐसे प्रसंग का प्रयोजन है।"[32]

यहाँ स्पष्ट रूप से शर्मा जी उस नैतिकतावादी दृष्टि को तोड़ने का प्रयास करते हैं जिसको उस युग के अन्य आलोचक खड़ा कर रहे थे। रीतिकालीन कविता की व्याख्या करना अलग बात है और उसे नकारना अलग। जिस रुचि भेद के कारण बिहारी के कविता को नकारा जा रहा था उसका विश्लेषण भी वह प्रस्तुत करते हैं। शर्मा जी साहित्य के पाठकों की व्याख्या करते हुए लिखते हैं – "रुचि–भेद और अवस्था–भेद से काव्यों के कुछ वर्णन किन्हीं विशेष व्यक्तियों को अनुचित प्रतीत हो, यह और बात है, इससे ऐसे काव्य की अनुपयोगिता सिद्ध नहीं होती। अधिकार–भेद की व्यवस्था सब जगह समान है, काव्यशास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है। कौन कहता है कि बुद्ध जिज्ञासु, बाल ब्रह्मचारी, मुमुक्षु यति और जीवन–मुक्त संन्यासी भी काव्य के ऐसे प्रसंगों को अवश्य पढ़ें। ऐसे पुरुष काव्य के अधिकारी नहीं हैं। फिर यह कोई बात नहीं कि जो चीज इनके लिए अच्छी नहीं है वह औरों के लिए भी अच्छी न हो, इनकी रुचि को सबकी रुचि का आदर्श मानकर संसार का काम कैसे चल सकता है।"[33] इस प्रकार के विवेचन से पद्मसिंह शर्मा एक तरफ द्विवेदीयुगीन नैतिकता के धरातल को तोड़ते हैं तो दूसरी तरफ जीवन से विरक्त लोगों के लिए साहित्य नहीं है यह भी स्पष्ट कर देते हैं।

हिन्दी साहित्य में तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात करने का श्रेय पद्मसिंह शर्मा को है। 'बिहारी सतसई' की समालोचना लिखकर तुलनात्मक समालोचना का मार्ग उन्होंने हिन्दी साहित्य में स्वयं निकाला। इस प्रक्रिया में उन्होंने भारतीय, पाश्चात्य तथा अरबी साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया। पद्मसिंह शर्मा ने 'गाथासप्तशती', 'आर्यासप्तशती' और अमरुकशतक' को बिहारी की सतसई के तीन आदर्श ग्रंथ माने हैं। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि बिहारी के उक्त ग्रंथों के अनेक काव्यांशों से सामग्री ली है, लेकिन उनका यह कार्य चौरकर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्होंने जिन भावों को लिया भी है, उन्हें मौलिक बना दिया है। ... अपने पक्ष को शास्त्रीय सिद्ध करने के लिए उन्होंने 'ध्वन्यालोक' तथा 'काव्य–मीमांसा' से उदाहरण देकर 'अर्थापहरण' की अत्यन्त विस्तृत और मार्मिक विवेचना प्रस्तुत की है जिसका मूल प्रयोजन यही सिद्ध करने का है कि यदि बिहारी के काव्य में पूर्ववर्ती कवियों की छाया प्रतिबिम्बित भी हो जाए तो उसे उनका दोष मानना अनुचित होगा। बिहारी के दोहों की विशेषता बताते हुए वे लिखते हैं – "तुलनात्मक समालोचना का उद्‌देश्य भारतीय साहित्य के

विधाता संस्कृत कवियों का अपमान करना नहीं है, लेखक की उन पर बिहारी से भी अधिक पूज्य बुद्धि है। संस्कृत कवियों के भाव का साम्य को ही वह बिहारी के काव्योत्कर्ष का कारण समझता है। संस्कृत कवि उपमान हैं। बिहारी उपमेय है। उपमान और उपमेय में जो भेद है, वह स्पष्ट है। कहीं–कहीं जो व्यतिरेक प्रदर्शन है, वह मतिभ्रममूलक हो सकता है, बुद्धिपूर्वक पक्षपातजन्य नहीं।"[34] 'बिहारी सतसई' की आलोचना और पद्मसिंह शर्मा की आलोचना दृष्टि पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं – पं. पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर एक अच्छी आलोचनात्मक पुस्तक निकाली। इसमें उस साहित्य परम्परा का बहुत अच्छा उद्घाटन है जिसके अनुकरण पर बिहारी ने अपनी प्रसिद्ध सतसई की रचना की। 'आर्यासप्तशती' और 'गाथासप्तसती' के बहुत–से पदों के साथ बिहारी के दोहों का पूरा–पूरा मेल दिखाकर शर्मा जी ने बड़ी विद्वता के साथ एक चली आती हुई साहित्यिक परम्परा के बीच बिहारी को रखकर दिखाया। ... इस पुस्तक में शर्मा जी ने उन आक्षेपों का भी बहुत कुछ परिहास किया जो देव को ऊँचा सिद्ध करने के लिए बिहारी पर किये गए थे। हो सकता है कि शर्मा जी ने बहुत से स्थलों पर बिहारी का पक्षपात किया हो, पर उन्होंने जो कुछ किया है, वह एक अनूठे ढंग से किया है। उनके पक्षपात का भी साहित्यिक मूल्य है।"[35]

पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' के अतिरिक्त 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में जो निबंध लिखे हैं उनसे भी उनकी आलोचना दृष्टि का पता चलता है। जैसे – 'संस्कृत और हिन्दी कविताओं का बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव' (सरस्वती–1908) 'सतसई संहार' (सरस्वती–1910), 'बिहारी का विरह वर्णन' (सरस्वती–1911), 'भिन्न–भिन्न भाषाओं की कविता का बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव (सरस्वती–1909) इत्यादि। पद्मसिंह शर्मा द्विवेदी युग के ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने हिन्दी कविता के साथ–साथ संस्कृत, उर्दू और अरबी कविताओं का भी विवेचन विश्लेषण कर आलोचना को एक समृद्ध आधार देने का कार्य किया।

अतः यह कह सकते हैं कि पद्मसिंह शर्मा द्विवेदी युग के ऐसे आलोचक हैं जो अपने समय के नैतिकतावादी दृष्टि को तोड़ते हुए आलोचना के नये मार्ग को प्रशस्त करते हैं। उनकी आलोचना पद्धति का ऐतिहासिक महत्त्व है, और इस अर्थ में भी उसकी महत्ता स्वीकार की जानी चाहिए कि बाद के अनेक आलोचकों ने उनके आलोचना पद्धति का विकास कर उसे व्याख्यात्मक गाम्भीर्य दिया। यानी आगे चलकर इसी तुलनात्मक दृष्टि पर दो या कई कृतिकारों की कृतियों को एक साथ आलोचना की कसौटी पर रखकर विश्लेषणात्मक ढंग से उनकी मार्मिक छवियों का उद्घाटन किया।

3.4 कृष्णबिहारी मिश्र

कृष्णबिहारी मिश्र की समालोचना–क्षेत्र में ख्याति का प्रधान कारण उनकी 'देव और बिहारी' नामक रचना है। इस पुस्तक की रचना के पीछे तत्कालीन आलोचना में चल रहा 'देव और बिहारी' विवाद है। पद्मसिंह शर्मा द्वारा देव की उपेक्षा देखकर उन्होंने 'देव और बिहारी' पुस्तक लिखी, जिसमें देव की विशेषताओं का तुलनात्मक ढंग से उद्घाटन किया। देव रीतिकाल के प्रमुख कवियों में थे। उनकी भाव सम्पत्ति बड़ी समृद्ध थी, लेकिन पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के साथ अन्य रीतिकालीन कवियों की तुलना करते हुए देव को छोड़ दिया। देव को उन्होंने तुलना के योग्य भी नहीं समझा। उधर मिश्रबन्धुओं ने देव को तुलसी और सूर की पंक्ति में बैठाया था इसलिए देव को लेकर विवाद होना स्वाभाविक था। कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' में देव की उदात्तता और कलात्मक सौष्ठव का दिग्दर्शन कराया तथा बिहारी को साथ रखकर देव को बड़ा कवि सिद्ध किया। एक बात ध्यान रखने योग्य है कि उन्होंने तुलनात्मक रूप प्रस्तुत करते हुए कहीं भी बिहारी को कमतर कवि घोषित नहीं किया है, बल्कि आलोचना का सुन्दर मार्ग प्रशस्त किया है। देव और बिहारी' जैसे कवियों का मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए श्रेष्ठता साबित करने योग्य जैसी कोई बात नहीं थी। अपनी भूमिका में मिश्रजी ने लिखा है – "न तो उनका बिहारी से विरोध है और न देव के प्रति पक्षपात।"[36]

किताब के मुख्य हिस्से पर आने के पहले उन्होंने लगभग 60 पृष्ठों में भूमिका के तहत ही ब्रजभाषा–काव्य में दुर्बोधता की वृद्धि, भाषा की मधुरता का कविता पर प्रभाव, समालोचना, तुलनात्मक समालोचना और बिहारी के साथ अनुचित पक्षपात शीर्षकों के अन्तर्गत उन्होंने अपनी धारणाएँ व्यक्त की हैं। इस क्रम में उन्होंने प्रारम्भ में ही उन कारणों का सप्रमाण विवेचन किया है जिनसे ब्रजभाषा काव्य में दुर्बोधता की वृद्धि हो रही है। इस दुर्बोधता के निवारण के उपाय को बताते हुए वे कहते हैं कि – 'ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं में सटीक संस्करण प्रकाशित किए जाएँ जिससे साहित्य–प्रेमियों का ध्यान उनकी रस–सरिता में अवगाहन करने की ओर उन्मुख हो।'

आलोचना के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूपों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि मिश्र जी अपने समय के अन्य आलोचकों से अधिक व्याख्यात्मक प्रतिभावान और नवीन तथा संतुलित दृष्टि वाले साहित्यिक लेखक थे। पद्मसिंह शर्मा तथा लाला भगवानदीन की अपेक्षा उनकी दृष्टि भावों की ओर अधिक थी। उन्होंने अपनी पुस्तक 'देव और बिहारी' की

भूमिका में द्विवेदी युगीन आलोचकों की निरंकुशता, अहम्मन्यता आदि पर कर्कश प्रहार किया है। ये स्वयं समालोचक थे, लेकिन समालोचकों की लापरवाही, उथली दृष्टि तथा आलोच्य कृतियों के प्रति इनकी उदासीनता को हेय मानते थे। वे आलोच्य कृतियों के अध्ययन के उपरांत संतुलित ढंग से विस्तृत आलोचना लिखने के पक्षपाती थे। उन्होंने लिखा है – "अब पुस्तकें इतनी अधिकता से प्रकाशित होती हैं कि सब प्रकार के मनुष्यों के द्वारा उन सबका पढ़ा जाना असम्भव है और इसलिए कुछ ऐसे लोगों की आवश्यकता है जो पुस्तकें रसास्वादन करके जन समुदाय को भिन्न रसों का परिचय दे दिया करें। परन्तु इसमें पूर्ण विवेक बुद्धि होनी चाहिए। समालोचक की यही एक जिम्मेदारी ऐसी कठिन है कि इसका सदा पालन होना कठिन हो जाता है।"[37] यही नहीं आगे वह दुराग्रहहीन होकर स्वीकार करते हैं – "आजकल जिस प्रकार की समालोचना प्रचलित है वह अंग्रेजी चाल के आधार पर है।"[38] चलते रूप से ही सही लेकिन वे मानते हैं कि जैसी जिस समय लोगों की रुचि होती है वैसे ही उस समय समालोचनाएँ भी निकला करती हैं। इस कारण समालोचना भी भिन्न–भिन्न समय में भिन्न–भिन्न प्रकार की होती है। वह मानते हैं समालोचक के पूर्वाग्रह या व्यक्तिगत मान्यताएँ समालोचना ग्रंथ के साथ न्याय करने में बाधक होती है। "कभी–कभी समालोचक किसी कारण–विशेष से विवश होकर किसी प्रसिद्ध लेखक या कवि को आदर्श स्वरूप मान लेता है और अपने इसी आदर्श से समालोचना करता है। ऐसी दशा में यदि आदर्श कवि या लेखक के विपरीत कुछ भी भाव हुए तो नवीन लेखक के ऊपर क्रोध आ जाता है और फिर वास्तविक योग्यता का विचार होने से रह जाता है।"[39] शास्त्रीय आलोचना में उपर्युक्त भय सदैव लगा रहता है। यही दोष पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन और मिश्रबन्धुओं में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। शास्त्रीय समीक्षक किसी पुराने सिद्धान्त को या किसी पुराने समकालीन कवि की विशेषताओं को शाश्वत और सर्वव्याप्त मानकर उन्हीं आधारों पर नई कृतियों की आलोचना करने लगता है। किन्तु सिद्धान्त रूप में कही गई बातें, व्यवहार में किस रूप में विवेचित हो रही हैं, इससे दूर ही रह जाता है। इसीलिए मिश्र जी स्वयं 'देव और बिहारी' की आलोचना में देव से अत्यंत प्रभावित होकर भी उनकी विशेषताओं को अन्य कवियों में पाने की लालसा रखते हैं। यह अवश्य कहा जा सकता है कि उन्होंने काफी दूर तक औरों की अपेक्षा देव और बिहारी की छोटी या बड़ी नहीं, बल्कि भावपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है।

मिश्र जी ने रसों के प्राचीन स्वरूप और उसके विकसित रूपों तथा पश्चिमी साहित्य और युगानुरूप नई आवश्यकताओं से प्रभावित रूपों के पारस्परिक अंतर को स्पष्ट न करके केवल रसों की चर्चा तक ही सीमित कर दिया है। उनके मत के अनुसार कविता का काम

आनंद देना है। 'यह आनंद प्रदान रस के 'परिपाक' से सिद्ध होता है। यों तो नीरस कविता भी मानी गई है और चित्र–काव्य भी कविता के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। पर वास्तव में रसात्मक काव्य ही काव्य है। मतिराम ग्रंथावली की भूमिका में भी उन्होंने रसात्मक काव्य को ही उत्तम काव्य माना है। रस में भी मिश्रजी शृंगार रस के प्रति ज्यादा उदार हैं। उन्होंने मतिराम ग्रंथावली की भूमिका में लिखा है – "शृंगार रस का स्थाई भाव प्रेम है। प्रेम विधेयात्मक सहानुभूति और सत्य है। यह सबसे अधिक स्थाई और उपयोगी है।"[40] यही कारण है कि देव और बिहारी उनके लिए उस रूप में बड़े या छोटे नहीं हैं जैसे उनके समकालीन लेखकों के यहाँ हैं।

मिश्र जी देव को सराहते जरूर हैं, लेकिन बिहारी को तोड़–मरोड़कर कुरूप नहीं कर देते हैं। देव के साथ बिहारी की भी क्षमताओं को वे पहचानते हैं इसी कारण आचार्य शुक्ल ने लिखा है – "इस पुस्तक में बड़ी शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ दोनों बड़े कवियों की भिन्न–भिन्न रचनाओं का मिलान किया गया है। इसमें जो बातें कही गई हैं वे बहुत कुछ साहित्यिक विवेचन के साथ कही गई हैं। 'नवरत्न' के तरह यों ही नहीं कही गई हैं। यह पुरानी परिपाटी की साहित्य आलोचना के भीतर अच्छा स्थान पाने के योग्य है।"[41] मिश्र जी की इन सभी विशेषताओं का दर्शन उनके द्वारा सम्पादित 'मतिराम ग्रंथावली' की भूमिका में भी होता है।

'मतिराम ग्रंथावली' में कुछ साहित्य सिद्धान्तों जैसे काव्य क्या है, काव्य के महत्त्वपूर्ण विषय कौन से हैं, कविता की भाषा कैसी हो, समालोचना किसे कहते हैं आदि की चर्चा करने के पश्चात मिश्र जी ने मतिराम और उनके समकालीन कवियों की कविताओं की प्रकृति तथा मतों का उल्लेख किया है और मतिराम तथा अन्य रीतिकालीन कवियों की कविताओं में प्राप्त रसों, नायिकाओं, अलंकारों और गुण–दोषों की सामान्य चर्चा की है।

पं. कृष्णबिहारी मिश्र काव्य पर भाषा माधुर्य के प्रभाव को स्वीकार करते थे। उनका मानना था कि कविता, चित्र एवं संगीत का घनिष्ठ संबंध है और शब्द–माधुर्य, वर्ण–लालित्य तथा स्वर सौन्दर्य उसकी सफलता का एक प्रमुख कारण है। समालोचना को व्याख्यायित करते हुए वे लिखते हैं – "हमारी समझ में किसी ग्रंथ की समालोचना करते समय तद्‌गत विषय का प्रत्येक ओर से निरीक्षण होना चाहिए। ग्रन्थ का गौण विषय क्या है, वास्तविक वर्णन क्या है तथा भराव क्या है, तथा प्रयोजनीय क्या है आदि बातों का जिस समालोचना में विचार किया जाता है उससे पुस्तक का हाल वैसे ही विदित हो जाता है जैसे किसी मकान

के मान–चित्रादि से उस गृह का विवरण ज्ञात हो जाता है।"[42] आगे वे कहते हैं – तुलना भी समालोचना का एक प्रधान अंग है जिसमें एक या अनेक कवियों की उक्तियों की तुलना के आधार पर उनके काव्य की परीक्षा की जाती है।"[43]

मिश्र जी की आलोचना दृष्टि साहित्य को श्रृंगारिक और भाववाद तक सीमित न करके साहित्यिक रूपों के विकास को रेखांकित कर हिन्दी आलोचना को समृद्ध बनाती है। उनके यहाँ कविता की व्याख्या उसके भावानुकूल अभिप्रायों के साथ दिखाई पड़ती है। हिन्दी आलोचना में साहित्यिक मूल्यों के आधार पर आलोचना कर्म का जब भी मूल्यांकन होगा कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना सदैव अग्रणी भूमिका का निर्वहन करेगी। वास्तविक रूप में हिन्दी आलोचना का सुव्यवस्थित साहित्यिक रूप और मानदण्ड खड़ा करने का काम मिश्र जी की आलोचना से शुरू होता है। द्विवेदी युग के आलोचकों में कृष्णबिहारी मिश्र की दृष्टि सर्वाधिक साहित्यिक है और महत्त्वपूर्ण है।

3.5 श्यामसुन्दर दास

श्यामसुन्दर दास के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है – "नागरी प्रचारिणी सभा के स्थापनाकाल से लेकर हिन्दी भाषा कवियों की खोज तथा इतिहास आदि के संबंध में लेख लिखते आये हैं। ... आधुनिक सभ्यता के विधानों के बीच की लिखा–पढ़ी के ढंग पर हिन्दी को ले चलने में आपकी लेखनी ने बहुत कुछ योग दिया है।"[44] भाषा विज्ञान, हिन्दी भाषा और साहित्य 'साहित्यालोचन' और 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' आदि पुस्तकें इनकी प्रसिद्धि के आधार हैं।

'साहित्यालोचन' बाबू श्यामसुन्दर दास की सबसे प्रसिद्ध रचनाओं में एक है। 'साहित्यालोचन' का प्रथम संस्करण 1922 में इंडियन प्रेस प्रयाग से छपा था। 'साहित्यालोचन' की रचना में श्यामसुन्दर दास ने अनेक भारतीय और पाश्चात्य ग्रंथों का आधार लिया है। इसका कारण यह था कि उस समय हिन्दी साहित्य में उनके सामने ऐसा कोई पुष्ट और प्रामाणिक प्रतिमान नहीं था। उन्होंने अपने इस ग्रंथ का उद्देश्य बताते हुए स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि इसकी सामग्री उन्हें दूसरे ग्रंथों से मिली है और वे भारतीय तथा यूरोपीय आलोचना तत्वों को अपने दृष्टिकोण में परख कर ही व्यक्त कर सके हैं विषय–प्रतिपादन तथा अभिव्यंजना की दृष्टि से श्यामसुन्दर दास ने इसमें मौलिकता रखी है, किन्तु है यह अन्य ग्रंथों का एक निचोड़ ही। अभिप्राय यह है कि इस ग्रन्थ में ग्रन्थ की भाषा और यूरोपीय ग्रंथों की सहायता लेकर दोनों सिद्धान्तों में समन्वय लाने का उद्योग किया गया है। मौलिकता के संबंध में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है – "जो लोग विचारों की मौलिकता और उनके अभिव्यंजना की मौलिकता को अभिन्न समझते हैं, वे भ्रांति में हैं।"[45] उनका मानना था कि – "साहित्य में मौलिकता से अभिप्राय विचार और शैली दोनों की व्यक्तिगत विशेषता से है।"[46] उनकी दृष्टि में लेखक की मौलिकता की सच्ची कसौटी है – "हम उसकी रचनाओं द्वारा परखें कि उनसे संसार के ज्ञान भंडार की वृद्धि हुई है या नहीं? यदि लेखक अपने विचार अभिव्यक्ति अथवा शैली द्वारा यह कार्य कर सका है तो उसे मौलिक कहने में किसी प्रकार का आगा–पीछा नहीं करना चाहिए। जहाँ विचार और अभिव्यक्ति दोनों में मौलिकता हो वहाँ तो फिर कहना ही क्या है।"[47]

'साहित्यालोचन' हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना का प्रारम्भिक ग्रंथ है और इसे गहन विषय की प्रस्तावना–मात्र कहा जाना ही सर्वथा उचित है। 'साहित्यालोचन' का दूसरा संस्करण संशोधित रूप में नवम्बर 1937 ई. में प्रकाशित हुआ। इस संशोधित संस्करण में

पूर्ववर्ती संस्करण की महत्त्वपूर्ण सामग्री के साथ अनेक सम–सामयिक विषयों पर भी प्रस्तावना के रूप में भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भारतीय और यूरोपीय सिद्धान्त के सामंजस्य का प्रयास भी इस संस्करण में प्रथम संस्करण से ज्यादा है।

डॉ. नगेन्द्र अपनी पुस्तक 'विचार और विवेचन' में 'साहित्यालोचन' के बारे में लिखते हैं – "साहित्यालोचन मूलतः सैद्धान्तिक आलोचना का ग्रंथ है। इसके समालोच्य विषय कला, साहित्य, काव्य, रस, शैली तथा साहित्य की आलोचना आदि है। ... वस्तुतः उस युग में (द्विवेदी युग से) हिन्दी समालोचना साहित्य का जो स्वरूप और धरातल था, उसके दृष्टिकोण से साहित्यालोचन सैद्धान्तिक रूप की चरम परिणति कहा जा सकता है।"[48] समालोच्य विषय के विश्लेषण के क्रम में श्यामसुन्दर दास मनुष्य के संस्कारों और वृत्तियों का विश्लेषण अभिव्यंजना के रूप में करते हैं। उनका मानना है कि मनुष्य के संस्कारों और वृत्तियों का विश्लेषण अभिव्यंजना के रूप में ही हो सकता है और ये एक प्रकार की कला है। हालांकि वे आगे स्पष्ट करते हैं कि – "सम्पूर्ण अभिव्यंजना कला नहीं है क्योंकि दार्शनिक सिद्धान्त–समुच्चय और वैज्ञानिक तथ्य भी मानव अभिव्यंजना के विषय होने पर भी कला की श्रेणी में नहीं रखे जाते। वस्तुतः कला का लोक मुख्यतः भाव–लोक है, और इसी माध्यम से कला–कृतियां ग्रहण की जानी चाहिए।"[49]

श्यामसुन्दर दास ने अपने कला विश्लेषण के अन्तर्गत आधुनिक समीक्षा जगत में प्रचलित फ्रायड के 'स्वप्न–सिद्धांत', 'यथार्थवाद' और 'कला के लिए कला' आदि सिद्धान्तों का भी संक्षिप्त परिचय दिया है, जिसमें संकलन की प्रवृत्ति ही अधिक दिखाई पड़ती है। वे इन प्रवादों को पाश्चात्य विवेचन की उस 'अतिचारिता' में स्वीकार नहीं करते जिसका यूरोपीय विद्वानों ने अपने ग्रंथों और निबन्धों में निरूपण किया है। उनका तो स्पष्ट कथन है – 'फ्रायड के स्वप्न–सिद्धान्त को कलाभिव्यक्ति के मूल में स्वीकार करने पर यथार्थवाद के नाम पर समस्त साहित्य–विधाओं को ग्रहण करने पर उनका जीवन के सदाचार पक्ष से सम्बन्ध छूट जाता है, जो भारतीय साहित्य दर्शन का एक मूल आधार है।"[50] इसी तरह 'कला के लिए कला' सिद्धान्त की भी वे आलोचना करते हैं उनका मानना है कि कला को जीवन से अलग धरातल पर देखना साहित्य की स्वस्थ परम्परा के प्रतिकूल है।

साहित्य, काव्य तथा कविता संबंधी अपने विश्लेषण के क्रम में वे मानते हैं, साहित्य के मूल में भी उन्हीं मनोभावों का ग्रहण है जो समस्त कलाओं के मूल में है, किन्तु उसके प्रभाव को अधिक विस्तृत और दर्शन को अधिक सूक्ष्म बताते हैं। साथ ही 'साहित्य–दर्शन की

व्याख्या भारतीय दर्शन की मूल प्रकृति के आधार पर की है और उसे आत्मा और अनात्म भाव से युक्त माना है। उनकी दृष्टि में अन्यान्य कलाओं की भाँति साहित्य कला भी एक नैसर्गिक और अखंड सृष्टि है। वे इटली के कला–शास्त्री क्रोचे तथा इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध आलोचक आई.ए. रिचर्ड्स की उन धारणाओं को भी एक सीमा तक स्वीकार करते हैं जिनके अनुसार साहित्य क्रमशः एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है तथा उसका आनंद प्राकृतिक आनंद से तत्वतः भिन्न नहीं है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि प्राकृतिक आनंद की भावना के बिना भले ही काव्यानन्द की उपलब्धि न हो सके अथवा उसे अलौकिक अनुभूति का आधार न मिल सके, किन्तु प्राकृतिक आनंद और साहित्यिक आनंद को एक मानना भी उचित नहीं है।

श्यामसुन्दर दास के अनुसार काव्य का सत्य अपनी विशिष्टता में भले ही कुछ अलौकिक रूप ग्रहण कर ले, किन्तु उसका लोकहितकारी पक्ष कदापि उपेक्षणीय नहीं समझा जा सकता। काव्य का विवेचन करते समय गद्य और पद्य दोनों का समावेश करते हुए कविता की सीमा उन्होंने पद्यबद्ध साहित्य तक ही सीमित रखा है। साहित्यिक वृत्तियों को वे काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं। साथ ही साथ उसके भाव पक्ष और कला–पक्ष के समन्वय की बात भी वो स्वीकार करते हैं। वे भाषा की लक्षण, व्यंजना आदि शक्तियों को उद्‌बुद्ध और पुष्ट करके भावों को रसमय बना देना ही वस्तुतः साहित्य के कला–पक्ष का काम मानते हैं, जिसके अनुसार काव्य अथवा कविता भी इसी श्रेणी में 'परिगणित' हो जाते हैं। उन्होंने कविता की साधना को मुख्यतः शब्दों की साधना कहा है और उसका छन्दशास्त्र से भी सम्बन्ध निर्दिष्ट किया है।

'साहित्यालोचन' में गद्य काव्य का विश्लेषण अत्यन्त विस्तृत और व्यापक विधान में हुआ है। पाँचवा अध्याय तो केवल दृश्य काव्य के विवेचन से ही संबंधित है, जिसमें दृश्य काव्य की उत्पत्ति और नाटकों की परम्परा के विवेचन में भारतीय और यूरोपीय विचारों की सारगर्भित उद्धरण एक स्थान पर मिल जाते हैं। दृश्य–काव्य विवेचन के अलावा श्रव्य काव्य का विश्लेषण भी श्यामसुन्दर दास ने किया है। इसके अन्तर्गत उपन्यास, आख्यायिका निबन्ध, मुक्तक काव्य और साहित्यिक आलोचना सम्मिलित है। 'साहित्यालोचन' के अंतिम अध्याय में आलोचना की परिभाषा करते हुए वे लिखते हैं – "साहित्य क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर उनके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके संबंध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है।"[51] इसी क्रम में वे आगे लिखते हैं – "साहित्य अगर जीवन की व्याख्या है तो आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या है और उसका क्षेत्र साहित्य की सभी विधाओं तक व्याप्त है, यहाँ तक की आलोचनात्मक ग्रंथों की भी आलोचना की जा सकती है।"[52] यहाँ आकर

श्यामसुन्दर दास ने आलोचना के विस्तार को रेखांकित कर दिया है। सही बात भी यही है कि किसी रचना को देखने की दृष्टि अब तक क्या बनी है इसका विवेचन भी आलोचना के अन्तर्गत होना चाहिए।

श्यामसुन्दर दास ने आलोचना का क्षेत्र निर्धारित कर आलोचना का उद्‌देश्य, उसकी उपादेयता, आलोचक के आवश्यक गुण, आलोचना द्वारा साहित्य वृद्धि तथा साधारणतया आलोचना करते समय प्रयुक्त विधि का विश्लेषण कर यह बताया है कि साहित्य निर्माण में उसका कितना अधिक उत्तरदायित्व है। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य आलोचना तथा उसके सिद्धांतकारों का उल्लेख करते हुए, स्थायी साहित्य का गुण निर्धारण कर सिद्ध किया है कि उसका प्रतिमान आलोचना किस रूप में और किस प्रकार में ग्रहण करें। साहित्य की आलोचना को अधिकाधिक व्यापक रूप में व्याख्यायित करने का उन्होंने प्रयास किया है। उनका मानना था कि साहित्य जब अपने स्वरूप का विश्लेषण स्वयं करने लगता है तभी समालोचना का जन्म होता है। उन्होंने आलोचना को 'मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति माना है, जिसके अभाव में साहित्य के विकास की कल्पना की ही नहीं जा सकती।"[53] आलोचना के इसी प्रसंग में वे कहते हैं – "श्रेष्ठ समालोचना के लिये जिस प्रकार पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान अनिवार्य है, उसी प्रकार उसके लिए शब्द शक्ति का ज्ञान, साहित्य की आत्मा की परीक्षा और आलोच्य विषय और मानदण्ड की प्रवृत्ति की जानकारी भी आवश्यक है।"[54] उनका स्पष्ट मानना था – "आलोचक को अपने आलोच्य विषय के लक्ष्य की अनन्यता और अनाशक्ति का भी ध्यान रखना चाहिए और यथासम्भव अस्पष्टता के दोष से निरंतर बचने का भी ध्यान रखना चाहिए।"[55]

इस तरह हम देखते हैं कि श्यामसुन्दर दास ने अपने लेखन के माध्यम से हिन्दी समीक्षा के अन्तर्गत आलोचना के अभाव को दूर करने का प्रयास किया। द्विवेदी युग की पार्श्व–भूमि में श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी साहित्य और उसकी समालोचना को विकसित करने का कार्य किया। 'साहित्यालोचना' के अलावा तत्त्कालीन पत्र–पत्रिकाओं में उनके लेख इसके प्रमाण हैं। इन लेखों में आलोचनात्मक विवेक के साथ विषय की व्याख्या व्यवस्थित रूप में श्यामसुन्दर दास ने रखकर हिन्दी आलोचना की जमीन को नयी उर्वरता प्रदान की।

3.6 लाला भगवानदीन

द्विवेदी युगीन आलोचकों में लाला भगवानदीन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक और नागरी प्रचारिणी सभा से संबद्ध साहित्यकार थे। उनकी आलोचना में साहित्य के रचनात्मक और विचारात्मक पक्षों का समावेश था। इन्होंने यद्यपि कवियों, काल विशेषों तथा सिद्धान्तों को लेकर कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखी है, फिर भी उनके समय–समय पर पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों को देखने पर उनकी आलोचनात्मक चेतना का अनुमान किया जा सकता है। उनकी आलोचना में शास्त्रीय आधार से खंडन–मंडन की प्रवृत्ति भी मिलती है जिसमें परम्परागत रूढ़ियों को अधिक निकटता से अपनाया गया है। देव और बिहारी में कौन बड़ा और छोटा को लेकर उस युग में जो एक साहित्यिक वाद–विवाद चल पड़ा था, उसमें भी लाला भगवानदीन ने आगे बढ़कर भाग लिया। इन्होंने बिहारी के काव्य का पक्ष ग्रहण कर उसकी समता में देव को हीन प्रतिभा का कवि सिद्ध किया। इनके इस विवेचन को देखकर आप कह सकते हैं कि इन्होंने यह विश्लेषण भी पूर्वाग्रह और पक्षपातपूर्ण होकर किया है। इनके इसी विषयों पर लिखे गए लेखों का संग्रह पुस्तकाकार रूप में 'बिहारी और देव' नाम से प्रकाशित हुआ।

लाला भगवानदीन की आलोचना का एक महत्त्वपूर्ण भाग उनके द्वारा सम्पादित ग्रंथों की भूमिकाएँ हैं। उनका नवीन काव्य के प्रति कोई आकर्षण नहीं था, अतः उन्होंने अपनी अभिरुचि के अनुरूप केवल प्राचीन कवियों को ही अपने आलोचना का विषय बनाया। 'सूर पंचरत्न', 'केशव पंचरत्न', 'तुलसी पंचरत्न', 'अन्योक्ति कल्पद्रुम', 'ठाकुर ठसक', 'स्नेह–सागर', 'राजविलास', 'विरह विलास' और 'सूक्ति–सरोवर' उनके द्वारा सम्पादित काव्य–ग्रंथ हैं, जिनकी भूमिकाओं में उन्होंने काव्य के कला–पक्ष और भाव–पक्ष के विभिन्न पहलुओं पर व्याख्यात्मक शैली में रचनाकारों की विशेषताओं को बताते हुए उनकी काव्य–रचनाओं का उदाहरण देते हुए प्रस्तुत किया है। इसमें भी इनके काव्य–परीक्षण का प्रतिमान अधिकांशतः सैद्धान्तिक और शास्त्रीय ही है, जिसमें निर्णायक और प्रभावाभिव्यंजक आलोचना पद्धति के रूप दिखाई देते हैं। लाला भगवानदीन संस्कृत, हिन्दी के साथ–ही–साथ फारसी के भी ज्ञाता थे। उनका हिन्दी साहित्य में आगमन फारसी साहित्य के अध्ययन के अन्तर्गत ही हुआ था। यही कारण है कि उनके आलोचना में फारसी की संजीदा शैली का भी प्रभाव व्यंजित होता है। 'लक्ष्मी' नामक पत्रिका के सम्पादन–काल में उनकी समालोचनाएँ समय–समय पर निकलती रहीं। इन आलेखों को देखने के बाद यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लाला

भगवानदीन का जितना पुराने कवियों और काव्य प्रवृत्तियों से लगाव है उतना नवीन कवियों और विचारों से नहीं है।

लाला भगवानदीन की आलोचनाओं का एक प्रमुख अंग टीका–साहित्य है। "वह टीका साहित्य केवल शब्दार्थ योजना और सरलार्थ के दृष्टिकोण से ही न लिखा जाकर समालोचना की शास्त्रीय पद्धति से संबंधित अनेक प्रकार की टिप्पणियों से भी संवलित है। लाला जी ने विविध प्रतियों के आधार पर यथासम्भव टीका–ग्रंथों का शुद्ध और प्रामाणिक पाठ देकर प्रारम्भ में शब्दार्थ और भावार्थ दिए है। तदुपरांत आवश्यक स्थलों पर अलंकार, छन्द और शब्द शक्ति का निरूपण किया गया है। उनकी टीकाओं में समालोचना की तुलनात्मक पद्धति भी मिलती है। टीका के प्रसंग में उन्हें जहाँ कहीं भी प्रस्तुत पद्य के साथ किसी अन्य कवि के काव्य का भाव साम्य सूचक पद्य मिला है, उसका उदाहरण देकर उन्होंने उसकी विशेषता भी बताई है।"[56] इनके आलोचना पद्धति में तर्क की जगह भाववाद का प्रसार अधिक दिखता है। इसके साथ ही उनके टीकाओं के विवेचन में शब्दों की व्युत्पत्ति, उनकी मूलध्वनि तथा अर्थ योजना का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। उन्हें संस्कृत और फारसी के साथ बुन्देलखंडी, अवधी और ब्रजभाषा की शब्द–शक्ति और मूल चेतना का भी ज्ञान था, अतः उन्होंने टीका के प्रसंग में उनके प्रमुख शब्दों का भाषा–विज्ञान की दृष्टि से भी विश्लेषण किया है। लाला भगवानदीन का टीका–साहित्य दो अर्थों में महत्त्वपूर्ण है। पहला – काव्यों के अर्थ–बोध और भाव सौन्दर्य को पहचानने में तथा दूसरा – उनकी आलोचनात्मक दृष्टि को दर्शाने में। उनके टीका ग्रंथों में 'केशव–कौमुदी, 'मानस की टीका', 'बिहारी बोधिनी', 'प्रिया प्रकाश', 'दोहावली', 'कवितावली' और 'छत्रसाल–दशक' की टीकाएँ प्रमुख हैं।

लाला भगवानदीन की आलोचना का एक सैद्धान्तिक पक्ष भी है। वे ऐसे शास्त्रीय समालोचक हैं जिनका हमेशा जोर संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्त–पक्ष की ओर विशेष रहा है। उन्होंने 'अलंकार मंजूषा' और 'व्यंग्यार्थ–मंजूषा' के नाम से समालोचना के सैद्धान्तिक ग्रंथ भी लिखे हैं, जिनमें प्राचीन काव्य–शास्त्र को मूल आधार बनाकर अलंकारों और व्यंजनाओं का विश्लेषण किया गया है। ऐसा करते समय उन्होंने लक्षणों की सरलता और सुबोधता का सर्वत्र ध्यान रखा है। वे ऊहा–पोह में अधिक नहीं उलझे हैं जहाँ तक सम्भव हुआ है स्पष्ट भाषा–शैली में अलंकारों की प्राचीन काव्यों से संगति सूचक उदाहरण के साथ सामान्य सी व्याख्या कर दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि लाला भगवानदीन का सैद्धान्तिक निरूपण आचार्यत्व की छाप से अलंकृत न होने पर भी सामान्य पाठक वर्ग के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। 'अलंकार–मंजूषा' इसका प्रमाण है।

लाला भगवानदीन की आलोचनात्मक प्रतिमान के निर्माण में सूर, तुलसी, केशव, बिहारी और दीनदयाल गिरी जैसे कवियों के काव्य–विवेक का बड़ा सहयोग था। वे इन कवियों के काव्यालोचना का प्रतिमान उनके काव्य–विवेक के साथ जोड़कर प्रस्तुत करते हैं। समीक्षा के बाह्य पक्ष भाषा शैली का व्युत्पत्ति और विवेचन का विधान जैसे इनके यहाँ मिलते हैं, उस युग के किसी आलोचक के पास नहीं दिखता है। एक प्रकार से भाषा और रचनाओं के आधार पर ही इन्होंने कवियों के समय तथा स्थान का निर्धारण किया है। इनके द्वारा कवियों के व्यापक व्यक्तित्व और उनकी कृतियों के मूल प्रयोजन का उद्‌घाटन भी किया गया है। केशव को इन्होंने कवि, भक्त और आचार्य इन तीनों रूप में महत्त्व दिया तो सूर और तुलसी को भक्त और कवि के अतिरिक्त मानव–भावनाओं के सफल गायक के रूप में प्रतिष्ठित किया। 'दोहावली' की समालोचना के पूर्व उन्होंने काव्य के मूल प्रयोजन और मर्म–बोध के लिए जो साहित्यिक प्रतिमान निर्धारित किया है, वह उनके काव्य–विषयक उदार दृष्टिकोण का ही परिचायक है। "उन्होंने हृदय और मस्तिष्क की संसृष्टि से कविता का उद्रेक मानकर उसको पद्य से भिन्न माना है। उनका भक्ति–काव्य का विश्लेषण समालोचना की ऐतिहासिक प्रणाली का अनुगमन करता हुआ चला है। यद्यपि उनके समय में पाश्चात्य विधान की समालोचना–प्रणाली का प्रचलन हो गया था, किन्तु लाला जी पर उसकी छाया बहुत कम पड़ सकी है। कहा जा सकता है कि उनके द्वारा कवियों की विस्तृत समालोचनाओं में भी अपेक्षित सहयोग दिया गया है।"[57] वेंकेट शर्मा का यह उद्धरण उनके द्वारा लिखी गई 'सूर–पंचरत्न' की भूमिका सबसे आदर्श रूप का साक्षी है।

निष्कर्षतः लाला भगवानदीन की आलोचना एक निश्चित प्रणाली में चलती है, जिसमें यथा प्रसंग आलोचना के सैद्धान्तिक, तुलनात्मक, प्रभावाभिव्यंजक और निर्णयात्मक पक्षों का प्रयोग बड़ी शालीनता के साथ दिखाई पड़ता है। इनके आलोचना में कहीं पर भी तर्क–वितर्क का वितंडवाद नहीं दिखता है। यही कारण है कि हिन्दी का शोधकर्ता जहाँ उनका अध्ययन आलोचना का तुलनात्मक और क्रमिक विकास समझने के लिए करता है, वहीं छात्र–समाज विषय तक पहुँचने के लिए। हिन्दी आलोचना के स्वरूप और विकास में पाठ केन्द्रित आलोचना का सबसे महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर लाला भगवानदीन की आलोचना है।

3.7 बालमुकुन्द गुप्त

बालमुकुन्द गुप्त की आलोचना दृष्टि में द्विवेदी युग की दो प्रमुख प्रवृत्तियां दिखाई पड़ती हैं। पहली प्रवृत्ति उपयोगितावादी प्रवृत्ति–मूलक है और दूसरी रीतिवादी प्रवृत्ति–मूलक। मूलतः बालमुकुन्द गुप्त महावीरप्रसाद द्विवेदी के समीप दिखाई पड़ते हैं, लेकिन वैयक्तिक राग–द्वेष के कारण इनमें बहुत ज्यादा तर्क–वितर्क हुआ करता था। द्विवेदी जी के शब्दों को लेकर यह उनके विपक्ष में लिखा करते थे तो द्विवेदी जी उतना ही गर्मजोशी से इनकी बातों का खण्डन किया करते थे। गुप्त जी जिस प्रकार के प्रश्नों से द्विवेदी जी को गलत साबित करते थे द्विवेदी जी उसी प्रकार स्वाभाविक प्रत्युत्तर भी उन्हें देते थे। 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर इन दोनों में हुए तर्क–वितर्क इसका प्रमाण है।

नई कविता, पुरानी कविता, शैली और भाव आदि विषयों पर उन्होंने कुछ नहीं कहा, द्विवेदी जी के इन विचारों से उत्तेजित होकर भी नहीं। एक स्थान पर द्विवेदी जी की उस प्रवृत्ति पर जरूर कटाक्ष किया है जो पुराने महाकवियों का भी दोष दिखाती है। इसलिए स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि गुप्त जी आलोचना के क्षेत्र में पूर्णतः द्विवेदी जी के साथ थे। हाँ जितना नैतिकतावादी दृष्टि महावीरप्रसाद द्विवेदी की थी उससे दो हाथ आगे बढ़े ही नजर आते हैं गुप्त जी। गुप्त जी 'अश्रुमति नाटक', 'अधखिलाफूल', 'गुलशन–ए–हिन्द', 'तुलसी सुधाकर', 'तारा उपन्यास', 'प्रवासी की आलोचना', 'बंगला साहित्य' आदि भी रिव्यू की है। 'अश्रुमती' बंगला का नाटक है। मुंशी उदित नारायण लाल ने हिन्दी में इसका अनुवाद किया था। इस नाटक में महाराणा प्रताप जब जंगलों में भटक रहे हैं उस समय अकबर की सेना का एक मुसलमान सैनिक मानसिंह के संकेत पर चोरी से प्रताप की (कल्पित) लड़की अश्रुमति को चुरा ले जाता है। मानसिंह इस पर बड़ा आनंदित होता है। सलीम को जब अश्रुमति की खबर मिलती है तब वह उसको अपने आश्रय में रखता है। अश्रुमति और सलीम के बीच इसी समय प्यार हो जाता है और अश्रुमति सलीम के प्रेम में पागल हो उठती है। अश्रुमति यह बात अपने चाचा शक्तिसिंह से भी कहती है। उधर पृथ्वीराज भी अश्रुमति से प्रेम करने लगता है और इसी कारण सलीम उसे मार डालता है तथा अश्रुमति को घायल करता है। शक्तिसिंह घायल अश्रुमति को प्रताप के पास पहुँचाता है। वहां भी वह सलीम के प्रेम में प्रलाप करती है। अन्त में प्रताप कलंकिनी अश्रुमति को भैरवी बनने का हुक्म देता है। वह महादेव की पूजा करती हुई श्मशान में रहने लगती है। वहां सलीम मिलता है और वह गायब हो जाती है। गुप्त जी ने इस नाटक की आलोचना करते

हुए लिखते हैं – "अश्रुमति नाटक लिखे जाने से बंग भाषा के साहित्य का मुंह काला हो गया है।"[58] यही नहीं आगे लिखते हैं – "किन्तु साहित्य जहन्नुम में जाय हमको साहित्य से कुछ मतलब नहीं है। हमको जो मतलब है, इस पुस्तक से है, वह हिन्दू धर्म लेकर, राजपूतों का गौरव लेकर हिन्दू हिन्दूपति महाराणा प्रताप सिंह की उज्ज्वल कीर्ति लेकर है। इस अश्रुमति में चाहे जाने हो, चाहे बेजाने हो, हिन्दू धर्म पर बड़ा भारी आक्रमण किया गया है। राजपूत कुल में कलंक लगाया गया है।"[59] इस समीक्षा में गुप्त जी की हिन्दूवादी दृष्टि साफ झलक पड़ती है। यहाँ गुप्तजी को दुःख उसके इतिहास विरुद्ध होने से कम, उसके हिन्दू विरुद्ध होने से ज्यादा है। यहाँ आकर वो महावीरप्रसाद द्विवेदी को भी मात दे देते हैं।

'तारा' किशोरीलाल गोस्वामी का उपन्यास है। इस उपन्यास की समीक्षा करते हुए गुप्त जी ने इसे ऐतिहासिक चरित्र का गला घोंटकर कही गई कहानी मानते हैं। वे लिखते हैं – "गोस्वामी महाराज को अब तक भी यह मालूम नहीं है कि तारा (उपन्यास) कैसी कलंक भरी पोथी है।" आगे लिखते हैं – "इस उपन्यास में जहांनारा और दारा (बहिन–भाई) का संवाद कितना निर्लज्जतापूर्ण और अस्वाभाविक ढंग से कराया गया है। इसी प्रकार अर्जुन अपनी भांजी का विवाह एक मुसलमान से करना चाहता है।

जहांनारा – ज्यादा खूबसूरत यह तस्वीर यानी तारा है या मैं?

दारा – (मुस्कराकर) मेरी निगाहों में तो तारा से तुम्हीं ज्यादा हसीन मालूम होती हो।

क्या दिव्य साहित्य है! हम नागरी प्रचारिणी सभा को सावधान करते हैं कि यदि सचमुच वह हिन्दी की उन्नति चाहती है तो सबसे पहले तारा पढ़े और गोस्वामी महाराज को समझावें कि वह कैसा गन्दा और भयानक काम कर रहे हैं।"[60]

'गुलशन–ए–हिन्द' का गुप्त जी ने प्रशंसात्मक परिचय दिया है। प्रवासी की आलोचना में उन्होंने प्रवासी के इन मतों से सहमति व्यक्त की है –

(1) 'संस्कृत से निकली हुई भारतीय भाषाओं में हिन्दी सबसे पीछे है और बंगला सबसे आगे।

(2) अनुवाद में कुछ हानि नहीं पर मूल बंगला ग्रंथ के अधिकारी से आज्ञा लिये बिना हिन्दी अनुवाद करते समय हमने देखा है और कई बार ऐसा करनेवालों को खबरदार भी किया है।'

सहमति व्यक्त करते हुए भी गुप्त जी ने उलटकर यही काम करने वाले बंगला के लेखकों पर करारी चोट की है और यह सिद्ध किया है कि बंगला में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बालमुकुन्द गुप्त द्विवेदी युगीन आलोचना के हिन्दूवादी पक्ष के समर्थक हैं और इस दृष्टि से वे मूलतः उस काल की सामंती प्रवृत्तियों के साथ योग देते दिखाई पड़ते हैं। यहां तक की उनकी आलोचना में साहित्यिक मूल्यांकन का भी दर्शन कम ही होता है।

सन्दर्भ

1 महावीरप्रसाद द्विवेदी – विचार–विमर्श, पृ. 45
2 मिश्रबंधु – हिन्दी नवरत्न, पृ. 8
3 वही, पृ. 12
4 सं. कृष्णबिहारी मिश्र – मतिराम ग्रंथावली, पृ. 23
5 वही, पृ. 24
6 रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 531
7 वैंकेट शर्मा – आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास, पृ. 196
8 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 17
9 वही, पृ.
10 रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 350
11 सं. भारत यायावर – महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली, भाग–6, पृ. 19
12 वही, पृ. 27–28
13 वही, पृ.
14 विशेष अध्ययन के लिए देखें – सरस्वती–1915 के अगस्त माह का अंक
15 NCRB.hov.in, 2008 तक की रपट के अनुसार
16 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 297
17 वही, पृ. 270
18 रामदरश मिश्र – हिन्दी आलोचना प्रवृत्तियां और आधारभूमि से उद्धृत, पृ. 41
19 सरस्वती, 1911, पृ. 311
20 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 270
21 वही, पृ. 279
22 मिश्रबन्धु – मिश्रबन्धु–विनोद, भाग–3, पृ. 133
23 वही, पृ. 132
24 मिश्रबन्धु – हिन्दी नवरत्न, पृ. 230
25 मिश्रबन्धु – मिश्रबन्धु–विनोद, भाग–3, पृ. 129
26 रामदरश मिश्र – हिन्दी आलोचना : प्रवृत्तियां और आधारभूमि
27 मिश्रबन्धु – मिश्रबन्धु–विनोद, भूमिका
28 विष्णुकान्त शास्त्री – हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, भाग–9, पृ. 145
29 मिश्रबन्धु – हिन्दी नवरत्न, पृ. 174, 175
30 कृष्णबिहारी मिश्र – देव और बिहारी, पृ. 49
31 सं. कुमार पंकज – बिहारी सतसई, भूमिका
32 वही, पृ. 6–7
33 वही, पृ. 7
34 वही, पृ. 22
35 रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 377
36 कृष्णबिहारी मिश्र – देव और बिहारी, भूमिका
37 वही, पृ. 31
38 वही, पृ. 30
39 वही, पृ. 38

40 सं. कृष्णबिहारी मिश्र – मतिराम ग्रंथावली की भूमिका, पृ. 1
41 रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 378
42 कृष्णबिहारी मिश्र – देव और बिहारी, पृ. 34
43 वही, पृ. 35
44 रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 269
45 श्यामसुन्दर दास – साहित्यालोचन, पृ. 123
46 वही, पृ. 126
47 वही, पृ. 128
48 नगेन्द्र – विचार और विवेचन, पृ. 102
49 श्यामसुन्दर दास – साहित्यालोचन, पृ. 10
50 वही, पृ. 13, 14
51 वही, पृ. 175
52 वही, पृ. 179
53 वही, पृ. 180
54 वही, पृ. 181
55 वही, पृ. 184
56 वैंकट शर्मा – आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास, पृ. 242
57 वही, पृ. 244
58 रामदरश मिश्र – हिन्दी आलोचना : प्रवृत्तियां और आधार भूमि, पृ. 71 से उद्धृत
59 वही, पृ. 72
60 वही

चौथा अध्याय

युगीन आलोचना के विविध रूप

4.1 सैद्धांतिक आलोचना
4.2 व्यावहारिक आलोचना
4.3 तुलनात्मक आलोचना
4.4 टीका–साहित्य और पुस्तक समीक्षा

युगीन आलोचना के विविध रूप

हिन्दी आलोचना भारतेन्दु युग से शुरू होती है। भारतेन्दु युग के लेखकों के सामने आलोचना या साहित्य सिद्धान्त संबंधी चिंतन की दो परम्पराएँ मौजूद थीं। एक संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा और दूसरी साहित्य चिंतन की यूरोपीय परम्परा। इन्हीं दो परम्पराओं के बीच से हिन्दी आलोचना अपना एक स्वतंत्र मार्ग विकसित करती है। वह न तो संस्कृत काव्यशास्त्र का पूर्ण अनुकरण करती है और न ही यूरोपीय सिद्धान्त का। हाँ, इन दोनों परम्पराओं के सिद्धान्तों को अपने आलोचना कर्म का वह साधन जरूर बनाती है, लेकिन उसका साध्य अपने समय के साथ जुड़कर साहित्य को नए सन्दर्भों से जोड़ना रहता है। इसलिए हिन्दी आलोचना के विकास में भारतीय काव्यशास्त्रीय तथा यूरोपीय सिद्धान्त केवल साधन मात्र हैं। मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है – "भारतेन्दु युग के सजग लेखक यह अनुभव कर रहे थे कि उनके समय के भारतीय समाज के साथ हिन्दी साहित्य भी नयी दिशा में आगे बढ़ रहा है और साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में जो साहित्य लिखा जा रहा है उसे समझने के लिए साहित्य की एक नयी धारणा की जरूरत थी। यह काम न तो संस्कृत साहित्यशास्त्र से पूरा हो सकता था और न पाश्चात्य साहित्यशास्त्र से। यही कारण है कि बालकृष्ण भट्ट ने 1881 ई. में साहित्य की नयी धारणा सामने रखी। उन्होंने एक निबंध लिखा, जिसका शीर्षक था 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है।' यह एक तरह से भारतेन्दु युग के साहित्य की परिभाषा है और उसको समझने की कुंजी भी। इसी के आस–पास 1883 ई. में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' नाम का एक लम्बा निबंध लिखा जिससे हिन्दी में नाटक संबंधी सैद्धान्तिक सोच का आरम्भ होता है।"[1] साहित्य को 'जनसमूह के हृदय का विकास' बता कर जहाँ बालकृष्ण भट्ट साहित्य के भाव पक्ष पर जोर देते हैं वहीं 'नाटक' जैसा निबंध लिखकर भारतेन्दु हिन्दी आलोचना के सैद्धान्तिक रूप को काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त से अलग हटाकर वर्तमान सन्दर्भों के साथ जोड़ते हैं। 'नाटक' निबंध पर टिप्पणी करते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है – "उन्होंने (भारतेन्दु ने) बदली हुई जनरुचि के अनुसार नाट्य रचना में परिवर्तन करने पर विशेष बल दिया है।"[2] इस तरह हिन्दी आलोचना की शुरुआत तो भारतेन्दु युग से हो जाती है, लेकिन आलोचना के सार्थक और महत्त्वपूर्ण मानदण्ड द्विवेदी युग में विकसित होते हैं। अतः भारतेन्दु युग को हिन्दी आलोचना का 'प्रवर्तन–काल' मानना जितना उचित है, उतना ही द्विवेदी युगीन आलोचना को हिन्दी आलोचना का 'संवर्धन–काल' कहना सार्थक है।

द्विवेदी युग में हिन्दी आलोचना का विकास दो स्तरों पर प्रमुखता से होता है। पहले स्तर पर हिन्दी आलोचना, हिन्दी की जातीय परम्परा को समीक्षा के केन्द्र में लाती है। दूसरे स्तर पर वह वैज्ञानिक विचारों तथा विवेक–सम्मत चिंतन से अपने को जोड़ते हुए, अपने समय के सरोकारों को पहचानते हुए, इतिहास तथा सामाजिक गतिविधियों से अपना संबंध स्थापित करती है। यही कारण है कि भारतेन्दु युग में जो साहित्य 'जनसमूह के हृदय का विकास' था वह द्विवेदी युग में आकर 'ज्ञान राशि का संचित कोश' बन जाता है। इस युग में विषय–वस्तु के साथ–साथ भाषा का भी मानक रूप स्थिर होता है। इस युग की आलोचना ज्ञान के अन्य अनुशासनों के साथ जुड़कर एक विस्तृत फलक का निर्माण करती है। इस निर्माण की प्रक्रिया में हिन्दी आलोचना का एक सुनिश्चित मानसिक धरातल निर्मित होता है। यह धरातल एक तरफ आदर्श तो दूसरी तरफ समाज–सुधार के प्रवृत्ति के भीत पर खड़ा होता है। इसी दृष्टि के अनुसार रचनाओं और पुस्तकों का समीक्षा भी इस युग में होती है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस युग के आलोचकों और सम्पादकों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है – "इस युग (द्विवेदी युग) के सम्पादक और समालोचक समालोच्य कृतियों के संबंध में केवल दस–पाँच पंक्तियों में परिचय के तौर पर यों ही कुछ लिखकर अपने कर्त्तव्य से छुट्टी नहीं पाने लगे, अपितु उनकी दृष्टि इस ओर भी जाने लगी कि यथासम्भव समालोचना के लिए प्राप्त रचनाओं का कुछ विशद विवेचन भी हो।"[3] भारतेन्दु युग में अधिकतर पुस्तकों की समीक्षाएँ उनकी छपाई, कीमत, पृष्ठ संख्या, लेखक, संवत् आदि पर संक्षिप्त टिप्पणी करते हुए ही कर दी जाती थी, या यह कहकर टाल दिया जाता था कि इसकी समीक्षा अगले अंक में प्रस्तुत की जायेगी। द्विवेदी युग में ऐसा कम हुआ।

द्विवेदी युग में आलोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का विवेचन हुआ। उसके मानदण्ड स्थिर करने पर विचार किया गया। एक तरफ रस, ध्वनि, अलंकार को काव्यशास्त्रीय पैमाने से अलग हटाकर कविता के नए मानदण्ड तैयार किये गए, तो दूसरी तरफ पाश्चात्य जगत में विकसित होने वाली व्याख्यात्मक समालोचना के सिद्धान्तों को भारतीय सम–सामयिक चिंताओं से जोड़कर अलग रूप में व्याख्यायित किया गया। यही कारण है कि इस युग की आलोचना में नैतिकता, उपयोगिता तथा समाज–सुधार की प्रवृत्ति ज्यादा देखने को मिलती है। "इस युग के प्रायः आलोचक 'मध्य वर्ग' के व्यक्ति थे। इनके संस्कार में नैतिकता तथा आचार–शास्त्र भरा पड़ा था। यद्यपि 'युग–धर्म ने उनके मानस में सुधारवादी विचारधारा और नैतिकता की विकासोन्मुखी भावना का प्रस्फुटन भी किया था, किन्तु अतीत के प्रति बनी हुई अपनी आस्थाओं में इतने सुदृढ़ थे कि नवीनता का आलोक

उन्हें बिना किसी सांस्कृतिक आधार को चमत्कृत और मुग्ध नहीं बना सकता था।"[4] इसलिए उन्होंने साहित्य को यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति न मानकर, साहित्य को जीवन की एक 'संजीवनी शक्ति' और 'मंगलविधायिनी' प्रेरणा के रूप में देखा। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है – "कविता का विषय मनोरंजक और उपदेश–जनक होना चाहिए। यमुना के किनारे–किनारे केलि–कौतूहल का अद्‌भुत–अद्‌भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबंध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न ही स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनंत आकाश, अनंत पृथ्वी, अनंत पर्वत – सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है। फिर क्या कारण है कि इन विषयों को छोड़कर कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता का चरम सीमा समझते हैं? केवल अविचार और अंध परम्परा! यदि मेघनाथ–वध अथवा यशवन्तराव महाकाव्य वे लिख नहीं सकते, तो उनको ईश्वर की निःसीम सृष्टि में से छोटे–छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को चुनकर उन्हीं पर छोटी–छोटी कविताएँ करनी चाहिए।"[5] यह नैतिकतावादी और उपयोगितावादी दृष्टि केवल द्विवेदी जी के यहां ही नहीं, बल्कि उस युग के अधिकांश आलोचकों के यहां भी दिखाई पड़ती है। इस युग के आलोचकों ने जो अपने आलोचना का मानदण्ड तैयार किया उसमें इस 'उपयोगितावादी' दृष्टि का सर्वाधिक प्रभाव था। अब सवाल यह है कि यह उपयोगितावादी दृष्टि साहित्य और आलोचना के लिए क्यों महत्त्वपूर्ण नहीं है? या इसके प्रभाव से आलोचना के विकास में क्या खामियाँ आईं?

उपयोगितावादी दृष्टि किसी भी साहित्य की समीक्षा के लिए एक एकांगी दृष्टि है। इस दृष्टि से जब भी साहित्य को देखा–परखा जाएगा तब साहित्य की मूलधारा संकुचित होगी। साहित्य अपनी चेतना में हमेशा संकुचित धरातल को तोड़ता है। उसकी व्यापकता ही उसके सार्थकता को प्रतिविम्बित करती है। उपयोगितावादी दृष्टि उसके व्यापकता में बाधक होती है। यह दृष्टि तत्कालीन रूप से तो अपना प्रभाव उस युग पर डालती है, लेकिन आगे उसकी धारा संकुचित होने लगती है। इसलिए उसका प्रभाव स्थूल और पार्थिव होता है। वह अपनी सुरुचि और आवश्यकता के अनुसार ही सभी चीजों को देखने–समझने के दावे को सत्य मान लेती है। द्विवेदी युगीन आलोचकों ने इस दृष्टि के कारण ही साहित्य को अपने अनुसार पसंद किया तथा जो उसके साँचे में फिट नहीं बैठा उसे नकार दिया। इस युग के आलोचकों के प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए नन्ददुलारे वाजपेयी ने ठीक ही लिखा है – "इस युग के आलोचकों ने जिस धरातल पर अवस्थित होकर साहित्य विवेचन किया, वह

अत्यन्त स्थूल और पार्थिव था। उसमें सुधारवादियों वाली व्याख्यान प्रणाली मिलती है, जिसका प्रयोग प्रवचन–मंचों पर बड़ी सुदृढ़ता और निर्भीकता से किया जाता है।"[6] इस युग के अधिकांश आलोचकों के मानस में अपनी सुरुचि और नैतिकता के विशिष्ट सिद्धान्त थे। इन सिद्धान्तों को प्रतिमान बनाकर वे साहित्य का परीक्षण करते थे तथा उस पर अपना निर्णय थोप देते थे। उनकी दृष्टि आर्यसमाज की भावनाओं से प्रभावित रहती थी जिस कारण नैतिकता उनका बड़ा कारगर मानदण्ड होता था। द्विवेदी युग की आलोचना पर नैतिकता और आदर्श की छाप आलोचना के क्षेत्र में अपना ऐसा प्रभाव अंकित कर गई, जिस कारण उस युग के आलोचक कई कृतियों और साहित्यकारों का सार्थक मूल्यांकन नहीं कर पाए। एक तरफ छायावाद के कवि इस युग के आलोचकों के व्यंग्य–वाण के शिकार हुए तो दूसरी तरफ रीतिकालीन कवि। इस व्यंग्य–वाण के मूल में उनकी वही नैतिकतावादी प्रवृत्ति काम कर रही थी जो उनके पारम्परिक संस्कारों से मिली थी। मुक्तक और गीतिकाव्य के स्थान पर प्रबन्ध और महाकाव्यों को महत्त्व देना तथा यथार्थ के स्थान पर आदर्श का अधिकार इसी दृष्टि का प्रमाण है। यही नहीं वे कला के विषय में जीवन–पक्ष की आदर्शात्मकता को भी इतना बोझिल बनाकर ग्रहण किये कि साहित्य की मूल–वृत्ति का दायरा सीमित हो गया।

द्विवेदी युग की आलोचना ने कुछ साहित्यिक मानदण्ड भी स्थिर किए। वह मानदण्ड आलोचना के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण थे। साहित्य की जातीय परम्परा की खोज, साम्राज्यवाद विरोध, ज्ञान के अन्य अनुशासनों के साथ साहित्य का संबंध, नवीन विचारों के साथ द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति, सम–सामयिक सरोकारों से साहित्य का संबंध आदि कई ऐसे पहलू हैं जो द्विवेदीयुगीन आलोचकों ने अपनी समीक्षा दृष्टि से विकसित कर साहित्य को व्यक्ति सत्ता के धरातल से उठाकर समाजसत्ता का विषय बनाया।

द्विवेदीयुगीन आलोचना की सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी है – जातीय साहित्य की खोज। अब थोड़ा ठहर कर जातीय साहित्य की अवधारणा और उसके खोज के कारण पर विचार कर लेना जरूरी है। रामविलास शर्मा ने लिखा है – "हिन्दी साहित्य, विशेषकर हिन्दी आलोचना की एक जातीय परम्परा है। यह कितनी ओजस्वी, आन्तरिक तेज से कितनी दीप्त, नये जीवन की चुनौतियों को कितने साहस से स्वीकार करती है, इसे हिन्दी पाठक द्विवेदी जी के उद्धृत व्यक्तव्य में देखें। यहाँ रसनिष्पति की बात नहीं है, कला की सामाजिक विमुख साधना की बात नहीं है, भारतीय संस्कृति के नाम पर यूरोप की प्रगतिशील विचारधारा के विरोध और हानिकारक धार्मिक रूढ़ियों के समर्थन की बात नहीं है। यहां एक सर्तक, जागरूक दृष्टि का परिचय मिलता है जो अपनी जातीय विशेषताएँ पहचानकर जहाँ से भी

ज्ञान मिले, वहाँ से उसे प्राप्त करके, जातीय जीवन को बदलने, उसे नया आधुनिक रूप देने में विश्वास करती है। यह हिन्दी की आधुनिक गौरवशाली परम्परा है जो हमें विरासत में महावीरप्रसाद द्विवेदी से मिली है।"[7] यह बात सही है कि जातीय साहित्य की सत्ता एक सजीव इकाई है। वह सदैव परिवर्तनशील और विकासमान रहती है। इस कारण जातीय साहित्य के अध्ययन में ऐतिहासिक रूप से दो बातों पर विचार आवश्यक हो जाता है। पहली बात तो यह कि जिस जातीय साहित्य का हम अध्ययन कर रहे हैं उसके परमपरागत जीवन के भाव क्या हैं? और दूसरी बात यह कि उस जाति या देश की मानसिक जीवन शैली कैसी थी और उसका विकास किस रूप में हुआ? श्यामसुन्दर दास ने जातीय साहित्य का विवेचन करते हुए लिखा है – "व्यक्तिगत भिन्नता को छोड़कर जो साधारण भाव किसी देश और काल में अधिकता से वर्तमान होते हैं वे ही भाव जातीय प्रकृति के व्यंजक या बोधक होते हैं और उन्हीं जातीय भावों का विवेचनापूर्वक विचार करके हम इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि अमुक जाति के जातीय भाव ऐसे थे। उन्हीं के आधार पर हम किसी जाति की शक्ति, उसकी त्रुटि और उसकी मानसिक तथा नैतिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा इस बात का अनुभव करते हैं कि उस जाति ने संसार की मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति में कहां तक योग दिया।"[8] वहीं जातीय साहित्य पर बात रखते हुए महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने निबंध 'साहित्य' में लिखा है कि – "आंख उठाकर जरा देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहां की सामाजिक तथा राजकीय स्थितियों में कैसे–कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ने वहां की सामाजिक दशा कुछ की कुछ कर दी है, शासन–प्रबन्ध में बड़े–बड़े उथल–पुथल कर डाले हैं, यहां तक कि अनुदार और धार्मिक भावों को जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पादन साहित्य ने ही किया है, जातीय स्वातन्त्र्य के बीज उसी ने बोये हैं, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य भावों को उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है, पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पदाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊंचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिन्दा करने वाली संजीवनी औषधि का आकार है, जो करने वाला है उसके उत्पादन और सम्वर्द्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानान्धकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है।"[9]

किसी भी समय में जातीय साहित्य को पहचानना और उसका विवेचन करना सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है। जब भी सांस्कृतिक स्तर पर राष्ट्र को एकत्रित करना हो, जातीय साहित्य अपनी सबसे बड़ी भूमिका का निर्वहन करता है। द्विवेदी युग में भारतीय जनमानस को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ एकजुट होकर लड़ना था। इसलिए उस समय जातीय साहित्य की आवश्यकता प्रबल थी। उस समय के साहित्यकार इस बात को अच्छे से समझ रहे थे। जातिगत स्तर पर यह देश (भारत) जिस तरह बंटा हुआ था उसको एकजुट करने के लिए, उनमें राष्ट्रवादी भावना का विकास करने के लिए जातीय साहित्य की खोज जरूरी थी। यही कारण है कि द्विवेदीयुगीन आलोचक अपने समकालीन पहलुओं पर तो विचार कर ही रहे थे, साथ–ही–साथ अतीत के साहित्यकारों को भी अपने विवेचन का विषय बना रहे थे। इस युग के आलोचकों ने 'लोक–भाषा' पर इसीलिए जोर दिया, क्योंकि वह जानते थे कि आम जनता अपने जीवन के दुःख–दर्दों को लोक भाषा में समझती है। भाषा जाति और साहित्य के संबंधों को व्याख्यायित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने न्यूमैन के अंग्रेजी निबंध 'लिटरेचर' का हिन्दी अनुवाद साहित्य शीर्षक से किया। यह अनुवाद 1904 ई. की सरस्वती में प्रकाशित हुआ। उसमें उन्होंने लिखा है – "किसी भाषा के शब्दों के भाव और रूप, और उसे बोलनेवाली जाति के स्वभाव और आशय, में जो संबंध है वह प्रत्यक्ष है। बहुतेरे लोग भाषा का उसी प्रकार प्रयोग करते हैं जैसा कि वे होता हुआ देखते हैं। प्रतिभाशाली पुरुष उनका प्रयोग तो करता है, किन्तु उसे अपने आशय के अधीन रखता है और उसे एक निराले ढंग पर ले चलता है। कल्पना–समूह, विचार–माला अनुभव और उत्साह इत्यादि जो उसके चित्त में उत्पन्न होते हैं, उन्हीं को वह अपनी भाषा में व्यक्त करता है। उसकी भाषा वैसी ही बहुरूपिणी है जैसे उसकी आन्तरिक क्रियाएँ हैं, क्रियाएँ वास्तव में उसकी छाया सदृश है। जैसे उसकी कल्पना निज की है, उसके विचार उसके निज के हैं, वैसे ही उसकी भाषा या स्टाइल भी उसकी निज की है। 'विचार' और 'वाणी' एक दूसरे से पृथक नहीं किए जा सकते। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं – 'गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।' वे एक ही वस्तु के दो विभाग हैं। विचार और कल्पना भाषा द्वारा प्रगट किये जाते हैं। यही साहित्य है।"[10] यही कारण था कि उस युग के आलोचकों ने लोक–भाषा के साहित्य और साहित्यकारों को अपनी आलोचना के केन्द्र में लाकर हिन्दी के एक विस्तृत और व्यापक जातीय साहित्य का निर्माण किया। इसी जातीय साहित्य की परिकल्पना में इस युग के आलोचकों ने प्राचीन, मध्यकालीन और अपने समकालीन साहित्यकारों का विवेचन किया। चन्दबरदाई, कबीर, तुलसी, सूर, केशव, बिहारी, भूषण, देव, मतिराम इत्यादि कवियों के

विवेचन के साथ ही साथ संस्कृत और पाश्चात्य साहित्य के कवियों पर भी समालोचना लिखकर हिन्दी आलोचना के व्यापक भावभूमि को तैयार किया।

अब सवाल यह है कि अगर इस युग में जातीय साहित्य की खोज सांस्कृतिक स्तर पर हुई तो, फिर क्या कारण था कि हिन्दी प्रदेश में विभेद भी सांस्कृतिक स्तर पर हुआ? इस सांस्कृतिक विभेद का सबसे बड़ा कारण भाषा बनी? दरअसल पश्चिमोत्तर प्रांत और अवध में 1860 के दशक में हिन्दी–उर्दू विवाद का जन्म हुआ है। यह विवाद कुछ समय तक ठंढ़ा रहा, लेकिन 1882 ई. में इसे दोबारा जीवित किया गया है। 1882 में यह विवाद केवल पश्चिमोत्तर प्रांत और अवध तक सीमित नहीं रहा है। इसके लपट में हिन्दी भाषी क्षेत्र – पंजाब और मध्यप्रांत भी आ गए। 1890 के दशक में यह आन्दोलन और तेज हुआ। 1893 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा बनारस में स्थापित हुई। सभा के द्वारा पुराने साहित्यकारों को व्याख्यायित करने, हिन्दी भाषा को समृद्ध करने और शब्दकोश का निर्माण करने का काम शुरू हुआ। इस निर्माण प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों के कृतियों की खोज और उनपर समालोचनाएँ लिखी तो जाती हैं, लेकिन हिन्दी–उर्दू के बीच खाई बढ़ जाती है। वास्तव में उस समय उत्तर भारत की जनता का बहुसंख्यक जिस भाषा को बोलता था, उसमें हिन्दी–उर्दू का ज्यादा विभेद नहीं था। वह एक ही भाषा थी जो दो लिपियों में लिखी जाती थी। हिन्दी देवनागरी में लिखी जाती थी और उर्दू फारसी में। बोलचाल में दोनों भाषाओं के शब्दों को आम जनता आसानी से समझ जाती थी। यह बात स्वीकार करने योग्य है कि देवनागरी में लिखी जाने के कारण या फारसी में लिखी जाने के कारण कोई भाषा अलग नहीं होती है। एक भाषा की दो लिपियाँ हो सकती हैं। यह उस भाषा के समृद्धि का सूचक है। पर इस विवाद ने हिन्दी को संस्कृत के पास तो उर्दू को फारसी के पास पहुँचा दिया। यही कारण है कि प्राचीन कवियों के विवेचन में हिन्दी आलोचक कालिदास तक चले जाते हैं, लेकिन 'मीर' उन्हें याद भी नहीं आते।

यह अलगाव केवल हिन्दुओं के तरफ से नहीं बल्कि मुस्लिम विचारकों के तरफ से भी हुआ। इस अलगाव के कुछ बुनियादी और राजनीतिक कारण थे। जैसे नौकरी का सवाल। (इन कारणों पर विस्तृत विवेचन अगले अध्याय के उप–अध्याय 'हिन्दी–उर्दू विवाद' में प्रस्तुत किया जायेगा)।

उन्नीसवीं सदी के अंत तक कांग्रेस के भीतर दो गुट का विभाजन स्पष्ट रूप से दिखने लगता है। कांग्रेस के भीतर से एक गुट निकलता है जो प्रतिक्रियावादी और उग्र होता है। इस गुट को गरमपंथी (Extremist) कहा जाता है। यह गरमपंथ तीन प्रमुख क्षेत्रों में तीन

महत्त्वपूर्ण नेताओं के नेतृत्व में विकसित होता है। बंगाल में – विपिनचन्द्र पाल, महाराष्ट्र में बाल गंगाधर तिलक और पंजाब में लाला लाजपत राय। अन्य क्षेत्रों में भी इसका प्रभाव था, पर उतना शक्तिशाली नहीं। उससे राजनीतिक आन्दोलन तो प्रभावित हुआ ही, साहित्य भी अछूता नहीं रहा। गरमपंथ के राजनीतिक पहलू के साथ साहित्य को जोड़ते हुए शेखर बंद्योपाध्याय ने लिखा है – "वास्तव में गरमपंथ, आन्दोलन की विधि में देखा जाता था और वे लोग प्रार्थनापत्रों और ज्ञापनों की पुरानी विधियों से हटकर सविनय अवज्ञा की विधियों का उपयोग करने लगे। इसका अर्थ अन्यायपूर्ण कानूनों के उल्लंघन के द्वारा उपनिवेशी शासन का विरोध, ब्रिटिश माँगों और संस्थाओं का बहिष्कार और उसके देसी विकल्पों का अर्थात् स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा का विकास था। इस नई राजनीति को वैचारिक प्रेरणा नए क्षेत्रीय साहित्य से मिली, जिसने भारतीय राष्ट्र की परिभाषा उसकी विशिष्ट सांस्कृतिक धरोहर या सभ्यता के आधार पर करने के लिए चर्चा का आधार तैयार किया। यह प्राच्यवाद से भरपूर, निश्चित ही एक पुनरुत्थानवादी संवाद था और उसने एक परिकल्पित स्वर्णयुग का आह्वान किया और एक अतीतमुखी पुनर्रचित इतिहास से प्राप्त प्रतीकों का उपयोग राष्ट्रवादी भावनाओं को उभारने के लिए किया। ... इस समाज ने फिर अपने शासन के अधिकार की वैधता स्थापित करने के लिए एक परिकल्पित आर्य युग के क्षत्रियत्व में अपना पुरुषत्व साबित करने की कोशिश की। जिन ऐतिहासिक पात्रों ने कभी शौर्य और साहस का परिचय दिया था, उनको राष्ट्रीय नायकों के रूप में पेश किया गया।"[11] यह प्राच्यवाद से भरपूर, पुनरुत्थानवादी विचार द्विवेदी युग के लेखकों में भी दिखता है।

राष्ट्रीय आन्दोलन को तीव्र करने के लिए सांस्कृतिक स्तर पर जिस नायकत्व प्रधान पात्रों की आवश्यकता थी, इस युग के आलोचक पात्रों को अपने विवेचन से साहित्य के केन्द्र में ला रहे थे। यही कारण है कि कालिदास के वही पात्र द्विवेदी जी को ज्यादा भाते हैं, जहाँ नायकत्व प्रधान उनका गुण मिलता है। जातीयता के इसी स्तर पर राम और कृष्ण जैसे चरित्र उभरते हैं। राम का नायकत्व इस युग के लेखकों को आकर्षिक करता है। रीतिकालीन काव्य जो द्विवेदी जी के कोप–भाजन का शिकार बनता है, उसका कारण उनकी यही पुनरुत्थानवादी दृष्टि रहती है। इन सबके बावजूद भी द्विवेदीयुगीन आलोचकों ने हिन्दी आलोचना के विकास में जो योगदान दिया, वह बहुत ही सार्थक और महत्त्वपूर्ण है। आलोचना के विविध रूप (सैद्धान्तिक आलोचना, व्यावहारिक आलोचना, तुलनात्मक आलोचना, शोधात्मक और टीका साहित्य, पुस्तक समीक्षा इत्यादि) इस युग में व्यवस्थित हुए। अब इन रूपों पर एक नज़र डालते हैं, जिससे इस युग के आलोचनाकर्म के महत्त्व को समझा जा सके।

4.1 सैद्धान्तिक आलोचना

सैद्धान्तिक आलोचना एक तर्कप्रधान वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो तर्कों के द्वारा प्रमाणित सिद्धान्तों पर आधारित होती है। इसमें रचनाओं के गुण–दोष का विवेचन सर्वोपरि नहीं होता है। सैद्धान्तिक आलोचना कृतियों में निहित साहित्यिक बोध, जीवन–दर्शन और विचारों का अनुशीलन करते हुए, उन मूलभूत तत्त्वों को प्रतिपादित करती है, जिसके द्वारा साहित्यिक–सर्जना की बोध प्रक्रिया को समझा जाता है। इसीलिए परिवर्तनशीलता को स्वीकारते हुए भी सैद्धान्तिक आलोचना का स्वरूप स्थिर होता है। सैद्धान्तिक आलोचना साहित्य के सर्जक तथा मूल्यांकन के लिए भावभूमि तैयार करती है। वह इस तथ्य पर विचार करती है कि युगीन साहित्य, जीवन के किस स्वरूप को उद्‌घाटित करता है। सैद्धान्तिक आलोचना का कार्य साहित्य या काव्य के स्वरूप का विश्लेषण करना है। कविता क्या है? उसका लक्ष्य क्या है, जीवन, दर्शन, कला के पारस्परिक संबंध क्या हैं? प्रत्यक्ष सामग्री को कला किस रूप में और किन माध्यमों से ग्रहण करती है? आदि प्रश्नों पर विचार करके कला और साहित्य के विषय में कुछ सम्मति निर्धारित करना सैद्धान्तिक आलोचना के विषय हैं। श्यामसुन्दर दास ने लिखा है – "रचनात्मक साहित्य के दो पक्ष होते हैं। एक कवि का पक्ष और दूसरा श्रोता या पाठक का पक्ष। अतः काव्य क्या है, केवल इसी पक्ष पर नहीं, बल्कि काव्य का अनुशीलन किस दृष्टि से और कैसा होना चाहिए, पाठक की साहित्याभिरुचि कैसी होनी चाहिए, परम्पराभुक्त साहित्याभिरुचि से काव्य का अनुश्यीलन करने में क्या त्रुटियाँ होती हैं, कैसे प्रगतिशील या विकासमयी साहित्याभिरुचि ही काव्यानुशीलन के लिए आवश्यक है और काव्य के साथ पूर्ण न्याय कर सकती है, क्योंकि काव्य स्वयं प्रगतिशील है, नित्य नूतन सामग्री और साधनों की ओर उसकी प्रगति होती है, इस प्रकार के प्रश्नों को हल करना और फिर कुछ निष्कर्ष पर पहुँचना सैद्धान्तिक समीक्षा की गवेषणा के विषय हैं। यह आलोचना एक प्रकार से आलोचना का शास्त्रीय पक्ष है और शेष प्रकार की आलोचनाएँ भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों से उसके प्रयोग।"[12]

आधुनिक काल के शुरुआती 50 वर्षों में नवीनता और प्राचीनता के द्वन्द्व से साहित्य सर्जन का उपक्रम चलता रहता है। विषय के चयन, प्रस्तुतीकरण तथा कलात्मकता के प्रति भारतेन्दुयुगीन रचनाकारों की दृष्टि आलोचनात्मक प्रतिभा से सम्पन्न तो रहती है, लेकिन आलोचना का स्वतंत्र अस्तित्व इस युग में व्यवस्थित स्थापित नहीं होता है। रचनात्मक साहित्यिक ग्रंथों की भूमिकाओं या पत्र–पत्रिकाओं में कहीं–कहीं साहित्यालोचन का स्वर

जरूर दिखाई पड़ता है। इन्हीं के बीच हमें हिन्दी के सैद्धान्तिक आलोचना के कुछ सूत्र बिखरे हुए मिलते हैं। इसका 'बीज' रूप हमें बालकृष्ण भट्ट के निबंध – 1. साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है, 2. कल्पना शक्ति, 3. प्रतिभा आदि तथा भारतेन्दु का निबंध 'दृश्य काव्य अथवा नाटक' में मिलता है। भले ही इनमें ऊपरी सतह पर ही सही किन्तु नए परिप्रेक्ष्य में काव्य संबंधी विस्तृत विवेचन सर्वप्रथम हमें उपलब्ध होता है। भट्ट जी की कई ऐसी सैद्धान्तिक मान्यताएं हैं जिसका विवेचन और विकास द्विवेदी युग के आलोचना में होता है।

बालकृष्ण भट्ट ने 'सच्ची कविता' निबंध (हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1886) में पहली बार कविता के बारे में आधुनिक दृष्टिकोण से विचार किया है। उन्होंने कविता के बारे में लिखा है – "कविता को हम मनुष्य के हृदयगत भाव का सत्र–एसन्स मानते हैं।"[13] वहीं प्रेमघन कविता के बारे में लिखते हैं – "सच्ची कविता वही है जो मनुष्य के हृदय ग्रन्थि को खोलती है।"[14] यही 'हृदयगत भाव का सत्र एसन्स' और 'दृश्य ग्रन्थि' को खोलने का भाव आगे चलकर आचार्य शुक्ल के यहाँ 'हृदय की मुक्तावस्था' हो जाता है। मनुष्य के संकुचित भावों का विकास कविता करती है, इस सिद्धान्त के तरफ आधुनिक आलोचना शुरू से विचार करती रहती है। प्रेमघन ने समालोचना के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए 'स्वतंत्र हिन्दी साहित्यशास्त्र' की आवश्यकता पर बल दिया तो वहीं प्रतापनारायण मिश्र ने कविता की भाषा पर नए दृष्टिकोण से विचार किया। आगे चलकर महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके युग के अन्य आलोचकों के यहाँ कविता और साहित्य के सिद्धान्तों की व्याख्या इसी क्रमिक विकास में मिलती है।

यह प्रश्न आज तक बना हुआ है कि हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना का प्रारम्भ किस निबन्ध या ग्रंथ से माना जाए? हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना का प्रवर्तक या आलोचक हम किसे माने? जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो विद्वानों के भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण मिलते हैं। रीतिकाल में काव्यांग निरूपण की जिस परमपरा का आरम्भ हुआ, उसका प्रभाव आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक 100 वर्षों तक स्पष्ट रूप में मिलता है। परिणामस्वरूप इन वर्षों में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की बहुलता तो हुई, लेकिन इन ग्रंथों में काव्य के तत्त्वों का, काव्य रचना–प्रक्रिया की, काव्यालोचन आदि का नए सन्दर्भों में विवेचन नहीं हुआ। इनमें से अधिकांश ग्रंथों की रचना का उद्देश्य कवि–शिक्षा और काव्य रसिकों को काव्य के अंगोवांग से परिचित करना ही था। इन ग्रंथों को काव्यशास्त्रीय प्रत्यन कहना ही ज्यादा तर्कसंगत है।

डॉ. भागीरथ मिश्र ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्यशास्त्र के इतिहास' में वि.सं. 1950

तक रचित ऐसे ग्रंथों की सूची प्रस्तुत की है, जिनमें काव्य पर विचार किया गया है, लेकिन इनमें प्रायः रीतिकालीन परिपाटी का निर्वाह हुआ है। स्वतंत्र रूप में काव्य विवेचन इन ग्रंथों का मूल उपजीव्य नहीं है। इसी प्रकार प्रसाद भानु कृत – 'काव्यप्रभाकर', बाबू गुलाबराय कृत – 'नवरस', लाला भगवानदीन कृत – 'अलंकार मंजूषा', सीताराम शास्त्री कृत – 'साहित्य–सिद्धान्त', कन्हैयालाल पोद्दार कृत – :काव्यकल्पद्रुप', अर्जुनदास केडिया कृत – 'भारतीयभूषण', बिहारीलाल भट्ट कृत – 'साहित्यसागर' आदि ग्रंथों की गणना भी सैद्धान्तिक आलोचना में की जाती है।[15] पहली बात तो यह कि इन ग्रंथों में लक्षण–उदाहरण की प्रवृत्ति ही प्रमुख रही है। दूसरी, इन पर संस्कृत काव्यशास्त्र और रीतिकालीन काव्य विवेचन की परिपाटी का प्रभाव अधिक रहा है। मौलिक रूप में सिद्धान्त विवेचन और निरूपण नहीं हुआ है। प्रायः 'शास्त्र' को ही आधार मानकर चर्चा की गई है। इसलिए ये शास्त्रीय आलोचना के ग्रंथ तो कहे जा सकते हैं, लेकिन सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत इनको रखना ठीक नहीं है।

नवीन जीवन–विषयक दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य–विवेचन का कार्य द्विवेदी–युग से प्रारम्भ होता है। डॉ. उदयभानु सिंह ने द्विवेदी जी कृत – 'कालिदास और उनकी कविता' में कुछ पृष्ठों तक सिद्धान्त निरूपण माना है।[16] तो क्या इसे हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना का प्रथम ग्रन्थ कहा जा सकता है? वास्तविकता यह है कि इसमें केवल तीन पृष्ठों पर काव्य–संबंधी विवेचन हुआ है। वह भी प्रारम्भ में नहीं। बहुत आगे चलकर यह चर्चा प्रसंगवश हुई है। अतः हम इसे सैद्धान्तिक आलोचना का प्रथम ग्रंथ न मानकर उस दिशा में किए गए प्रयास के रूप में देखें तो ज्यादा सार्थक और तर्कसम्मत है।

श्री शिवनाथ राजनाथ शर्मा द्विवेदी कृत 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' को हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना की प्रथम कृति मानते हैं। वास्तव में इसमें सीताराम द्वारा लिखे गए कालिदास के अनुदित नाटकों की आलोचना है। इसमें दोष–दर्शन की प्रवृत्ति अधिक है, सम्यक् रूप में इसे आलोचना नहीं कहा जा सकता। इसी परम्परा में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना' नामक छोटी पुस्तक भी आती है। डॉ. शिवकुमार शर्मा, डॉ. उदयभानु सिंह, डॉ. महेश्वरी सिंह मेहरा, डॉ. राजेन्द्र कुमार के अनुसार यह हिन्दी की मौलिक रचना है तो दूसरी ओर डॉ. रामलाल सिंह, राजनाथ शर्मा आदि इसे हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना की प्रथम पुस्तक मानते हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'यह पुस्तक मूल रूप में जी पिपलूणकर शास्त्री द्वारा मराठी में रचित ग्रंथ 'निबन्धमालादर्श' के एक प्रकरण 'ग्रंथावर टीका' का यह हिन्दी अनुवाद है। अग्निहोत्री जी की यह मौलिक कृति नहीं है। उदाहरण के लिए इस हिन्दी

अनुवाद में 'शांतता' तथा अन्य मराठी शब्दों का प्रयोग बहुलता से हुआ है। दूसरे इसमें समालोचक के गुणों और समालोचना के स्वरूप पर विचार किया गया है। काव्य का विवेचन–विश्लेषण नहीं हुआ है। भ्रम का कारण यह है कि अग्निहोत्री जी ने इस पुस्तकाकार निबंध की न कहीं भूमिका दी है और न ही इसे अनूदित कहा है।"[17] हमारे विचार से भारतेन्दु युग से समसामयिक जीवन को आत्मसात करने वाले सर्जनात्मक साहित्य का आरम्भ होता है और द्विवेदी युग में उसके परिष्कार, परिमार्जन एवं उसे सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया जाता है। हिन्दी आलोचना के अन्तर्गत नए–सिद्धान्तों की स्थापना का युग सन् 1900 से 1920 ई. तक की आलोचना है। महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु, कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन, आदि इस युग में अपनी कृतियों में सूर, तुलसी, देव, बिहारी, कबीर आदि कवियों पर लिखते हुए जहाँ आलोचना की धारा को विस्तृत करते हैं वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मानस का विकास भी इसी युग में होता है। अतः हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना या हिन्दी आलोचना की वास्तविक विकास स्थल सन् 1900 से 1920 के बीच लिखी गई आलोचना है।

हिन्दी आलोचना मुख्यतः द्विवेदी युग से शुरू होती हे। रूपकिशोर मिश्र ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना' में महावीरप्रसाद द्विवेदी पर बात रखते हुए लिखा है – "द्विवेदी जी किन्ही अंशों तक परम्पराविहित थे, पर सर्वत्र और सदैव नहीं। परम्परा के बंधन से मुक्त होकर भी उन्होंने साहित्य–चिंतन किया है, भाषा–परिष्कार पर बल दिया है तथा नीतिवादी होते हुए भी उन्होंने साहित्य को विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से देखने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। किसी भी भाषा के साहित्य में, कला में नवीन प्रवृत्तियों का जन्म प्रायः इसी रूप में होता है।"[18] इस बात से यह स्वतः स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी के साथ ही हिन्दी आलोचना नवीन प्रवृत्तियों के साथ अपने सम–सामयिक चिंतन को एक आयाम देने लगी थी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित कई पुस्तकें हैं, जिनमें उनका साहित्य चिंतन उपलब्ध होता है। इनमें मुख्य हैं – साहित्य सीकर, रस रंजन, वाग्विलास, ज्ञान–भारती, विचार–विमर्श, कालिदास और उनकी कविता आदि। इन पुस्तकों के विभिन्न निबंधों में कविता, कविता का विषय, कविता का अर्थ, कविता की भाषा, काव्य प्रयोजन, छन्द आदि पर उन्होंने विचार किया है। वास्तविक रूप में सैद्धान्तिक आलोचना उसे नहीं कहा जा सकता है, लेकिन इन पुस्तकों में सैद्धान्तिक आलोचना की वह जमीन दिख जाती है, जिस पर हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना खड़ी है। कविता की परिभाषा देते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है – "अंतःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के विकारों के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते तब वे आप–ही–आप मुख के मार्ग से बाहर

निकलने लगते हैं, अर्थात् मनोभाव शब्दों का स्वरूप धारण करते हैं। वही कविता है।"[19] कहने का तात्पर्य यह है कि द्विवेदी जी मानव–मन की विविध वृत्तियों का उद्‌घाटन तथा कविता में हृदयगत अनुभूतियों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति पर बल देते हैं। इसी तथ्य को वे कालिदास की कविता के सन्दर्भ में भी कहते हैं – "रस और भाव मन के विकार हैं एवं इन मनोविकारों के उत्कृष्ट शब्द–चित्र को कविता कहा गया है।"[20]

द्विवेदी जी कविता में हृदयगत अनुभूतियों के प्रवाह को प्रमुख मानते हैं और कविता की ज्येष्ठता का मूल्यांकन कविता से प्राप्त होने वाली आनंद की अनुभूति के आधार पर करते हैं। उन्हीं के शब्दों में – "जिस कविता से जितना ही अधिक आनंद मिले उसे उतना ही अधिक ऊँचे दर्जे की समझना चाहिए।"[21] इसके लिए वे काव्य में प्रसादगुण, 'वैदर्भी रीति और कोमलकान्त पदावली के प्रयोग पर बल देते हैं। वे इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि कविता सादी हो, जोश से पूर्ण हो और वास्तविकता से उसका संबंध हो। जोश से उनका अभिप्राय कविता के प्रवाह से है। सादगी के द्वारा वे काव्यभाषा की सरलता और उसकी बोधगम्यता को प्रमुखता से उभारना चाहते हैं। वास्तविकता से उनका अभिप्राय यथार्थ की अनुभूति से है। उनके लिए काव्य में यथार्थ घटनाओं का अंकन होना जरूरी है। केवल कपोल कल्पना से कविता नहीं होती है। कल्पनाजन्य कविता से मनोरंजन हो सकता है पर वह प्रेरणादायी नहीं हो सकती। मानव–मन की चितवृत्तियों का वह संस्कार नहीं कर सकती। हमारी समस्याओं का वह समाधान नहीं कर सकती। ऐसी कई मान्यताएँ द्विवेदी जी की कविता संबंधी चिंतन से उभर कर आती है। उपयोगितावादी दृष्टि होने के कारण ही यह मान्यताएँ द्विवेदी जी की यहाँ दिखती हैं।

द्विवेदी जी की कविता संबंधी कतिपय मान्यताएँ संग्रहवृत्ति का परिचायक है, लेकिन इन मान्यताओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मौलिक अंश भी हैं। ये अंश तत्कालीन जीवन–दर्शन तथा साहित्य की उपज है। सैद्धान्तिक आलोचना की समृद्ध परम्परा का दर्शन भले ही द्विवेदी जी के यहाँ नहीं दिखता है, लेकिन सैद्धान्तिक आलोचना की सुदृढ़ नीव जरूर दिखती है। उनके निबंध 'कवि और कविता', 'उपमा', 'नायिका भेद', 'कविता', 'आजकल की कविता', 'भद्‌दी कविता' आदि इसके प्रमाण हैं। द्विवेदी जी की रचनाओं में भविष्य की हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना के कुछ ऐसे बीज अंकुरित हुए हैं जिनका विकास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रखर आलोचक की सैद्धान्तिक आलोचना में दिखता है। उदाहरण स्वरूप जैसे द्विवेदी जी की लोकहितवादी भावना, जिसे आचार्य शुक्ल ने 'लोकमंगल' के नाम से व्याख्यायित किया है। हकीकत तो यह है कि द्विवेदी जी जैसी नैतिकता, आचार्य शुक्ल के

यहाँ भी विद्यमान थी, जिसके आधार पर शुक्ल जी ने 'काव्य में साधना अवस्था'जैसा सैद्धान्तिक आलोचना का निबंध लिखा। काव्य की प्रभावाभिव्यंजना और उत्कृष्टता के लिए मनोविज्ञान का ज्ञान, सहृदय होना, सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण, व्यवहार ज्ञान आदि के महत्त्व को दोनों आचार्यप्रवर स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना की पार्श्व–भूमि में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके विचारों में नवीनता, प्रगतिशीलता, विविधता, गाम्भीर्य और ओज के पुट हैं। उनके विवेचन में गहन चिंतन, मौलिकता, आत्मविश्वास का समावेश है। उनकी आलोचना की मुख्य प्रवृत्ति उपयोगितावादी है फिर भी उनकी साहित्यिक मान्यताएँ समसामयिक कविता और जीवनदृष्टि को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी में 'मुक्तछन्द', 'नई कविता' और गद्यकाव्य का आह्वान सर्वप्रथम द्विवेदी जी से ही शुरू होता है।

द्विवेदी जी के अलावा उनके समकालीन आलोचकों ने भी अपने व्यावहारिक आलोचना में सिद्धान्त के कुछ पुट दिये हैं। मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी काव्य (समालोचना) शीर्षक निबंध के अतिरिक्त मिश्रबन्धु बिनोद (प्रथम भाग) की भूमिका में भी साहित्य के लक्षण आदि पर कुछ चर्चा की है। उस चर्चा को सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है, लेकिन उसको सैद्धान्तिक आलोचना के विकास की पृष्ठभूमि के रूप में में देखा जा सकता है। इसी प्रकार पं. पद्यमसिंह शर्मा द्वारा तुलनात्मक आलोचना के आधार स्वरूप 'अर्थापहरण' और कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा 'समालोचना' एवं 'काव्यभाषा' पर संक्षेप में महत्त्वपूर्ण और सार्थक विवेचन किया गया है। समालोचना की परिभाषा करते हुए कृष्णबिहारी मिश्र ने लिखा है – "निष्पक्षपात–भाव से किसी वस्तु के गुण–दूषणों की विवेचना करना समालोचना है। इस प्रथा के अवलंबन से उत्तम विचारों की पुष्टि तथा वृद्धि होती रहती है।"[22] साथ ही इस युग के आलोचकों ने कविता संबंधी जो मूल्यांकन किया वह भी वस्तुतः सैद्धान्तिक आलोचना न होकर उसकी पृष्ठभूमि ही है। यह पृष्ठभूमि कविता संबंधी आलोचना और सैद्धान्तिक आलोचना के विकास को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है।

मिश्रबंधु 'रमणीयता' को साहित्य का मूल्य मानते हुए भी साहित्य को समयानुकूल, लाभदायक तत्त्वों से युक्त करना चाहते थे। नवीनता के पक्ष को संदर्भित करते हुए उन्होंने लिखा है – "हिन्दी भाषा पर भी इस परिवर्तन काल का अच्छा प्रभाव पड़ा और उपयोगी विषयों पर रचनाएँ होने लगीं। इसी के साथ कहना ही पड़ता है कि संसारी–पने की वृद्धि के साथ कविता और कवित्व शक्ति का ह्रास होने लगा और गद्यकाल देख पड़ा।"[23] यहां स्पष्ट है कि परिवर्तन को अनिवार्य एक प्रशंसनीय दृष्टि मानते हुए भी ह्रास पर मिश्रबंधुओं

ने खिन्नता प्रकट की। द्विवेदी जी की तुलना में मिश्रबन्धुओं की दृष्टि अधिक लचीली और सामाजिक नैतिक मूल्यों को स्वीकारते हुए भी साहित्य के अपने मूल्यों पर अधिक बल देनेवाली थी। इसीलिये उन्होंने रीतिकालीन काव्य को तिरस्कारणीय नहीं माना है। काव्य के स्वभाविक गुणों पर बल देने के कारण ही उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में काव्य गुण की न्यूनता पाइ और अपने युग के आलोचकों में छायावाद का सबसे अधिक स्वागत किया।

पं. पद्यसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन तथा जगन्नाथदास रतनाकर मूलतः प्राचीनतावादी आलोचक थे और क्रमशः अतिशयोक्ति, अलंकार और रमणीयता को काव्य का गुण समझते थे। ये तीनों विचारक पुरानी कविता (खासकर रीतिकालीन कविता) के मर्मज्ञ थे और ब्रजभाषा काव्य पर रीझी हुई दृष्टि के कारण वे मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय और छायावादी कवियों के कविताई को खुले ह्रदय से स्वीकार नहीं कर पाये। इन लोगों की नजर में द्विवेदी युगीन कविता तुकबंदी थी तो छायावादी कविता अर्थहीन प्रलाप मात्र थी। पं. पद्यसिंह शर्मा अधिकार भेद के सिद्धान्त के अनरूप माना कि बालब्रह्मचारी, मुमुक्षु, यति, जीवनभुक्त संन्यासी आदि श्रृंगारिक कविता के पाठ के अधिकारी नहीं हैं। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि "रूचिभेद और अवस्था भेद से काव्यों के कुछ वर्णन किन्हीं विशेष व्यक्तियों को अनुचित प्रतीत हों, यह और बात है, इससे ऐसे काव्य की (श्रृंगारिक काव्य की) अनुपयोगिता सिद्ध नहीं होती।"[24] साथ ही आगे खड़ी बोली की कविता की असमर्थ भाषा को प्राचीन साहित्य के रस संचार से पुष्ट करने का सुझाव देते हुए लिखा – "विषय की दृष्टि से न सही भाषा के महत्त्व की दृष्टि से भी देखिए तो श्रृंगार रस के प्राचीन काव्यों की उपयोगिता कुछ कम नहीं है।"[25] इन आलोचकों के यहाँ पुरानी काव्य परम्परा का मोह तो दिखता है लेकिन समकालीन परिवेश की समझ और भविष्य की कल्पना में असमर्थता ही दिखती है। इस कारण इनके काव्य सम्बन्धी चिंतन का सैद्धान्तिक आधार हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप नहीं अदा करता है।

इस युग के आलोचकों में कविता संबंधी चिंतन में महत्त्वपूर्ण और सार्थक दृष्टि कृष्णबिहारी मिश्र की है। वे उस युग के पहले ऐसे आलोचक थे जिन्होंने उपयोगितावादी दृष्टि का विरोध किया। उन्होंने लिखा है – "उपदेशहीन कविता कविता ही न हो, यह बात नितांत भ्रमपूर्ण है। कविता के लिए केवल रस परिपाक होना चाहिए। उपयोगितावाद के चक्कर में डालकर ललित कला का सौन्दर्य नष्ट करना घोर पातक है।"[26] अपनी रसवादी दृष्टि के अनुरूप ही मिश्र जी काव्य का उद्‌देश्य आनंद प्रधान मानते थे, नैतिक उत्थान नहीं। जहाँ उनके समकालीन आचार्य प्रवर आलोचक नैतिकतावादी और उपयोगितावादी विचारकों

(जैसे दयानंदसरस्वती, तिलक, डॉ. ग्रियर्सन, जान स्टुअर्ट मिल) से प्रभावित थे वही मिश्र जी शैली, कोलरिज, वर्ड्सवर्थ जैसे स्वच्छंदतावादी विचारकों और कवियों के अनुशीलन से रीतिकालिन काव्य की नई व्याख्या कर रहे थे।

द्विवेदी युग में कुछ और ग्रंथ लिखे गए जो सैद्धान्तिक विवेचन के दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। जैसे सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का 'अलंकार प्रकाश'। बाद में इसी का विकसित और परिवर्धित रूप 'काव्य कल्पद्रुम' (रस मंजरी तथा अलंकार मंजरी का संयुक्त रूप) के नाम से प्रकाशित हुआ। मूल संस्कृत ग्रंथों के अनुशीलन और व्याख्या के समन्वित दृष्टि से लिखे जाने के कारण इस ग्रंथ की पर्याप्त प्रतिष्ठा हुई। श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' कृत 'काव्य प्रभाकर' सं. 1966 में प्रकाशित हुआ जिसमें समस्त काव्यांगों को समेट लिया गया है। यह दीगर बात है कि इस पुस्तक में शास्त्रीय विवेचन पर कम और उदाहरण संग्रह पर अधिक ध्यान दिया गया है। इनका 'छन्द प्रभाकर' जरूर छन्द परम्परा पर लिखा अच्छा ग्रंथ है। लाला भगवानदीन की 'अलंकार मंजूषा' और 'व्यंगयार्थ मंजूषा' सैद्धान्तिक विवेचना की महत्त्वपूर्ण पुस्तक न होते हुए भी छात्रोपयोगी है जिसमें लक्षणा और उदाहरण की स्पष्टता तथा शैली की सुबोधता प्रशंसनीय है। इसके साथ ही बाबू राम बित्थरिया कृत 'नवरस' तथा सेठ अर्जुनदास केडिया कृत 'भारती भूषण' भी सैद्धान्तिक आलोचना की परम्परा के उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास कृत 'साहित्यालोचन' सैद्धान्तिक आलोचना की महत्त्वपूर्ण पुस्तक है जिसमें पाश्चात्य और भारतीय समीक्षाशास्त्र के अनुशीलन के साथ भारतीय काव्य चिंतन और समालोचना को समन्यवित रूप से विवेचित किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि द्विवेदीयुगीन आलोचना में भले ही व्यवस्थित सैद्धान्तिक आलोचना नहीं लिखी गई, लेकिन हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना के विकास में इस युग की फुटकल सैद्धान्तिक आलोचना ने आगे के लिए एक सुव्यवस्थित मार्ग प्रशस्त किया। हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना के विकास पर जब भी बात होगी उसमें द्विवेदीयुगीन आलोचना की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर बात जरूर होगी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सैद्धान्तिक आलोचना की वास्तविक जमीन भी द्विवेदीयुगीन आलोचना से लड़ते–भिड़ते हुए निर्मित हुई है। सैद्धान्तिक आलोचना के विकासक्रम को द्विवेदीयुगीन आलोचना से काट कर नहीं देखा जा सकता है। तमाम अन्तर्विरोधों के बावजूद भी इस काल की सैद्धान्तिक आलोचना हिन्दी आलोचना के विकासक्रम में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है।

4.2 व्यावहारिक आलोचना

द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना वस्तुतः व्यावहारिक आलोचना ही है। हिन्दी में व्यावहारिक आलोचना के विस्तृत स्वरूप का यह उन्मेष काल था। इस युग के आलोचकों के सामने अपनी परम्परा के प्राचीन ग्रंथों के विवेचन के साथ ही साथ डॉ. जान्सन कृत 'लाइव्स आव पोएट्स' डॉ. ग्रियर्सन कृत 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान' मैक्समूलर, वेबर, मैक्डानल के लिखे संस्कृत का इतिहास, डॉ. बूलर, डॉ. हार्नली आदि के अनुसंधान कार्य को परखने, समझने की चुनौति थी। इस चुनौति को स्वीकारते हुए इस युग के आलोचकों ने हिन्दी आलोचना में व्यावहारिक आलोचना को समृद्ध किया।

व्यावहारिक आलोचना के प्रमुख तीन तत्त्व होते हैं। पहला – प्रभावात्मक, दूसरा – निर्णयात्मक और तीसरा – व्याख्यात्मक। व्याख्यात्मक तत्त्व इसमें ज्यादा महत्त्वपूर्ण होता है। इसका कारण यह है कि इसमें मनोवैज्ञानिक, चरितमूलक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक प्रवृत्ति जुड़ी होती है। वास्तव में जब कोई सैद्धान्तिक आलोचना निर्मित होती है तो उसके निर्माण के लिए यही व्यावहारिक आलोचना मार्ग प्रशस्त करती है। आलोचना में व्याख्या या विश्लेषण ही ऐसी प्रधान वस्तु है कि जिस पर सभी प्रकार की समालोचना अवलंबित है। इसी व्याख्या से आलोचक सामान्य सिद्धान्तों तक पहुंचते हैं और किसी रचना के महत्त्व का निर्णय करते हैं। व्याख्यात्मक आलोचना के सन्दर्भ में डॉ. श्यामसुन्दर दास ने लिखा है – "समालोचक किसी भी रचना का अध्ययन एक अन्वेषक के रूप में करता है न्यायाधीश के रूप में नहीं। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों तक पहुँचता है तथा इस बात का पता लगाता है कि इसका विषय क्या है। रचयिता के ढंग, दृष्टिकोण और मत से उदारतापूर्ण अपने मस्तिष्क का सामंजस्य स्थापित करके वह अपनी साहित्यिक अभिरुचि को अनुदारता से उदारता की ओर ले जाता है। तात्पर्य यह है कि वह पूर्ण व्याख्या करके उस रचना के प्रति एक सामान्य धारणा बना लेता है। परन्तु साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उसकी वह धारणा भी प्राप्त वाक्य का रूप धारण नहीं करती, वरन् उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पर्यवेक्षण के अनुसार वह भी अपने रूप में सुधार करती रहती है। अतः यह स्पष्ट है कि ऐसी आलोचना उदारतापूर्ण तथा प्रस्तुत रचना के पूर्ण पर्यवेक्षण पर अवलंबित होती है। अतः यह न्यायपूर्ण और बुद्धिसंगत होती है।"[27] व्यावहारिक आलोचना अपनी समकालीनता से प्रभावित होती है। परम्परा ओर समकालीनता के द्वन्द्व से ही व्यावहारिक आलोचना निर्मित होती है। व्यावहारिक आलोचना में कृति के समय और प्रवृत्तियों को वर्तमान सन्दर्भ में व्याख्यायित कर आलोचक व्यावहारिक आलोचना के पक्ष

को मजबूत बनाता है। आलोचक की वैयक्तिक रुचि और वर्तमान के प्रति उत्तरदायित्व बोध उसकी आलोचना दृष्टि को प्रभावित करता है। वर्तमान के प्रति यही उत्तरदायित्व ही उसे इतिहासबोध से जोड़ता है।

द्विवेदी युग में व्यावहारिक आलोचना के दो महत्त्वपूर्ण आलोचक हुए। महावीरप्रसाद द्विवेदी और मिश्रबन्धु। द्विवेदी जी की 'नैषध चरित चर्चा' (1900 ई.), 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा' (1907 ई.), कालिदास की निरंकुशता' (1920 ई.) और मिश्रबन्धुओं का 'हिन्दी नवरतन' (1910 ई.), 'विनोद'–3 भाग (1910–11) तथा पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित आलेख इनके व्यावहारिक आलोचना के प्रमुख प्रमाण है। 'विनोद' इतिहास ग्रंथ! और कविवृत संग्रह होते हुए भी कहीं–कहीं व्यावहारिक आलोचना के पुट से सन्दर्भित है। "यह ठीक है कि 'विनोद' को सही अर्थों में इतिहास नहीं कहा जा सकता, न उसे ठीक–ठीक आलोचना ग्रंथ ही कहा जा सकता है, किन्तु यह भी सही है कि पहली बार हिन्दी में बड़े पैमाने पर दोनों को समीप लाने का कार्य इसी ग्रंथ ने किया। पूर्व माध्यमिक एवं प्रौढ़ माध्यमिक कालों के कवियों पर स्वामी रामानंद के धर्म–संशोधन–आन्दोलन का प्रभाव देखना तथा उत्तरालंकृत काल के कवियों द्वारा पूर्वालंकृत काल के कवियों के अनुकरण पर की गई बहुत परिमाण में रीति ग्रंथों की रचना को विशेष लाभदायक न मानना इसी ऐतिहासिक दृष्टि के सुपरिणाम है।"[28]

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी प्रमुख व्यावहारिक आलोचनाएँ कालिदास, श्रीहर्ष, बिल्हण आदि प्राचीन कवियों पर लिखी है। इन प्राचीन कवियों पर लिखी उनकी आलोचना में नैतिकतावादी दृष्टि का इतना बोझ है कि वे कई जगहों पर इन कवियों के कविताई के साथ न्याय नहीं कर पाए हैं। इन कवियों पर लिखी आलोचनाओं का मूल्यांकन करते हुए विष्णुकान्त शास्त्री ने ठीक ही लिखा है – "सर्जनात्मक मार्मिक आलोचना के लिये यह अनिवार्य है कि आलोचक सहृदय अर्थात् आलोच्य का 'समानदृश्य' हो। सहृदयता, 'समानहृदयता' अथवा प्रशस्तहृदयता के बिना काव्य के मर्म का आस्वादन नहीं किया जा सकता। उसके बिना अच्छी आलोचना नहीं हो सकती। उक्त कवियों के प्रति आदरभाव होने के बावजूद द्विवेदी जी की नैतिकता परायण एवं उपयोगितावादी दृष्टि इनके काव्य के साथ उन्हें समरस नहीं होने देती थी। इसीलिए द्विवेदी जी की ये आलोचनाएँ दुर्बल हैं।"[29] इन दुर्बलताओं के बावजूद भी द्विवेदी जी ने जो व्यावहारिक समीक्षाएँ की हैं, वह उन जड़ रूढ़ियों पर प्रश्न खड़ा करती है, जो समाज को आगे बढ़ाने में बाधक थी। द्विवेदी जी के सामने दो चुनौतियाँ थीं। एक तो उपनिवेशवाद से मुक्ति और दूसरी धार्मिक जकड़बंदियों से मुक्ति। अंग्रेजों के द्वारा

अपनी परम्परा को श्रेष्ठ बताया जा रहा था। भारतीय समाज को असभ्य, बर्बर देखने की प्रवृत्ति को अंग्रेजों ने और व्यापक बनाया। द्विवेदी जी अपने साहित्यिक कर्म से अंग्रेजों की इस दृष्टि को चुनौती देते हैं। 'सम्पत्तिशास्त्र' में वे लिखते हैं – "इस देश में अंग्रेजों के पधारते ही – उनकी सत्ता का सूत्रपात होते ही – यहाँ की स्थिति में फेरफार शुरू हो गया। जो बातें संपत्तिशास्त्र की उत्पत्ति का कारण मानी गई हैं वे उपस्थित होने लगीं। यहाँ की संपत्ति इंग्लैण्ड गमने करने लगी। हुकूमत के बल पर इस देश के व्यापार की जड़ में कुठाराघात होने लगा।"[30] इस ग्रंथ में वे दिखाते हैं कि अंग्रेजों ने अपने शासन व्यवस्था से इस देश का कितना नुकसान किया है। वह हर व्यक्ति के लिए सम्पत्तिशास्त्र का ज्ञान आवश्यक समझते हैं। उनको यह बात पता होती है कि सम्पत्तिशास्त्र के ज्ञान के बिना अंग्रेजी शासन का वास्तविक चरित्र आम जनता के सामने नहीं आ पायेगा। यहाँ यह बात ध्यान रखना चाहिए कि द्विवेदी जी की तार्किक दृष्टि अंग्रेजी शासन व्यवस्था के खिलाफ थी। वे स्वदेश प्रेम के उन जकड़बन्दियों में नहीं फंसते हैं जो सीमित दायरे का निर्माण करती हैं। द्विवेदी जी के पास एक समुचित अन्तरराष्ट्रीय दृष्टि थी। वे इस बात को भली–भांति समझ रहे थे कि अंग्रेजों द्वारा जिस राष्ट्र की परिकल्पना का निर्माण किया जा रहा हे वह बहुत ही संकीर्ण विचार पर टिका हुआ है। उन्होंने यह स्पष्ट लिखा है – "स्वदेश–प्रेम से मनुष्य के हृदय में एक मिथ्या अहंकार का उदय होता है, उसकी बुद्धि संकुचित हो जाती है, यहाँ तक कि उसके प्रत्येक कार्य में, उसकी प्रत्येक इच्छा में एक घृणित स्वार्थ की दुर्गंध आने लगती है। यह विषाक्त स्वदेश–प्रेम योरप की उपज है और शोक तो इस बात का है कि वह अभी तक इसकी भयंकरता का यथार्थ अनुभव नहीं कर पाया है।"[31]

द्विवेदी जी संकीर्ण राष्ट्रवाद को भारत के लिए खतरा समझते थे। वे टैगोर के राष्ट्रवाद से ज्यादा सहमत थें वे जानते थे कि संकीर्ण राष्ट्रवाद भारत जैसे विविधतावादी संस्कृति के देश के लिए कभी–भी बेहतर नहीं हो सकता है। वे अंग्रेजों के राष्ट्रवाद को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं – "पाश्चात्य देशों के अधिकांश लोगों में यह भाव समाया हुआ है कि श्वेतांगों को काले रंगवालों पर राज करने का सहज और स्वाभाविक स्वत्व प्राप्त है। एशियाईयों और अफ़रीका–वासियों पर इनके द्वारा कैसे भयंकर अत्याचार होते रहे, किन्तु योरप अमेरिका में किसी के कान पर जूँ नहीं रेंगती। बात यह कि जिस प्रकार गिद्ध का बाज़ पर और बाज का जुर्रे पर तथा जुर्रे का कौए पर टूट पड़ना सहज और स्वाभाविक है, उसी प्रकार श्वेतांग लोगों ने एशियाईयों और अफरीकावासियों का स्वेच्छानुसार उपभोग करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मान लिया है। यही सारी लड़ाई और बुराई का जड़ है।"[32] द्विवेदी

जी पाश्चात्य देशों के वैज्ञानिक प्रगति को स्वीकार भी करते हैं, लेकिन उसके संकीर्ण राष्ट्रवाद की आलोचना करते हुए। उन्होंने लिखा है – "इसमें संदेह नहीं कि योरप ने जिस वैज्ञानिक सभ्यता का निर्माण किया है वह सर्वथा चमत्कारिक है, उससे मनुष्य–जीवन में बहुत–सी सुविधाएँ हो गई हैं। किन्तु जहाँ एक ओर हम विज्ञान के चमत्कार पर मुग्ध हैं, वहाँ दूसरी ओर उसके रौद्र रूप भी हमारा हृदय भीतर–भीतर काँपता रहता है।"[33] इस द्वन्द्व को समझते हुए द्विवेदी जी अपनी दृष्टि का विस्तार करते हैं। द्विवेदी जी के पास विश्वबोध था। वे भारत समेत विश्व को उच्चतर स्तर पर रूपान्तरित करना चाहते थे। यानी मानव–मूल्यों की सर्वाधिक, सर्वस्तरीय नियंत्रणशील स्थापना चाहते थे। मानवीय मूल्यों द्वारा संसारगति का नियंत्रण उनके आलोचनात्मक कर्म की विशेषता भी है और विशिष्टता भी। चेतना के स्तर का प्रश्न उनके लिए नैतिक, बौद्धिक और भावनात्मक स्थितियों के 'एकीकृत' का प्रश्न है। मनुष्यता के विकास का प्रश्न है। समाज के पिछड़ेपन में, अलग–अलग धाराओं के संकुचित भावभूमि से ऊपर उठकर विश्वबोध से जुड़ने का प्रश्न है। इसीलिए वे लिखते हैं – "संसार की वर्तमान विकट समस्या को हल करने के लिए हमें राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धाओं और वैमनस्यों से हाथ खींच लेने पड़ेंगे। राष्ट्र के परे भी कोई वस्तु है। राष्ट्रों का अस्तित्व उसी वस्तु के लिए है। और वह है मानव–जातीयता। संसार के पुनर्निर्माण की नवीन समस्याओं पर हमें आदर्श अंतर्राष्ट्रीयवाद की दृष्टि से ही विचार करना होगा। राष्ट्रों को अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से अपने पथ पर अग्रसर होना होगा तभी हम सार्वजनिक भातृभाव स्थापित कर सकेंगे और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श कार्य में परिणत हो सकेगा। संसार के उद्धार का एकमात्र यही साधन है।"[34]

महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले ऐसे आलोचक हैं, जो हिन्दी के व्यावहारिक आलोचना को विश्व सन्दर्भों से जोड़कर साहित्य को 'ज्ञान राशि का संचित कोश' बनाते हैं। वे विश्व के साहित्य और विचारों पर बात करते हुए अपने प्राचीन साहित्य का भी मूल्यांकन करते हैं। जहाँ–जहाँ उन्हें साहित्य और शास्त्र में रूढ़ियां दिखाई पड़ती हैं वे उसका तार्किक ढंग से विरोध करते हैं। 'वेद' की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है – "यहाँ पर कोई कह सकता है कि वैदिक ऋषि मंत्रद्रष्टा थे। उन्होंने योगबल से प्रत्यादेश की तरह वैदिक मंत्र प्राप्त किये हैं। यदि यह बात है तो इन सूक्तों में इन ऋषियों की निज दशा का वर्णन कैसे आया? ये मंत्र इनकी अवस्था के ज्ञापक कैसे हुए? ऋग्वेद का कोई ऋषि कुएँ में गिर जाने पर उसी के भीतर पड़े–पड़े स्वर्ग और पृथ्वी की स्तुति कर रहा है। कोई इन्द्र से कह रहा है, आप हमारे शत्रुओं का संहार कीजिए। कोई सविता से प्रार्थना कर रहा है कि हमारी बुद्धि

को बढ़ाइए। कोई बहुत–सी गाएँ मांग रहा है, कोई बहुत–से पुत्र। कोई पेड़, सर्प, अरण्यानी, हल और दुन्दुभी पर मंत्र रचना कर रहा है। कोई नदियों को बुरा–भला कह रहा है कि ये हमें आगे बढ़ने में बाधा डालती हैं। कहीं मांस का उल्लेख है, कहीं सुरा का, कहीं द्यूत का। ... ईश्वर के लिए गाय, भैंस, पुत्र, कलत्र, दूध, दही मांगने की कोई जरूरत नहीं।"[35] इस प्रकार वे वेद को ईश्वर लिखित न मानकर मनुष्य रचित बताते हैं। वे स्पष्ट मानते हैं कि वेद मारण, मोहन, उच्चारण और वशीकरण आदि मंत्रों से परिपूर्ण है। ये सब लिखना और कहना किसी ईश्वर का काम नहीं है। आज भी अंधविश्वासों के कारण संसार में न जाने कितने मनुष्य मर रहे हैं। कितने पागल हो गए हैं। कितनों की हत्या कर दी जा रही है। कई ऐसे अंधविश्वास है जिन पर प्रश्न खड़ा करने पर पंडितों और मौलवियों द्वारा फतवा जारी कर दिया जाता है। आप सोचें उस समय में जब जकड़बंदियां ज्यादा मजबूत थी महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे साहित्यकार उन जकड़बन्दियों पर प्रश्न उठा रहे थे। उनसे लड़ रहे थे। समाज में प्रगतिशील विवेक का निर्माण कर रहे थे और ये सब उनके व्यावहारिक आलोचना के द्वारा ही हो रहा था।

महावीरप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि वैश्विक और विवेक सम्मत होते हुए भी नैतिकतावादी और उपयोगितावादी थी। इस कारण उनके आलोचनाकर्म में कई अन्तर्विरोध भी दिखते हैं। कालिदास के काव्य में लोकशिक्षा और धर्म तथा नीति के महत्त्व का प्रतिपादन ही देखना, उसे एकपक्षीय, पार्श्व दृष्टि से देखना इसका प्रमाण है। द्विवेदी जी कालिदास की कविता को अपनी बनाई मर्यादा के अनुरूप ही उसका चित्र अंकित करते हैं। इसी कारण कालिदास की जिस रचना में उन्हें इस मर्यादा का उल्लंघन दिखा है, उन्होंने उसे सम्मान नहीं दिया है। उन्होंने घोषित किया कि उत्तान श्रृंगार वर्णन के कारण कुमारसंभव 'सदोष' तथा मालविकाग्निमित्र 'अश्रेष्ठ' नाटक है। वर्ण्य विषय की सजीवता, मनोविकार चित्रण, प्रकृति वर्णन, छन्द के चुनाव आदि के लिए उन्होंने मेघदूत की प्रशंसा की है, लेकिन वास्तविक संतोष उन्हें यह देखकर हुआ है कि – "मेघदूत के यक्ष का प्रेम पत्नी संबंधी है। वह ऊँचे दरजे का है। वह निःस्वार्थ है – निर्दोष है।"[36] इतना पर भी द्विवेदी जी संतोष नहीं करते हैं। वे मेघदूत पर अपना निर्णय देते हुए लिखते हैं – "मेघदूत में भी कोई ऐसा आदर्श चरित नहीं जिससे कोई लोकहितकर या समाजहितकर शिक्षा मिल सके।"[37] दरअसल द्विवेदी जी तर्कपूर्ण विवेक रखते हुए भी नैतिकतावादी मर्यादा से निकल नहीं पाए हैं। उनकी नैतिकतावादी नजरिया क्या है? इसे मैं पिछले अध्याय के 'महावीरप्रसाद द्विवेदी' वाले उप–अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं। अतः यहाँ वही बात लिखना केवल दुहराव भर होगा। उन्होंने कालिदास की जिन तीन मर्यादा विरोधी

उच्छृंखलताओं पर क्षोभ प्रकट किया है, वे निम्न हैं :

(1) शिव पार्वती को 'जगतः पितरौ' कहकर उनका विलासवर्णन करना।

(2) जयंत द्वारा भगवती सीता के स्तनों को चोच से विदीर्ण कर श्रीराम को नखक्षत करने की शिक्षा देना।

(3) विवाह के बाद तीन दिन, तीन रात ब्रह्मचर्य काल के भीतर ही अज द्वारा विरोधी राजाओं को पराजित करके प्रिय द्वारा आस्वादित अधरोष्ठ पर रखकर शंख बजाना।'[38]

मर्यादावादी नजरिये से साहित्य को देखने के कारण द्विवेदी जी कालिदास की कविताई के साथ न्याय नहीं कर पाए हैं। कालिदास की वैवाहिक कविता, कालिदास की कविता में चित्र बनाने योग्य स्थल और कालिदास की दिखाई हुई प्राचीन भारत की एक झलक की चर्चा उन्हें ज्यादा रुचिकर प्रतित हुई है। द्विवेदी जी की दृष्टि मर्यादावादी होते हुए भी रूढ़िवादी नहीं थी। समाज के अंधविश्वासों पर जहाँ–जहाँ उन्हें मौका मिला है, उसका जमकर वो विरोध करते हैं। 'नैषध–चरित–चर्चा' में उन्होंने श्रीहर्ष का कलियुग वाले अध्याय में लिखा है – "फूल को यदि तोड़ना ही है तो तोड़कर अपने सिर पर रक्खो – अपने ही ऊपर चढ़ाओ। पत्थरों पर क्यों उन्हें चढ़ाते–फिरते हो? वाह री तुम्हारी मूर्ति–पूजा। ... अरे मूर्खों, वेदो में और अधिक क्या रक्खा हुआ है? फिर उनपर इतनी श्रद्धा क्यों? ... तुम लोग तो पशुओं से भी गये – बीते जान पड़ते हो; क्योंकि ब्रह्मा आदि देवताओं और व्यास आदि द्विजों के बनाए ग्रन्थों पर तुम आँख मूंदकर विश्वास करते हो। उन्होंने लिख दिया है – 'गो प्रणमेत्' अर्थात् गाय को नमस्कार करना चाहिए। बस, तुम लगे पशुओं के सामने हाथ जोड़ने। अरे क्या तुम गाय, भैंस से भी तुच्छ हो जो किसी के कहने मात्र से अनेकों नमस्कार करने दौड़ते हो? ... क्यों तुम व्यर्थ दान देते फिरते हो? दान देने से लक्ष्मी प्रसन्न नहीं होती। बलि ने सर्वस्व दान देकर क्या पाया? केवल बंधन! क्या तुम भी यही चाहते हो।"[39] नैषध चरित के अपेक्षाकृत भावप्रवण एवं सरल प्रसंगों की ही प्रशंसा द्विवेदी जी ने की है। जैसे – नल द्वारा पकड़े जाने पर हंस का विलाप, हंस–दमयंती सम्वाद, नल–दमयंती वार्तालाप इत्यादि। 'विक्रमांक देव चरित' का महत्त्व द्विवेदी जी के लिए काव्य के रूप में था ही नहीं। डॉ. बूलर के अनुरूप उन्हें भी लगता था कि 'प्राचीन' इतिहास के रूप में 'विक्रमांकदेवचरित' दोषों के रहते भी बहुत ही उपयोगी है।"[40] साहित्यिक रूप से ज्यादा यह ग्रन्थ द्विवेदी जी को इतिहासमय होने के कारण पसंद था। विल्हण के लिए जो प्रसंग काव्यगत रमणीयता की

वृद्धि करने वाले थे। द्विवेदी जी के लिए वह 'अप्रासंगिक' थे। इसी कारण इस पुस्तक की समीक्षा करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है – "इस काव्य में 18 सर्ग है, उनमें से यदि कवि अप्रासंगिक बातों का वर्णन न करता तो केवल आठ, नौ सर्ग में पुस्तक समाप्त हो गई होती।"[41] इस प्रकार द्विवेदी जी ने संस्कृत ग्रंथों की व्यावहारिक समीक्षा की है। यह समीक्षा उनके अन्तर्विरोधों को दर्शाती है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी आलोचना या साहित्यकर्म के क्षेत्र में आलोचक के रूप में कम और एक साहित्यिक नेता के रूप में अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। नए विचारों के देशी, विदेशी विद्वानों के मतों का अध्ययन कर उन्होंने अपनी एक दृष्टि तैयार कर ली थी कि – 'बुद्धिमान लोग उसी कविता की कदर करते हैं जो उच्च विचारों को प्रकट करती हो, हृदय और बुद्धि के ऊपर अच्छा प्रभाव डालती हो और समयोपयोगी आवश्यक अपदेशों को ऐसे ढंग से देती हो जिससे मनुष्य बहुत जल्द उन्हें ग्रहण कर सके।"[42] इसी कारण उनकी मान्यता थी कि आधुनिक हिन्दी कविता खड़ी बोली में होनी चाहिए। जिन कवियों ने इन प्रतिमानों के अनुकूल कविताएँ लिखी उनकी सराहना की तथा जिसने भी इसका विरोध किया (चाहे वह ब्रजभाषा के समर्थक हों या फिर छायावाद के) उनके ऊपर अपनी आलोचना से व्यंग्य बाण भी चलाए। द्विवेदी जी की व्यावहारिक आलोचना साहित्य के सम्वेदनात्मक भावभूमि को मुक्कमल ढंग से नहीं उभार पाई है। उनकी आलोचना दृष्टि में सर्जनात्मक आलोचना की भावभूमि, वह उर्वरता प्रदान नहीं करती है जो साहित्यिक आलोचना के लिए अपेक्षित है।

इस युग (द्विवेदी युग) के दूसरे बड़े आलोचक मिश्र बन्धु थे। मिश्रबन्धुओं के प्रसिद्धि का आधार, उनके द्वारा लिखित आलोचना की प्रमुख किताब 'हिन्दी नवरत्न' है। हिन्दी आलोचना के अधिकांश इतिहास ग्रंथों में 'हिन्दी नवरत्न' का उल्लेख बहुत ही चलताऊ ढंग से किया जाता है। इसके लेखक मिश्र बन्धुओं का वर्णन इतना स्याह रंग में किया जाता है, मानो हिन्दी आलोचना में इनका नाम बस दर्ज करना ही आलोचना की सार्थकता हो। अधिकांश आलोचक जब हिन्दी आलोचना की सीधी विकास यात्रा पर बात करते हैं तो वह भारतेन्दु से शुरू होकर महावीरप्रसाद द्विवेदी से होते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर ही ठहरते हैं। मिश्र बन्धुओं का जिक्र होता भी है तो 'विनोद' के कारण। आलोचक यह कहकर छुट्टी पा लेते हैं कि यह बड़ा भारी कवि वृत संग्रह था। उनका कहने का तात्पर्य यह होता है कि इसमें कवि कीर्तन भर है। जहाँ तक सवाल मिश्र बन्धुओं की आलोचना दृष्टि का है, बस यह समझ लिया जाता है कि वे पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन की तरह रीतिवादी आलोचक थे और देव बड़े की बिहारी – इसी पर झगड़ते रहते थे। इससे कुछ हटकर अलग

कहने की कोशिश करते हुए कुछ आलोचकों ने इनके बारे में कहा भी है तो वह बहुत तर्कपूर्ण नहीं लगता है। डॉ. नंदकिशोर 'नवल' ने कुछ मार्क्सवादी सी लगने वाली शैली में दो धाराओं का संघर्ष बताते हुए लिखा है – "इनमें से एक धारा वह थी जिसका प्रतिनिधित्व द्विवेदी जी कर रहे थे और दूसरी धारा वह थी जिसके प्रतिनिधि मिश्रबन्धु, शर्मा जी और दीन जी जैसे आलोचक थे।"[43] अब यहाँ ठहर कर यह विचार कर लेना आवश्यक है कि यह दो धाराएँ कौन सी थी। उनके नजर में द्विवेदी जी 'उदयमान भारतीय मध्यवर्ग के आलोचक थे' तो वहीं दूसरी धारा के आलोचक 'वस्तुतः मध्ययुगीन सामंती व्यवस्था और संस्कृति के पक्षधर थे।' नंदकिशोर नवल जी यह स्पष्ट नहीं कर पाए हैं कि जो उदयमान भारतीय मध्यवर्ग था, उसमें ही सामंती व्यवस्था के प्रति कितना मोह था। दरअसल तत्कालीन युग के नवजागरण में पुनरुत्थान के तत्त्व इस प्रकार मिले हुए थे कि उस युग के प्रायः अधिकांश लेखकों में और बाद के भी लेखकों में यह अंतर्विरोध स्पष्ट रूप में दिखता है। अगर इन बातों को दरकिनार भी कर दें तो नवल जी यह भी स्पष्ट नहीं कर पाते हैं कि यह दूसरी धारा काल के किस गाल में समा गई? आगे चलकर यह संघर्ष किन रूपों में चलता रहा? किसी भी आलोचक/लेखक के मूल्यांकन के लिए उस युग की सीमाओं का ध्यान रखना चाहिए। उनका मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए यह देखा जाना चाहिए कि उनके लेखन में क्या अन्तर्द्वन्द्व है। वे उन्हीं सीमाओं के भीतर किन प्रतिकामी प्रवृत्तियों का निषेध और पोषण किया है। वे आगामी विकास में किस परम्परा से जुड़ रहा है।

जैसे हर आलोचक में कुछ–न–कुछ अन्तर्विरोध होता है वैसे मिश्रबन्धुओं में भी अन्तर्विरोध था। इस अन्तर्विरोध के तरफ संकेत करते हुए विष्णुकान्त शास्त्री ने लिखा है – "यही अन्तर्विरोध था मिश्रबन्धुओं में कि वे लोग एक तरफ तो पुराने रीतिशास्त्र को सिद्धान्ततः स्वीकारने की बात कहते थे, दूसरी तरफ व्यवहारतः उसकी बहुत सी मान्यताओं को अस्वीकार कर कई नए मूल्यों का प्रयोग भी अपनी आलोचना में करते थे।"[44] यह अन्तर्विरोध केवल मिश्रबन्धुओं के साथ ही न था। अगर आप ध्यान से देखें तो अक्सर ऐसा होता है कि आलोचक साहित्य के विश्लेषण के लिए जो सैद्धान्तिक ढाँचा तैयार करता है वह व्यावहारिक आलोचना में उतरते ही चरमराकर टूटने लगता है। बात जब संधिकाल के आलोचकों पर हो तो अक्सर ऐसा होता है। ऐसे में किसी भी मूल्यांकनकर्त्ता का दायित्व है कि वह सैद्धान्तिक ढ़ांचे से अलग व्यवहारिक स्तर पर जिन विकासमान प्रवृत्तियों का पोषण किया गया है, उसे अपने मूल्यांकन से उजागर करे न कि किसी खास धारणा की लीक पीटता रहे। मिश्रबन्धुओं की आलोचना में प्राचीनता और नवीनता का जो द्वन्द्व है उसमें नवीनता की प्रवृत्तियां ही

ज्यादा मुखर हैं। उनकी दृष्टि के पुरातनपंथ के बारे में लीक पीटने से ज्यादा तर्कसम्मत है उनकी आलोचना दृष्टि के अन्तर्विरोध और उसमें निहित विकासमान प्रवृत्तियों के बारे में विचार करने की।

भारतेन्दु युग की आलोचना में बालकृष्ण भट्ट जहाँ साहित्य के सौन्दर्य संबंधी कुछ स्वतंत्र प्रतिमानों को विकसित करने की चेष्टा करते हैं वहीं भारतेन्दु और प्रेमघन साहित्य के सामाजिक उपयोग पर बल देते हैं। साहित्य के सामाजिक उपयोग की इसी परम्परा को महावीरप्रसाद द्विवेदी आगे बढ़ाते हैं। इन लोगों के मुकाबले मिश्रबन्धु निश्चित रूप से सामाजिक उपयोग से हटकर काव्यात्मक सौन्दर्य के स्वतंत्र प्रतिमानों के पक्षपाती हैं। मिश्रबन्धु यह बात भली–भाँति जानते थे कि सिर्फ सामाजिक उपयोग के प्रतिमानों से साहित्य का समग्र मूल्यांकन सम्भव नहीं है। मिश्रबन्धु अपनी आलोचना दृष्टि में स्पष्ट रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे कि कवि ने 'क्या कहा है और कैसे कहा है? के आधार पर विवेचन करके ही किसी कवि की उत्कृष्टता का निर्धारण किया जा सकता है। उन्होंने 'हिन्दी नवरत्न' की भूमिका में लिखा है – "अंग्रेजी या वर्तमान विचारों से कवियों की जाँच में दो मुख्य पद उठते हैं – कवि को कुछ कहना था या नहीं, और उसने उसे कैसा कहा है? संक्षिप्त रीति से कहने में पहला प्रश्न यों भी कहा जा सकता है कि उसका क्या सन्देश है?"[45] इस 'संदेश' के ही प्रश्न पर एक बात और महत्त्वपूर्ण है जिस पर ध्यान देना चाहिए। भूषण और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सन्दर्भ में मिश्रबन्धुओं ने कहा है कि इन्होंने 'जातीयता' का सन्देश दिया है। यह सही है कि मिश्रबन्धुओं की 'जातीयता' हिन्दू जाति के अर्थ में प्रयुक्त है, लेकिन इस नए गुण का उद्‌घाटन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस 'जातीयता' के उद्‌घाटन में उनकी दृष्टि काव्यात्मक प्रतिमानों से स्खलित नहीं हुई है, इसका ध्यान जरूर रखना चाहिए। उन्होंने लिखा है – "भूषण ने जातीयता का सन्देश दिया है, और उसे कहा भी अच्छा है। आपकी जातीयता में भारतीयता का भाव कम आता है, हिन्दूपन का विशेष। फिर भी यह कहना पड़ता है कि इस समय हिन्दूपन का सन्देश एक प्रकार से भारतीयता का सन्देश था; क्योंकि मुसलमान बहुत करके विदेशी थे।"[46] सन्देश और कथन आस्था का यह पूरा प्रसंग इतना मजेदार है कि प्रायः हर कवि के संबंध में उन्होंने अपना विचार प्रकट किया है। कुछ उद्धरण देखिए –

"'गोस्वामी तुलसीदास का संदेश शुद्ध भक्ति का है और उन्होंने उसे बहुत ही अच्छा कहा है। ... तुलसी ने दास भाव से कथा को मिलाकर संदेश और साहित्य दोनों को बहुत दृढ़ रखा है।'

'महाकवि सूर का भी वही संदेश है और उन्होंने उसे अच्छा कहा है, किन्तु भक्ति को श्रृंगार से अधिक मिलाने के कारण आपका सन्देश हर जगह साधारण पाठक को याद नहीं रहता है। सूरदास ने जीवात्मा–परमात्मा के भार को गौण रखा है और श्रृंगार को प्रधान। इससे उनकी रचना में साहित्यानंद तो अच्छा है, किन्तु उनका संदेश गौण पड़ गया है।

'महात्मा कबीरदास ने सखी भाव की भक्ति की है किन्तु उन्होंने हर जगह जीवात्मा परमात्मा का संबंध बहुत दृढ़ रखा और श्रृंगार का वर्णन कम किया है। इसी से उनकी सखी सम्प्रदाय वाले वर्णनों में साहित्यानंद अपर्याप्त है।

'देव और बिहारी श्रृंगारिक कवि थे। इनका कोई मुख्य संदेश नहीं है किन्तु इन्होंने कथन बड़े ही अनमोल किए हैं, कहा बहुत ही अच्छा, किन्तु संदेश बिल्कुल गौण है।'

'केशवदास के कथन अच्छे हैं और उनकी रचना में भक्ति का सन्देश माना गया है, किन्तु हमारी समझ में वह पुष्ट नहीं होता। ... कुल मिलाकर केशवदास का आचार्यता एवं साहित्योन्नति का संदेश कहा जा सकता है, इतर कोई नहीं।'

'मतिराम का संदेश साहित्योन्नति है और उसकी भाषा बहुत रूलित है।'

'चंदबरदाई ने कथा अच्छी कही है और उसके वर्णन भी ठीक हैं।'

'भारतेन्दु का संदेश जातीयता है और वह सफलतापूर्वक व्यक्त हुआ है।'"[47]

इस पूरे प्रसंग से कुछ बातें निकलकर सामने आती हैं। वे भक्त कवियों में 'भक्ति के लिए भाव में भी तत्सम्बन्धी विचारों का आना लक्षित करते हैं। तुलसीदास को वे इसलिए सर्वश्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि तुलसीदास के यहाँ संदेश और साहित्य दोनों उत्कृष्ट हैं। रीतिकालीन कवियों में 'साहित्योन्नति' का संदेश प्रतिष्ठित करते हुए कोताही से काम लिया। केशव के सन्दर्भ में मिश्रबन्धुओं की आलोचना को जो लोग एकपक्षीय मानते हैं उन्हें मिश्रबन्धुओं का यह कथन भी देखना चाहिए – "केशवदास किसी विषय में तल्लीन होकर आत्मविस्मरण नहीं कर सकते थे, अतः उनकी कविता कहीं ऐसी नहीं हुई, जिससे जान पड़े कि मानों कवि तन्मय होकर कह रहा है। यह महाशय बड़े पंडित और बुद्धिमान थे, परन्तु स्वभाव से कवि न थे।"[48] इसे आप शुक्ल जी के केशवदास को 'कवि हृदय' न मिलने वाली बात से मिलाकर देख सकते हैं।

मिश्रबन्धुओं का मूल्यांकन करते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वे व्यवस्थित आलोचक नहीं थे, लेकिन उनकी आलोचना में छोटे–छोटे प्रसंगों में कुछ बड़ी बातें

मिल जाती हैं। उदाहरण रूप में आप सौन्दर्य वर्णन की रीतिवादी पद्धति और तुलसीदास के सौन्दर्य वर्णन का भेद देखें –

"संस्कृत के कवि यदि भुजा का कथन करेंगे तो वे उसकी लम्बाई का, बजुल्ले का, कलाई के गठन का और अंगूठियों का वर्णन करके उसे छोड़ देंगे, किन्तु यदि गोसाई जी भुजा का कथन करेंगे, तो शायद इन बातों का वर्णन न हो, परंतु बाहुमूल से लगाकर अंगुलियों के नखों तक का, बिना उपमा रूपक आदि के सीधा–साधा रूप, एक–एक रोम पर्यंत दिखा देंगे। संस्कृत के कवि मुख्य कथा को छोड़कर रूपकों, उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं आदि पर विशेष ध्यान देंगे, सूर्योदय, समुद्र, गंगा की तरंगों आदि पर अधिक रुझान रखेंगे, नायकों के काव्य संबंधी चुटीले भाव सुझाने वाले छोटे–छोटे कर्मों तथा भावों को कहकर उनके सहारे काव्य की छटा दिखावेंगे और सूक्ष्म रीति पर कथा का भी सूत्र लिए रहेंगे। इधर गोस्वामी जी इन बातों पर विशेष ध्यान न देंगे, किन्तु मुख्य कथा को, सांगोपांग, बड़े विस्तार से कहेंगे। यदि नैषध को पढ़िए तो कहीं–कहीं यह भूल जाता है कि हम कोई कथा पढ़ रहे हैं। जान पड़ता है, यह कोरा काव्य है, परन्तु तुलसीदास की कृति में यह कहीं नहीं भूलता कि हम कथा पढ़ रहे हैं।"[49] संस्कृत के कवियों से उनका आशय किस प्रकार के कवियों से है यह उन्होंने स्पष्ट कर दिया है। इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्य के स्वाभाविक वर्णन, कथा के स्वाभाविक प्रवाह के प्रति मिश्रबन्धुओं की पक्षधरता स्पष्ट थी।

मिश्रबन्धुओं के सामने एक बड़ा सवाल उठा भाषा और भाव संबंधी। यानी भाषा महत्त्वपूर्ण है या भाव? इस प्रश्न पर भी उनकी दृष्टि स्पष्ट थी। उन्होंने लिखा है – "कुछ लोगों का विचार है देव की भाषा श्रेष्ठ है, किन्तु भाव सबलता उनकी रचना का मुख्यांग नहीं है। हमारा कथन इस कथन से बिलकुल प्रतिकूल है। जो लोग इनकी रचना में शब्दाडम्बर मात्र देखते हैं, वे हमारी समझ से भारी भूल करते हैं। इनकी भाषा अद्वितीय अवश्य है, किन्तु साहित्य गौरव की तुलना में हम भाषा का पद ऊँचा नहीं समझते।"[50] यह बात उन्होंने देव के संबंध में लिखी है। अगर आप देव संबंधी आवरण इस कथन पर से हटा दीजिए तो उनकी भाषा संबंधी मान्यता स्पष्ट हो जाती है। इसके बाद भी अगर किसी को भ्रम बना रहे तो उसे मिश्रबन्धुओं का यह कथन भी देखना चाहिए – "प्रत्येक मनुष्य का काव्य उत्कृष्ट तभी होता है, जब वह सच्चा हो। सच्ची कविता तभी बनती है, जब कवि जो उस पर बीते, अथवा जो उमंगे उसके चित्त में उठें, या जो भाव उसके चित्त में भरे हों उन्हीं का वर्णन करे। यदि कोई लंपट मनुष्य वैराग्य का कथन करने बैठेगा तो वह सिवा चोरी के और क्या करेगा? उसके चित्त में वैराग्य का अभाव है। उसके चित्त–सागर को वैराग्य की तरंगों ने कभी चंचल नहीं

किया। ... ऐसी दशा में उसकी कविता में सिवा नकल के कोई असली भाव न आवेगा। ऐसे ही काव्य को निर्जीव कहना पड़ता है।"[51] कुछ लोग यह मान सकते हैं कि इस कथन पर बालकृष्ण भट्ट के 'सच्ची कविता' निबंध का प्रभाव है और यह कथन अतिसरलीकरण है। बावजूद इसके मिश्रबन्धुओं की पक्षधरता स्पष्ट है। उनकी पक्षधरता इससे भी प्रमाणित होती है कि रीतिवादी मानदण्डों के भीतर वे 'स्वभावोक्ति' पसंद करते थे। शाखा – चंक्रमण के मुकाबले भाव की स्वाभाविक प्रवाह उन्हें ज्यादा आकर्षित करती थी। वे प्रसाद और माधुर्य को कविता का आदर्श गुण मानते थे।

मिश्रबन्धुओं की व्यावहारिक आलोचना भी 'नैतिकतावादी' धारणा से नहीं निकल पाई थी, पर उनमें समयानुकूल नवीनता भी थी। काव्य के सौन्दर्य पक्ष और स्वाभाविक वर्णन उनकी आलोचना दृष्टि की विशेषता है। मिश्रबन्धुओं ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में कवि की जीवनी और काव्य परिस्थितियों के सामाजिक तत्त्व का प्रारम्भिक ही सही, नया और उपयोगी व्यवहार किया है। अपने युग विशेष और कवियों की कलात्मक विशेषताओं को पहचानते हुए उन्होंने हिन्दी की व्यावहारिक आलोचना को समृद्ध किया। हिन्दी आलोचना में साहित्यिक काव्य विवेक को विकसित किया। व्यावहारिक आलोचना के इसी धरातल पर द्विवेदी युग की सबसे प्रमुख आलोचनात्मक शैली का विकास हुआ जो तुलनात्मक आलोचना के नाम से जानी जाती है।

4.3 तुलनात्मक आलोचना

द्विवेदी युगीन तुलनात्मक आलोचना पर बात करने से पहले यह जरूरी है कि तुलनात्मक साहित्य क्या है? और इसकी जरूरत क्यों है? इस बात पर विचार कर लिया जाए। 'तुलनात्मक साहित्य' इस पद का आरम्भ सबसे पहले फ्रांस में 1816 में प्रकाशित संग्रह 'Course de literature compare' में किया गया। जर्मनी में तुलनात्मक साहित्य का प्रयोग 1854 में मिलता है। वैसे 1848 ई. में पहली बार तुलनात्मक साहित्य की अवधारणा मैथ्यू आर्नल्ड ने सामने रखी। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलनात्मक साहित्य की अवधारणा उन्नीसवीं शताब्दी में सामने आई। मैथ्यू आर्नल्ड ने सन् 1848 में अपने एक पत्र में सबसे पहले 'कम्पैरेटिव लिट्रेचर' पद का प्रयोग किया था।[52] प्रारम्भ में ही इसके शाब्दिक अर्थ को लेकर विवाद रहा क्योंकि साहित्य यदि लेखक का सृजनशील कलात्मक अभिव्यक्ति है तो वह किसी तरह भी तुलनात्मक नहीं हो सकता है। साहित्य की सभी कृति अपने आप में पूर्ण होती है और साहित्य सृष्टि में कहीं दूसरे साहित्य के साथ तुलना की जरूरत लाया जा सकता है। वस्तुतः रेनेवेलेक ने इस प्रश्न को उठाकर 'ऐतिहासिक अर्थ विज्ञान' की सहायता से इसका उत्तर देने का प्रयत्न किया है। रेनेवेलेक का मानना है – "तुलनात्मक साहित्य की मनोवैज्ञानिक और सामाजिक प्रेरणा में एक विरोधाभास है जिसे पिछले पचास सालों में व्यवहार में लाया गया है। तुलनात्मक साहित्य का उदय उन्नीसवीं सदी के पाण्डित्य के संकुचित राष्ट्रवाद के प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। यह फ्रांस, जर्मनी आदि के अनेक इतिहासकारों के अलगाववाद के प्रति विद्रोह था। इसे प्रायः उन लोगों ने पोषित किया जो राष्ट्रों के चौराहों पर खड़े थे या कम–से–कम एक देश की सीमा पर थे।"[53] रेनेवेलेक के इस मत से यह स्पष्ट होता है कि 'तुलनात्मक साहित्य' संकुचित राष्ट्रवाद के प्रतिक्रिया में आता है। यह ऐतिहासिक रूप से ठीक नहीं मालूम पड़ता है। जिस समय यूरोप में तुलनात्मक साहित्य प्रारम्भ हुआ था, उसी समय सम्पूर्ण यूरोप में राष्ट्रवाद का बोलबाला था। राजनीतिक रूप से इस राष्ट्रवाद ने सभी यूरोपीय देशों को एक दूसरे के खिलाफ युद्ध में डाल दिया था। उन्नीसवीं सदी में फ्रांस, इंग्लैण्ड, पुर्तगाल, स्पेन आदि राष्ट्र एक दूसरे के खिलाफ दुनिया भर में लड़ रहे थे। अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए किए जाने वाले युद्ध के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव की यह भावना कैसे फैली और क्यों? इस पर विचार करना चाहिए।

जिन लोगों का यह मानना है कि तुलनात्मक साहित्य की उत्पत्ति राष्ट्रीय साहित्य के विरुद्ध हुई, उन्हें थोड़ा ठहर कर सोचने की जरूरत है। 'राष्ट्रीय' शब्द पक्षधरता का समर्थक

है जबकि तुलनात्मक में राष्ट्रीय सीमाओं से अतिक्रमण भाव अन्तर्निहित है और उसमें राष्ट्रों के बीच एकता और सद्भाव को विकसित करने की अन्तर्निहित आकांक्षा शामिल है। जिस समय यूरोप की राजनीति में युद्ध और हिंसा का बोलबाला था, अपने–अपने राष्ट्र की श्रेष्ठता और भिन्नता का लोग दावा कर रहे थे, उसी समय यह भी प्रस्तावित किया गया कि तथाकथित शुभ देश के किसी महान लेखक ने हमारे सर्वश्रेष्ठ लेखक को प्रभावित किया है। इस कार्य के लिए तुलनात्मक साहित्य के लेखकों ने प्राचीन साहित्य को अपने अध्ययन का विषय बनाया। यह तब हुआ जब यूरोप की राजनैतिक सीमा निश्चित नहीं हो पाई थी। लोक आसानी से एक–दूसरे राष्ट्र की सीमाओं में आ जा सकते थे। या यों कहें कि जब राष्ट्र निर्मित हो रहे थे। आगे चलकर विवाद भी हुआ और यह तर्क दिया जाने लगा कि तुलनात्मक साहित्य में दो राष्ट्रों के साहित्य की तुलना होती है। अतः तुलनात्मक साहित्य में आधुनिक साहित्य का अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि आधुनिक काल में राष्ट्र निर्मित हुए हैं। जब तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन और विकसित हुआ तो उपनिवेशों के साहित्य से भी यूरोपीय साहित्य की तुलना करने का प्रश्न उठा। ऐसे में यूरोपीय चिंतकों में राष्ट्रवाद की भावना ने फिर अपना रूप दिखाया। उनका जोर इस बात पर था कि तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन सिर्फ समान स्तर के साहित्य में ही हो। उपनिवेशों के साहित्य से यूरोपीय साहित्य की तुलना नहीं हो सकती है। उनकी कुछ मान्यताएँ थी जिसके मूल में यह तर्क विकसित था कि यूरोपीय साहित्य श्रेष्ठ है, जबकि एशिया और अफ्रीका के लोग आदिम और बर्बर हैं, इसलिए उनका साहित्य और वे लोग श्रेष्ठ नहीं हैं। इसके साथ ही तुलनात्मक साहित्य ने एक और तर्क विकसित किया कि तुलनात्मक अध्ययन 'पाठ' का हो सकता है। यानी लिखित साहित्य का, और इसका कारण बताते हुए कहा गया कि – मौखिक साहित्य से लिखित पाठ श्रेष्ठ होता है। हकीकत यह है कि एशिया और अफ्रीका में साहित्य का अधिकांश हिस्सा मौखिक था। इनके इस तर्क से वह गिनती से बाहर हो गया। इसलिए होमर, ग्रीक साहित्य, शेक्सपीयर के नाटक, स्पेंसर तथा मिल्टन की कविताएँ महत्त्वपूर्ण हैं, क्योकि यह पाठ है।

साम्राज्यवाद के आगमन के साथ एशिया और अफ्रीका में यूरोपीय साहित्य भी आया। यह साहित्य भले ही सांस्कृतिक रूप में साम्राज्यवाद के तर्कों के साथ आया, भले ही यह घोषित करके आया कि यूरोपीय संस्कृति और साहित्य श्रेष्ठ है, लेकिन उनके इसी मानसिकता के तहत उपनिवेशों में भी एक नए ढंग का राष्ट्रवाद पैदा हुआ। इस राष्ट्रवाद ने तुलनात्मक साहित्य को नई दृष्टि दी। यह दृष्टि एकाएक नहीं एक प्रक्रिया में घटित हुई और इस प्रक्रिया में दो तर्क आए। पहला यह कि जैसा यूरोपीय लोगों का साहित्य है, हमारा भी साहित्य वैसा

ही है। कुछ लोगों ने कई अर्थों में उसे श्रेष्ठ भी बताया। इस तर्क को पुष्ट करने के लिए उन्होंने रामायण, महाभारत, वेद, पुराण, कालिदास आदि सर्वश्रेष्ठ क्लासिक साहित्य का नया पाठ भी किया। इसी अध्ययन के मूल में उपनिवेशों का नया राष्ट्रवाद सामने आया। दूसरा तर्क यह था कि यूरोपीय संस्कृति और साहित्य श्रेष्ठ है और हमें अपने आपको उनके जैसा बनाने का प्रयास करना चाहिए। उदाहरण के रूप में उन्होंने यह माना कि शेक्सपीयर तो सर्वकालिक श्रेष्ठ रचनाकार हैं, इसमें कोई विवाद नहीं है, लेकिन हमारे कालिदास भी हमारे लिए शेक्सपीयर ही हैं।

दरअसल होता यह है कि प्रत्येक लेखक/चिंतक अपनी भाषा साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से दूसरी भाषा, साहित्य और संस्कृति को समझने का प्रयास करता है। इस तरह तुलनात्मक साहित्य में एक मानदण्ड निर्मित होता है। कई बार इस तरह के अध्ययन में होता यह है कि प्रथम श्रेणी के लेखकों की तुलना सामान्य लेखकों से भी कर दी जाती है। सशक्त संस्कृति की तुलना सामान्य लेखकों से या कमजोर संस्कृति से या बहुसंख्यक भाषा की तुलना अल्पसंरक्षक भाषा से की जाती है, ताकि विश्वस्तरीय वरिष्ठता का क्रम बनाया जा सके और अंततः उस भाषा की श्रेष्ठता सिद्ध की जा सके जिसे अध्येता सिद्ध करना चाहता है।

अपने से भिन्न संस्कृति और सभ्यता को समझने का प्राथमिक प्रयास यूरोपीय यात्रियों ने किया। अतः कह सकते हैं कि यात्रा–साहित्य में तुलनात्मक संस्कृति के अध्ययन के बीज छिपे हैं। वास्कोडीगामा भारत आया, कोलम्बस अमेरिका पहुँचा। कुछ यात्री अफ्रीका गए। स्वयं यूरोप में एक देश के यात्री दूसरे देश में, दूसरे भाषा–भाषी क्षेत्रों में गए। उन्होंने अपने वृत्तांत लिखे, डायरियाँ लिखीं, पत्र लिखे। इन विधाओं में अपने से भिन्न संस्कृति को समझने का प्रयास मिलता है। चूंकि ये यात्री साम्राज्यवाद के अग्रदूत के रूप में इन देशों में गए थे, इसलिए इनके लेखन में 'वैज्ञानिक जिज्ञासा' से अधिक सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का स्वर सुनाई देता है। यह तो तुलनात्मक साहितय की कुछ खामियाँ हैं, लेकिन भारत जैसे बहुभाषी देश को अगर आप देखें तो तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता कुछ ज्यादा है। भारतीय होने के लिए आपको तुलनात्मक होना पड़ेगा। आप किसी एक जाति, किसी एक सम्प्रदाय, किसी भाषा के साहित्य को 'भारतीय साहित्य' नहीं कह सकते हैं। न ही इसके अध्ययन से आप भारत को समझ सकते हैं। अगर आपको भारतीयता की समझ विकसित करनी होगी तो बिना तुलनात्मक हुए कोई मानदण्ड बना ही नहीं सकते हैं। उदाहरण स्वरूप अगर आपको किसानों की समस्या को समझना है तो आप केवल हिन्दी प्रदेश के आंकड़ों

और लेखकों को पढ़कर नहीं जान सकते हैं। आप इसके लिए दक्षिण भारत, पूर्वोत्तर भारत और अन्य भारतीय प्रदेशों के आंकड़े और लेखकों को पढ़कर और तुलना करके जो मानदण्ड या समस्या निकालेंगे, वास्तविक अर्थों में वही भारतीय किसान की समस्या होगी। अतः भारत के सन्दर्भ में संकुचित राष्ट्रवाद से ऊपर उठकर तुलनात्मक अध्ययन को समझने की आवश्यकता है। अगर साहित्य की दृष्टि से देखें तो तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता और भी महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः तुलनात्मक अध्ययन से हम अन्य भाषाओं के साहित्य के सम्पर्क में आते हैं, उन्हें जानते हैं। इससे एक तरफ जहाँ हमारी दृष्टि का विस्तार होता है, वहीं अपनी भाषा साहित्य को केवल महान समझने की कूपमंडूकता से भी हम बाहर नहीं निकल पाते हैं। भारत में दर्जनों भाषाएँ व कई भाषा–परिवार मौजूद हैं। तुलनात्मक साहित्य उनके मध्य एक सामंजस्य स्थापित करने का साधन है। यहाँ यह ध्यान रखना जरूरी है कि इसका प्रयोग संकुचित धरातल पर न होकर समान भावभूमि पर होना चाहिए। प्रो. जोगेलकर ने तुलनात्मक अध्ययन की भारतीय सन्दर्भ में महत्त्व को समझाते हुए लिखा है – "कभी–कभी तो ऐसा लगता है कि हमने दो भाषाओं के माध्यम से प्रायः एक ही संस्कृति या विचारधारा को दो दृष्टिकोण से समझा है। और कभी–कभी यह भी अनुभव होता है कि विभिन्न भाषाओं के आवरण पहने वास्तव में यह एक ही संस्कृति अथवा मानव जीवन की सौन्दर्य प्रतिमा है जो वेशभूषा की भिन्नता के कारण ही भिन्न जान पड़ती है, पर वास्तव में भिन्न नहीं है। अतः भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अनुशीलन का अपना निजी और विशिष्ट महत्त्व है।"[54]

भारत में तुलनात्मक अध्ययन पर पहला आलेख बंकिमचन्द्र का मिलता है। उन्होंने अपने इस लेख में शकुन्तला और शेक्सपीयर की मेरिन्दा की तुलना की है। आगे चलकर प्रो. अमिय देव और शिशिर कुमार दास ने भारतीय सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन को एक नई पहचान दी।

अब यदि इन विश्लेषित मानदण्डों के आधार पर कहें तो यह स्पष्ट जाहिर होता है कि तुलनात्मक साहित्य एक ऐसा आलोचनात्मक अध्ययन है जो दो या दो से अधिक भाषिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय समूहों के साहित्य का अध्ययन करता है। एक भाषा के दो लेखकों के बारे में तुलना किए गए अध्ययन को हम तुलनात्मक अध्ययन की श्रेणी में नहीं रख सकते हैं। अतः द्विवेदी युग की 'तुलनात्मक आलोचना' तुलनात्मक अध्ययन की श्रेणी में नहीं आती है। द्विवेदी युग की तुलनात्मक आलोचना वास्तव में व्यावहारिक आलोचना की एक शाखा है और इसे इसी रूप में देखना चाहिए। जो लोग उसे स्वतंत्र आलोचना पद्धति मानते हैं वह तुलनात्मक अध्ययन की समझ से काफी दूर खड़े हैं। द्विवेदी युग में जो तुलनात्मक

आलोचनाएँ लिखी गईं वह महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन वह कोई स्वतंत्र पद्धति न होकर व्यावहारिक आलोचना के विकास की कड़ी है।

हिन्दी आलोचना में तुलनात्मक आलोचना (व्यावहारिक आलोचना की एक शाखा) का प्रथम चरण सन् 1900 से 1920 ई. तक का कालखण्ड है। पं. कृष्णबिहारी मिश्र ने तुलनात्मक आलोचना को परिभाषित करते हुए लिखा है – "कविता विशेष के गुण को समझने के लिए उसमें आए हुए काव्योत्कर्ष की परीक्षा करनी पड़ती है। यह परीक्षा कई प्रकार से की जा सकती है – जाँच के अनेक ढंग हैं। कभी उसी कविता को सब ओर से उलट–पलट कर देख लेने में ही पर्याप्त आनंद मिल जाता है – कविता के यथार्थ जौहर खुल जाते हैं, पर कभी इतना श्रम पर्याप्त नहीं होता। ऐसी दशा में अन्य कवियों की उसी प्रकार की, उन्हीं भावों को अभिव्यक्त करने वाली सूक्तियों से पद्य विशेष का मुकाबला करना पड़ता है। इस मुकाबले में विशेषता और हीनता स्पष्ट झलक जाती है। ... कवियों की जो परीक्षा इस प्रकार का एक या अनेक कवियों की उक्तियों की तुलना करके की जाती है, उसी को 'तुलनात्मक समालोचना' कहते हैं।"[55] मिश्र जी की यह बात दर्शाती है कि तुलनात्मक आलोचना का काम किसी कवि की कविता का अर्थ खोलना, उसको परम्परा से सन्दर्भित करना तथा किसी अन्य कवि की कविता से तुलना करके उसे विशिष्ट दिखाना है। तुलनात्मक आलोचना की इस शैली से हमें यह तो ज्ञात होता है कि हिन्दी काव्य परमपरा कैसे और कहां जुड़ती है? लेकिन दूसरे तरफ श्रेणी विभाजन करना तथा किसी कवि को बड़ा या छोटा बताना हिन्दी आलोचना की धारा को संकुचित करना भी है।

मिश्रबन्धुओं ने अपनी आलोचना पद्धति में तुलनात्मक आलोचना की शैली का भरपूर उपयोग किया। उन्होंने सर्वप्रथम श्रेणी–विभाजन वाली तुलनात्मक पद्धति शुरू की।[56] वे 'हिन्दी नवरत्न' में बृहत्रयी, मध्यत्रयी और लघुत्रयी की श्रेणियां बनाई और देव को प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत रखा। उन्होंने सूर और तुलसी के नाम में 'महात्मा' लगे होने के कारण उन्हें बृहत्त्रयी में रखा। मिश्रबन्धुओं के प्रिय कवि देव थे। इस कारण उन्हें देव के काव्य में उन्हें सर्वाधिक उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। वस्तुतः मिश्रबन्धुओं की तुलनात्मक आलोचना के मानदण्ड देव थे, उन्हें देव से बढ़कर अन्य कवियों में काव्योत्कर्ष कम दिखाई पड़ता था। इस कारण उनकी तुलनात्मक आलोचना में पक्षपातपूर्ण दृष्टि की प्रधानता दिखाई पड़ती है। उनके यहाँ तटस्थता का अभाव खटकता है। तुलनात्मक विश्लेषण के मूल्य खण्डित होते हैं।

द्विवेदी युग में मिश्रबन्धुओं की 'विनोद' और 'नवरत्न' के पश्चात् कई तुलनात्मक

आलोचना की कृतियाँ प्रकाश में आईं। उनमें पं. पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी की सतसई', पं. कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी', लाला भगवानदीन की 'बिहारी और देव' तथा पं. छन्नूलाल द्विवेदी की 'कालिदास और शेक्सपीयर' महत्त्वपूर्ण हैं। पं. पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी की सतसई' में व्यवस्थित और पाण्डितपूर्ण आलोचना प्रस्तुत की। इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक को लिखने से पहले वे पं. ज्वाला प्रसाद मिश्र की टीका पर 'सतसई–संहार' नामक कटु, किन्तु विद्वतापूर्ण सूझ–बूझ वाली आलोचना लिखी जो सन् 1910 में 'सरस्वती' में कई किस्तों में छपी। इन आलेखों में शर्माजी ने बड़ी गहराई से उक्त आलोचना टीका की छानबीन की और बिहारी के दोहों का सूक्ष्म सौन्दर्य एवं वास्तविक मर्म उद्घाटित किया। इन आलेखों में पं. पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक आलोचना के व्याख्यात्मक पद्धति का सच्चा रूप देखने को मिलता है।

पं. पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी की सतसई' लिखने के पूर्व 'सरस्वती' में कई तुलनात्मक आलोचना के लेख प्रस्तुत किए, जिनके फलस्वरूप प्रत्यालोचना लिखने वाले कई लेखक सामने आए। उन्होंने 'सरस्वती' 1910–11, 'सतसई संहार' लेखमाला से प्रत्यक्ष रूप से हिन्दी पाठकों की जिज्ञासा–वृत्ति उद्बुद्ध की। शर्माजी के प्रभाव स्वरूप कई लेखकों ने विभिन्न कवियों की साम्यमूलक तुलना प्रस्तुत करने में काफी रुचि ली। इससे अनेक रीतिकालीन श्रृंगारिक कवियों के काव्य सौन्दर्य पर प्रकाश पड़ा। इसके साथ ही तुलनात्मक आलोचना की अनेक गुत्थियाँ, समस्याएँ और उनके समाधान भी प्रकाश में आए।

पं. पद्मसिंह शर्मा हिन्दी आलोचना में एक विशेष उद्देश्य लेकर आए थे। उनकी 'बिहारी की सतसई' की विस्तृत भूमिका से ही स्पष्ट है कि हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना के अभाव की पूर्ति के लिए ही उन्होंने 'बिहारी की सतसई' का प्रणयन किया। उन्होंने लिखा है – "मेरे स्वाध्याय–समय का अधिक भाग संस्कृत–साहित्य के अनुशीलनानुराग में ही व्यतीत हुआ है। अधिक समय नहीं बीता है तब तक हिन्दी कविता के विषय में मेरी धारणा भी कुछ ऐसी ही थी। हिन्दी भाषा की कविता में भी ऐसा मनमोहक चमत्कार हो सकता है, इसका विश्वास नहीं था। इस चिरसंचित अज्ञानान्धकार को बिहारी के कविता–प्रकाश ने अचानक आकर विच्छिन्न कर दिया। मैंने बिहारी के काव्य को बड़े ध्यान और अवधान से पढ़ा, पढ़ा क्या उसने बलात् ऐसा करने के लिए विवश कर दिया। अनेक बार पढ़ा, तुलनात्मक दृष्टि से देखा, उसकी तुलना संस्कृत, प्राकृत और उर्दू, फारसी की कविता से की। अनुशीलन के इस संघर्ष में बिहारी का रंग और पक्का होता गया। वह हृदय–मन्दिर में संस्कृत–कवियों के

बराबर आसन जमा कर बैठ गया।"[57] इस रंग के जमाव का ही परिणाम था कि उन्होंने बिहारी के दोहों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया। तुलनात्मक आलोचना के प्रति अपने रुझान को प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है – "अंग्रेजी में सुना है कि तुलनात्मक समालोचना को बहुत महत्त्व दिया जाता है, इस विषय पर उसमें बड़े–बड़े गौरवपूर्ण आदर्श ग्रंथ लिखे गये हैं, संस्कृत–साहित्य में भी इस रीति का प्राचीन आचार्यों ने अपने खास ढंग पर अच्छा परिष्कार किया है। उर्दू साहित्य में मौलाना 'आजाद' अपने 'आबे–हयात' और सखुनदाने–फ़ारिस' में और 'हाली' दीवाने–हाली के मुकद्दमें, 'हयाते–सादी' और 'यादगारे–गालिब़' में इस रास्ते की दाग़बेल डाल गये हैं। अब वहाँ यह रास्ता चल पड़ा है, पर हमारी हिन्दी में यह मार्ग अभी नहीं खुला। हिन्दी साहित्य में जहाँ तक मालूम है इस शैली पर अभी तक कोई ग्रंथ नहीं लिखा गया, हिन्दी में भी यह रीति प्रचलित होनी चाहिए, इसकी आवश्यकता है।"[58] वस्तुतः शर्माजी ने उर्दू के प्रसिद्ध आलोचक मौलाना शिवली के 'तकावली तनक़ीद' से प्रभाव ग्रहण कर हिन्दी को एक नई तुलनात्मक आलोचना की शैली प्रदान की। उर्दू के शेख शिवली की काव्य–संबंधी धारणा में कलात्मक चमत्कार शब्दों की कारीगरी मजमून की कसावट और बनावट पर काफी जोर है। अतः उन्होंने इसी कसौटी पर 'मावाज़ना–ए–अनीस–ओ दबीर' नामक निर्णयात्मक और पक्षपूर्ण तुलनात्मक आलोचना लिखी। पं. पद्मसिंह शर्मा की काव्य–परीक्षण कसौटी भी यही है। उन्होंने भी 'बिहारी की सतसई' में दोहों की व्याख्या करते समय उनके चमत्कारी भाव–विधान, संश्लिष्ट सामाजिक भाषा–प्रयोग तथा शब्दों की नक़्काशी में अतुल काव्य–सौन्दर्य के दर्शन किए। अतः जिस तरह शेख–शिवली शब्दों की कारीगरी के कारण अपने प्रिय कवि मीर अनीस की प्रशंसा करते नहीं अघाते उसी तरह पं. पद्मसिंह शर्मा बिहारी के शब्द–प्रयोग–चातुरी पर संस्कृत, फारसी, उर्दू तथा हिन्दी के अनेक रीतिकालीन शृंगारिक कवियों से तुलना करते नहीं थकते हैं।

'बिहारी की सतसई' की सभी पदों की व्याख्या इस बात की प्रमाण है कि आलोचना जैसा गम्भीर विषय भी समस्त तथ्यात्मक गाम्भीर्य संजोते हुए, अपनी सहजता और सरलता से पाठकों का मन मोह लेता है। इस पुस्तक की भूमिका तुलनात्मक आलोचना को नई चेतना और चिंतन धारा की नई दिशा प्रस्तुत करती है। प्रेमचन्द ने पद्मसिंह शर्मा की बिहारी विषयक आलोचना के बारे में ठीक ही लिखा है – "'सतसई–संहार' पर कुछ महानुभावों को यह एतराज है कि उसकी चुटकियाँ जरूरत से ज्यादा तेज है। लेकिन जब हम देखते हैं कि आलोच्य पुस्तक उस आदमी के कलम से निकली थी जो विद्यावारिधि का उपाधिकारी था तो हमें शर्माजी की कटुता स्वाभाविक सी लगने लगती है। शर्माजी किसी नये लेखक में उन

ग़लतियों को जरूर क्षमा कर देते। जो पुराना खिलाड़ी बिच्छू का मंत्र न जानते हुए, साँप के मुँह में अंगुली डाले, उसके दुस्साहस को शर्माजी जैसा निर्भीक आलोचक कैसे क्षमा कर देता। ...'सतसई–संहार' की भूमिका तो हिन्दी–साहित्य का रत्न है।"[59] कहना न होगा कि शर्माजी की मृत्यु के कई वर्षों बाद भी उनकी स्मृति काव्य–मर्मज्ञों में वैसी ही अक्षुण्ण है।

तुलनात्मक शैली की इस आलोचना पद्धति में पं. कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचनात्मक वृत्ति ने हिन्दी आलोचना को प्रभावित किया। मिश्रजी ने अपनी तुलनात्मक आलोचना में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर देव के काव्य की व्याख्या की। उनकी पुस्तक 'देव और बिहारी' तुलनात्मक पद्धति की महत्त्वपूर्ण कृति है। उन्होंने इस पुस्तक में सिद्धान्ततः पक्षरहित तुलनात्मक आलोचना को ही मान्यता दी और किसी भी ग्रन्थ को उत्तम अधम सिद्ध करने के लिए उपयुक्त कारणों एवं तर्कों की खोज भी की। उन्होंने लिखा है – "इन सब बातों का सम्यक् उल्लेख होना चाहिए कि किन कारणों से वह ग्रन्थ उत्तम कहा जाएगा। ग्रन्थकर्त्ता को लेखकों या कवियों में कौन–सा स्थान मिलना चाहिये उस विषय के जो अन्य लेखक हों, उनके साथ मिलान करके दिखलाना चाहिये कि उससे यह किस बात में उच्च या न्यून है, और ग्रन्थों की अपेक्षा इस प्रकार के ग्रन्थों का विशेष आदर होना चाहिये या नहीं। यदि होना चाहिए तो किन कारणों से?"[60] इस तरह मिश्रजी ने इन पंक्तियों में काव्य–कृतियों के आधार पर दो कवियों की विशेषताओं का साम्य–वैषम्य निरूपण करना आवश्यक बताया। पुष्ट तर्कों द्वारा किसी कवि के महत्त्व–निर्धारण की बात भी स्वीकार की। वस्तुतः यह मिश्रजी की साम्यमूलक तुलनात्मक आलोचना का सिद्धान्त–पक्ष है जिसके आधार पर देव और बिहारी की आलोचना की गई है।

मिश्रजी ने प्रभावमूलक तुलनात्मक आलोचना के सिद्धान्त–पक्ष की भी सुन्दर व्याख्या की है। प्रभावमूलक तुलनात्मक समालोचना में आलोचक की दृष्टि कवियों या लेखकों से प्रभावित पूर्ववर्ती काव्यों, काव्य–सिद्धान्तों और दार्शनिक तथ्यों की ऐतिहासिक तथा सौन्दर्यपरक मीमांसा करती है। प्रभावमूलक तुलनात्मक आलोचना के सिद्धान्त–पक्ष के संबंध में आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वन्यालोक' में प्रकाश डाला था। मिश्रजी ने आनन्दवर्द्धन के 'भावाहरण' सिद्धान्त की व्याख्या की और उसका विभाजन मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया। आनन्दवर्द्धन की उक्ति का उल्लेख करते हुए मिश्रजी ने लिखा है – "जिस कविता में सहृदय भावुक को यह समझ पड़े कि इसमें कुछ नूतन चमत्कार है, फिर उसमें चाहे पूर्व कवियों की छाया ही क्यों न दिखलाई पड़े – भाव अपनाने में कोई हानि नहीं है।"[61] इस प्रकार मिश्रजी ने कवियो के 'भावापहरण'

को दोषपूर्ण नहीं माना, बल्कि उसे एक विशिष्ट गुण कहना उचित समझा। मिश्रजी ने भावपहरण सिद्धान्त की उपयुक्तता प्रमाणित करने के लिए पाश्चात्य आलोचक इमर्सन के उद्धरण का भी सहारा लिया हैं। वे अपनी तुलनात्मक आलोचना के सिद्धान्तपक्ष की पुष्टि हेतु भारतीय और पाश्चात्य दोनों मतों का उल्लेख कर हिन्दी की तुलनात्मक आलोचना के फलक को विस्तार देते हैं। वे इन सिद्धान्तों के आधार पर रीतिकालीन कवियों के काव्य–सौन्दर्य की सूक्ष्म परीक्षण कर नवीन व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। मिश्रजी अपने युगीन आलोचकों में साहित्यिक मानदण्ड को स्थापित करने तथा एक सुव्यवस्थित चिंतन धारा को विकसित करने में सबसे अग्रणीय है। आचार्य शुक्ल ने इनकी तुलनात्मक आलोचना दृष्टि को व्याख्यायित करते हुए ठीक ही लिखा है – "इस पुस्तक (देव और बिहारी) में बड़ी शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ दोनों बड़े कवियों की भिन्न–भिन्न रचनाओं का मिलान किया गया है। इसमें जो बातें कही गई हैं 'नवरत्न' की तरह यों ही नहीं कही गई हैं, यह पुरानी परिपाटी की साहित्य समीक्षा के भीतर अच्छा स्थान पाने योग्य है।"[62]

पं. कृष्णबिहारी मिश्र के बाद श्री लाला भगवान दीन ने 'देव और बिहारी' की प्रतिक्रिया में 'बिहारी और देव' नामक लेखमाला 'श्री शारदा' पत्रिका में प्रकाशित की। तत्पश्चात् यह ग्रंथ के रूप में 1926 ई. में प्रकाशित हुआ। उन्होंने देव की कई त्रुटियाँ दिखलाकर बिहारी की श्रेष्ठता और महत्ता प्रमाणित की। मिश्रबन्धुओं ने बिहारी के सन्दर्भ में जिन दोषों का उल्लेख किया था, लालाजी ने उनका खण्डन कर बिहारी के काव्य–सौन्दर्य को उद्‌घाटित किया। उन्होंने बिहारी के दोहों की विशेषता बतलाते हुए प्राचीन साहित्य शास्त्रों के सिद्धान्तों का अवलम्बन किया तथा देव और बिहारी की तुलनात्मक आलोचना में भाव पक्ष की अपेक्षा कला पक्ष का ही अधिक विवेचन किया।

लाला भगवान दीन ने काव्य में शब्दों की शुद्धता और साहित्यिक विनियोग को महत्त्व देने के कारण मिश्रबन्धुओं द्वारा किये गए बिहारी के दोहों के अर्थों की पाठ–संबंधी अनेक अशुद्धियों की ओर संकेत किया। लालाजी की तुलनात्मक आलोचना वस्तुतः उनकी व्याख्यापरक तुलनात्मक पद्धति का स्वस्थ और संतुलित उदाहरण है। उन्होंने तुलनात्मक आलोचना के शब्दार्थ सौष्ठव के सूक्ष्म निरूपण की परम्परा को आगे बढ़ाया। इसमें रीति कवियों के काव्य में पाठकों की गहन पड़ताल के साथ दो कवियों के काव्य पर काव्य निर्णय देने की क्षमता बढ़ी। लाला जी की 'बिहारी और देव' कृति का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व इस लिए भी है कि इसके बाद बिहारी और देव संबंधी विवाद का एक तरह से अंत हो गया। उदाहरण रूप में कुछ पंक्तियां देखें :–

मिश्रबन्धुओं ने बिहारी के दोहों पर जो 'दूरान्वयी' दोष दिखाया है उसका खण्डन करते हुए लाला भगवानदीन ने लिखा है – "कुछ छन्दों में दूरान्वयी दूषण बताया गया है। दोहा छन्द ही कितना बड़ा है जो दूरान्वयी दोष से क्लिष्टता आ जायेगी? यदि मान भी लिया जाए कि यह दोष है, तो क्या मिश्रबन्धु यह कह सकते हैं कि देव के छन्दों में यह दूषण कहीं नहीं है? हमारी समझ में तो देव में यह दोष प्रचुरता से पाया जाता है।"[63] इसी तरह मिश्रबन्धुओं ने एक जगह 'आँगुरी छाती छैलछुवाय' की व्याख्या करते हुए बिहारी को 'शोहदा' कह दिया। इस आरोप का प्रतिउत्तर देते हुए भगवानदीन ने लिखा है – "इस दोहे के कारण बेचारे बिहारी 'शोहदा' कह दिये गये, पर मिश्रबन्धुओं को यह भी विचार करना चाहिये था कि जिस कवि ने अष्टयाम और जातिविलास से ग्रन्थ लिखे हों वह कितना बड़ा शोहदई–पोषक मनुष्य होगा? प्रत्येक जाति की स्त्री के गुण–अवगुण गौर से देखना और घड़ी–घड़ी के कृत्य बतलाना भलमंसी का काम तो कहा नहीं जा सकता। अतः स्पष्ट है कि देव में शोहदई का वा उसके वर्णन की इच्छा का कुछ अंश नहीं था। देखना हो तो पाठक प्रेमचन्द्रिका ग्रन्थ के 30वें पन्ने में 37वाँ छन्द देख लें, और देव के अन्य ग्रन्थों में उनका विलक्षण प्रकार का नायिका भेद भी देखें।"[64] यही नहीं मिश्रबन्धुओं ने बिहारी के दोहों पर शब्दों को तोड़–मरोड़कर प्रस्तुत करने का जो दोष लगा है, उसके प्रतिउत्तर में लाला भगवानदीन ने देव द्वारा तोड़े–मरोड़े गए शब्दों की एक लम्बी सूची दे डाली है। कहने का तात्पर्य यह है कि लाला भगवानदीन रीतिकालीन साहित्य के मर्मज्ञ थे। उन्होंने बिहारी पर जो–जो आरोप लगे उसके प्रतिउत्तर में बिहारी के दोहों का वर्णन किया और केशव पर टीकाएँ भी प्रस्तुत की। इस प्रस्तुती से हिन्दी आलोचना में कोई नई अवधारणात्मक विकास तो नहीं हुआ, हाँ यह जरूर हुआ कि आगे के आलोचकों ने इस विवाद को यहीं छोड़कर हिन्दी आलोचना के विकास को समाज–सापेक्ष मूल्यों की तरफ मोड़ा।

4.4 टीका–साहित्य और पुस्तक समीक्षा

द्विवेदी युग की आलोचना का एक अंग टीका–साहित्य और पुस्तक समीक्षा भी है। पुस्तक समीक्षा व्यावहारिक आलोचना के एक अंग के रूप में ही विकसित हुई। यह अलग से कोई आलोचना पद्धति नहीं है। हाँ यह बात जरूर मानीखेज है कि इन समीक्षाओं ने हिन्दी आलोचना के स्वरूप और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन समीक्षाओं में हिन्दी और संस्कृत के प्रमुख रचनाकारों का सामान्य परिचय देकर उनकी विशेषताओं का उल्लेख किया गया जो व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत ही आता है। इस काल के आलोचक भारतीय और पाश्चात्य स्वरूप विधान की शैलियों से परिचित हो रहे थे। उनको अपने विवेचन में प्रयोग कर रहे थे। इस कारण वे पुस्तक–समीक्षा में कोई विशेष अवधारणात्मक मानदण्ड नहीं विकसित कर पाए, लेकिन अवधारणात्मक मानदण्ड जो आगे चलकर बना उसमें इन समीक्षाओं का योगदान जरूर रहा। स्पष्टता, सरलता और सुबोधता उनकी समीक्षा–शैली के प्रमुख गुण हैं।

द्विवेदी युग में जो टीका–साहित्य लिखा गया उनमें पाद–टिप्पणियों के रूप में काव्य में प्रयुक्त अलंकारों, छन्दों और दोषों का सामान्य चित्रण किया गया। लाला भगवानदीन और बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने इस दिशा में सबसे अधिक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 'सूरपंचरत्न', 'बिहारी–बोधिनी', 'केशव–कौमुदी', 'प्रिया–प्रकाश' आदि ग्रन्थ लाला भगवानदीन की टीकाओं में महत्त्वपूर्ण हैं। वहीं 'बिहारी–रत्नाकर' जगन्नाथदास रत्नाकर की टीका का अनुपम उदाहरण है। अगर आप इन टीकाओं को ध्यान से देखें तो इनमें पाठालोचन का कार्य विशेष रूप से प्रशंसनीय है। इन टीकाकारों ने उपलब्ध कृतियों के आधार पर प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। पाठ में अंतर होने के कारण कई दोहों या पदों के वास्तविक अर्थ तक पहुँचना कठीन था। इन कठिनाइयों को दूर करते हुए सजग दृष्टि से इस युग के आलोचकों ने 'पाठालोचन' किया। किसी भी रचनाकार को समझने के लिए सबसे जरूरी है उसके वास्तविक पाठ तक पहुँचना। बिना वास्तविक पाठ को समझे अगर आप किसी कवि का मूल्यांकन करते हैं तो अर्थ का अनर्थ होना स्वाभाविक है। हिन्दी साहित्य परम्परा में कई ऐसे उदाहरण आपको मिलेंगे कि पाठ का अन्तर होने से पद की व्याख्या कुछ और कर दी गई है। द्विवेदी युग के आलोचकों ने टीका–साहित्य लिखते समय इसी कारण 'पाठालोचन' पर विशेष ध्यान दिया। आगे चलकर 'पाठालोचन' की इस पद्धति ने हिन्दी आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। कबीर, जायसी, बिहारी, भूषण, मतिराम, केशव आदि कवियों का 'पाठालोचन' इसका प्रमाण है।

साधारणतया मूल ग्रंथ की टीकाओं के पूर्व में टीकाकार एक परिचयात्मक भूमिका भी जोड़ दिया करते थे, जिससे कवि (जिस रचना पर टीका लिखी जाती थी) की जीवनी और काव्य–कृतियों का विवेचन प्राप्त सामग्री के आधार पर की जा सके। इन टीकाओं तथा सम्पादकीय वक्तव्यों और भूमिकाओं की एक बंधी–बंधाई परिपाटी रहती थी, जिसके निर्धारित प्रतिमानों के अनुरूप ही कवियों के कविताओं का विवेचन किया जाता था। हाँ, कुछ टीकाओं और सम्पादनों की भूमिकाएँ जरूर ही गम्भीर और सार्थक होती थी। इन भूमिकाओं में संकीर्ण परम्परा को छोड़कर आलोचना कर्म स्वच्छन्द विधान में मुखर रूप से जुड़ा होता था। कहना न होगा कि आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा 'जायसी ग्रन्थावली', 'तुलसी ग्रन्थावली' और 'भ्रमर–गीत सार' की भूमिकाओं में जो उक्त तीनों कवियों की विस्तृत और गम्भीर विवेचन किया गया, उसका रास्ता द्विवेदी–युग की इन्हीं टीका–साहित्यों ने तैयार किया था।

इन टीका–साहित्य की भूमिकाएँ भी व्यावहारिक आलोचना पद्धति के अन्तर्गत ही आती हैं। इन भूमिकाओं में गुण–दोष विवेचन की पद्धति द्विवेदी युग में अधिक पाई जाती है। इसका कारण यह है कि इस युग में टीका साहित्य रचने वाले समीक्षकों का दृष्टिकोण अपने प्रिय कवि की महानता का गुणगान करना ही अधिक होता था। यदि प्रसंगवश उन्हें किसी अन्य कवि के साथ उनकी तुलना भी करनी पड़ी तो, उन्होंने अपने प्रिय कवि को ही श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इस युग का टीका–साहित्य कई दृष्टियों से पक्षपातपूर्ण और एकांगी है, लेकिन आगे चलकर महत्त्वपूर्ण टीकाओं और सम्पादनों के लिए एक भावभूमि जरूर तैयार करता है। अतः इन टीकाओं का हिन्दी आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

उक्त विवेचन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी युगीन आलोचना में मुख्यतः व्यावहारिक आलोचना ही समृद्ध हुई। उसके कई रूप विकसित हुए। इन रूपों के विकास से साहित्यिक आलोचना के कई मानदण्ड भी बने। आगे चलकर इस युग के कई मानदण्डों का विस्तार हिन्दी आलोचना अपने स्वरूप को विकसित करने में करती है। निष्कर्षतः यह बात कही जा सकती है कि हिन्दी आलोचना के स्वरूप और विकास में द्विवेदी युग की व्यावहारिक आलोचना का महत्त्वपूर्ण योगदान है। बिना द्विवेदी युग के आलोचना–कर्म को समझे हिन्दी आलोचना की समझ अधूरी रह जाएगी। इस युग के विविध शैलियों की विकास परम्परा को समझ कर ही हिन्दी आलोचना की वास्तविक जमीन की पड़ताल हो सकती है।

सन्दर्भ

1 मैनेजर पाण्डेय – आलोचना में सहमति–असहमति, पृ. 13
2 विश्वनाथ त्रिपाठी – हिन्दी आलोचना, पृ. 19
3 महावीरप्रसाद द्विवेदी – समालोचना समुच्चय, पृ. 2
4 नन्ददुलारे वाजपेयी – आधुनिक साहित्य, पृ. 12
5 सं. भारत यायावर – महावीरप्रसाद द्विवेदी रचना संचयन, पृ. 172
6 नन्ददुलारे वाजपेयी – आधुनिक साहित्य, पृ. 13
7 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 272
8 श्यामसुन्दर दास – साहित्यालोचन, पृ. 33
9 सं. रामबक्ष/नामवर सिंह – महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रतिनिधि संकलन, पृ. 13
10 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 273 से उद्धृत
11 शेखर बंद्योपाध्याय – पलासी से विभाजन तक, पृ. 248
12 श्यामसुन्दर दास – साहित्यालोचन, पृ. 184
13 बालकृष्ण भट्ट – हिन्दी प्रदीप, अक्टूबर 1886, पृ. 12
14 अभिषेक रौशन – बालकृष्ण भट्ट और आधुनिक हिन्दी आलोचना का आरम्भ, पृ. 64 से उद्धृत
15 हिन्दी साहित्य, तृतीय खण्ड, पृ. 558
16 डॉ. उदयभानु सिंह – महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ. 361–362
17 रूपकिशोर मिश्र – हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना, पृ. 75
18 वही, पृ. 82
19 सं. भारत यायावर – महावीरप्रसाद द्विवेदी रचना संचयन, पृ. 181
20 महावीरप्रसाद द्विवेदी – कालिदास और उनकी कविता, पृ. 140
21 सं. प्रभातशास्त्री – संचयन से उद्धृत, पृ. 104
22 कृष्ण बिहारी मिश्र – देव और बिहारी, पृ. 28
23 मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, पृ. 148–149
24 सं. कुमार पंकज – बिहारी सतसई, पृ. 42
25 वही, पृ. 43
26 कृष्ण बिहारी मिश्र – देव और बिहारी, पृ. 94
27 श्यामसुन्दर दास – साहित्यालोचन, पृ. 185
28 हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग–9, पृ. 152–153
29 वही, पृ. 154
30 सं. भारत यायावर – महावीरप्रसाद द्विवेदी रचना संचयन, पृ. 556–57
31 वही, पृ. 542
32 वही, पृ. 543
33 वही, पृ. 542
34 वही, पृ. 546
35 सं. भारत यायावर – महावीरप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग–7, भूमिका से उद्धृत
36 महावीरप्रसाद द्विवेदी – कालिदास और उनकी कविता, पृ. 137
37 वही, पृ. 122
38 विशेष अध्ययन के लिए देखें महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत – कालिदास की निरंकुशता, पृ 23
39 सं. भारत यायावर – महावीरप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग–7, पृ. 110–112

40 महावीरप्रसाद द्विवेदी – विक्रमांकदेव चरित चर्चा, पृ. 10
41 वही, पृ. 7
42 महावीरप्रसाद द्विवेदी – विचार–विमर्श, पृ. 1
43 डॉ. नंदकिशोर नवल – हिन्दी आलोचना का विकास, पृ. 96
44 हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग–9, पृ. 160
45 मिश्रबन्धु – हिन्दी नवरत्न, पृ. 8 (द्वितीय संस्करण की भूमिका)
46 वही, पृ. 9–10
47 वही, पृ. 8–10
48 वही, पृ. 412–413
49 वही, पृ. 408
50 वही, पृ. 235–236
51 वही, पृ. 205
52 सं. जी.डब्ल्यू.ई. रसल – मैथ्यू आर्नल्ड के पत्र, 1895, 1, 8
53 रेनेवेलेक – अनु. इन्द्रनाथ मदान – आलोचना की धारणाएँ, पृ. 160
54 प्रो. जोगेलकर – हिन्दी अनुसंधान, पृ. 28

पाँचवा अध्याय

तत्कालीन साहित्यिक विवाद और आलोचना के द्वन्द्व

5.1 हिन्दी–उर्दू का विवाद
5.2 खड़ी बोली और ब्रजभाषा का विवाद
5.3 अनस्थिरता संबंधी विवाद
5.4 परम्परा और नवीनता का द्वन्द्व

तत्कालीन साहित्यिक विवाद और आलोचना के द्वन्द्व

आलोचना–कर्म वाद, विवाद और सम्वाद के बीच से अपना स्वरूप विकसित करता है। किसी भी समय के आलोचनात्मक विवेक को समझने के लिए उस युग के साहित्यिक विवादों को समझना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि इन साहित्यिक विवादों का तत्कालीन युग के आलोचनात्मक अवधारणा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। अतः द्विवेदी युग की आलोचना को समझने के लिए भी उस समय के साहित्यिक विवादों को समझना जरूरी है। बिना इस युग (द्विवेदी युग) के विवादों को समझे तत्कालीन आलोचना की मुकम्मल तस्वीर साफ नहीं हो सकती है। जब तक इस युग के विवादों को नहीं समझा जायेगा, तब तक द्विवेदी युग ही नहीं, बल्कि हिन्दी आलोचना के स्वरूप और विकास की समझ भी अधूरी रह जायेगी। द्विवेदी युग की आलोचना में कई द्वन्द्व हैं। चूँकि यह कालखण्ड (सन् 1900 से 1920 तक का) हिन्दी आलोचना के सम्वर्धन का काल है, इसलिए यहाँ द्वन्द्व होना स्वाभाविक है। यह द्वन्द्व कई स्तरों पर दिखता है। भाषा के स्तर पर भी और विषयवस्तु के स्तर पर भी। इस द्वन्द्व से हिन्दी आलोचना की धारा कई स्तरों पर समृद्ध हुई है, तो वहीं कुछ स्तरों पर संकुचित भी हुई है। अतः जरूरी है कि इस युग के विवादों और उसके द्वन्द्व का परीक्षण किया जाए, जिससे हिन्दी आलोचना के स्वरूप और विकास की तस्वीर साफ हो सके।

5.1 हिन्दी–उर्दू का विवाद

दाग़ देहलवी का एक शेर है –

उर्दू है जिसका नाम हमीं जानते हैं 'दाग़'
हिन्दोस्ताँ में धूम हमारी ज़बाँ की है

जब इस शेर की मानी तक पहुँचते हैं तो एक त्रासद सवाल खड़ा हो जाता है। क्या वाकई आजाद हिन्दुस्तान की यह तस्वीर है? उत्तर मिलता है 'काश'! ऐसा होता। दरअसल हिन्दी को 'हिन्दुओं और उर्दू को 'मुसलमानों' की भाषा बनाने का काम उन्नीसवीं सदी की हिन्दी–उर्दू विवाद से शुरू होता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज भी हिन्दी हिन्दुओं की भाषा बनी हुई है और उर्दू मुसलमानों की। उर्दू और हिन्दी का झगड़ा दरअसल अपने मूल रूप में फारसी और नागरी लिपि का झगड़ा था। हिन्दी प्रदेश में सरकारी दफ्तरों और

अदालतों की लिपि फारसी थी। इन दफ्तरों में काम करने वाले केवल मुसलमान नहीं होते थे, बल्कि हिन्दू और मुसलमान दोनों होते थे। इन दोनों समुदाय का साझा भद्रवर्ग था जो उर्दू भाषा और फारसी लिपि का इस्तेमाल करता था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इस साझा भद्रवर्ग में प्रतिनिधित्व के सवाल को लेकर दरारें पड़ने लगीं।[1] जिस लिपि में उस समय सरकारी काम–काज होते थे उसकी लिपि फारसी थी। फारसी लिपि होने के कारण फारसी के शब्दों का इस्तेमाल भी ज्यादा होता था। फारसी का चलन हिन्दुओं में कम था। काश्मीरी पंडितों और कायस्थों को छोड़कर अधिकांश हिन्दू फारसी लिखना पढ़ना नहीं जानते थे। इसके ठीक विपरीत अधिकांश मुसलमानों (खासकर भद्रवर्गीय मुसलमान) में फारसी का चलन अधिक था। इसका कारण एक तो यह था कि कुछ ही पुश्त पहले फारस या अरब से आए उच्चवर्गीय मुस्लिम परिवारों में इस लिपि का आम चलन था। दूसरा कारण था मुसलमानों के अधिकांश धार्मिक ग्रंथ इसी लिपि (फारसी) में थे, जिसे वे सबसे पहले पढ़ना–सीखते–सिखाते थे। इस प्रकार फारसी लिपि मुस्लिम समुदाय में ज्यादा प्रचलित थी। हिन्दुओं में नौकरी चाहने वाले लोगों को अलग से यह लिपि (फारसी) सीखनी पड़ती थी। इस कारण सरकारी दफ्तरों में फारसी का चलन होने से मुसलमान लड़कों के लिए इनमें प्रवेश पाना बहुत आसान था, जबकि हिन्दू लड़के पढ़े–लिखे होने के बावजूद फारसी लिपि न जानने के कारण इन नौकरियों में प्रवेश नहीं पाते थे। फ्रांसिस रॉबिन्सन ने अपनी किताब में सरकारी स्कूलों–कॉलेजों में पढ़ने वाले हिन्दू–मुस्लिम लड़कों के आँकड़े प्रस्तुत किए हैं जिसको वीर भारत तलवार ने अपनी पुस्तक 'रस्साकशी' में उद्धृत किया है। इस आँकड़े के अनुसार – '1860–61 में प्राइमरी–सेकेन्डरी स्कूलों में शिक्षा पाने वाले कुछ विद्यार्थियों में 90 प्रतिशत विद्यार्थी हिन्दू थे और 10 प्रतिशत मुस्लिम। 1870 में 84 प्रतिशत विद्यार्थी हिन्दू थे और 15.9 प्रतिशत मुस्लिम। 1880–81 में 81 प्रतिशत विद्यार्थी हिन्दू थे और 16.6 प्रतिशत मुस्लिम। 1900 ई. में 81 प्रतिशत विद्यार्थी हिन्दू थे 15.4 प्रतिशत मुस्लिम। सरकारी कॉलेजों में शिक्षा पाने वालों में 1860–61 में 85.7 प्रतिशत विद्यार्थी हिन्दू थे, सिर्फ 8.4 प्रतिशत मुस्लिम। 1870–71 में 92 प्रतिशत हिन्दू थे, 7.3 प्रतिशत मुस्लिम। 1880–81 में 75.2 प्रतिशत हिन्दू थे, 12.6 प्रतिशत मुस्लिम और 1900 ई. में 78 प्रतिशत हिन्दू थे, 16.2 प्रतिशत मुस्लिम।'[2] इस तरह देखें तो मुसलमानों से शिक्षा में अधिक होने के बावजूद भी सरकारी नौकरियों में हिन्दुओं की उपस्थिति कम थी। इस बात को लेकर हिन्दू भद्रवर्ग में असंतोष पैदा हुआ, क्योंकि नागरी लिपि और हिन्दी भाषा का व्यवहार करने वाले हिन्दू फारसी लिपि न जानने के कारण सरकारी दफ्तरों में भर्ती न हो पाते थे। सन् 1868 ई. में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने लिपि को लेकर एक मेमोरेन्डम सरकार को दिया। इस मेमोरेन्डम को 'कोर्ट कैरेक्टर इन दी

अपर प्रोविन्सेज ऑफ इंडिया' के नाम से जाना जाता है। वास्तविक रूप में 1969 के इसी मेमोरेन्डम से उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विधिवत हिन्दी आन्दोलन की शुरुआत होती है।

सरकार को सौंपे गए इस मेमोरेन्डम में 'सितारेहिन्द' ने अदालतों में नागरी लिपि लागू करने की माँग की। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि उन्होंने भाषा में परिवर्तन का सवाल नहीं उठाया था। वे हिन्दी–उर्दू को एक ही भाषा मानते थे इस कारण उनके लिए सवाल सिर्फ लिपि का था, पर लिपि के मुद्दे पर इस मेमोरेन्डम में हिन्दू–मुस्लिम अलगाव के बीज मौजूद थे। इस मेमोरेन्डम में उन्होंने नागरी एवं फारसी का क्रमशः हिन्दू तथा मुस्लिम आधार स्पष्ट कर दिया है। हिन्दी भाषा और लिपि को हिन्दुत्व से जोड़ते हुए मेमोरेन्डम में उन्होंने लिखा है – "जब मुसलमानों ने हिन्दोस्तान पर कब्जा किया, उन्होंने पाया कि हिन्दी इस देश की भाषा है और इसी लिपि में यहां के सभी कारोबार होते हैं। ... लेकिन उनकी फारसी शहरों के कुछ लोगों को, ऊपर–ऊपर के दस–एक हजार लोगों को छोड़कर आमलोगों की जुबान नहीं बन सकी। आम लोग फारसी शायद ही कभी पढ़ते थे। पटवारी आज भी अपने कागजात हिन्दी में ही रखता है। महाजन, व्यापारी और कस्बों के लोग अब भी अपना सारा कारोबार हिन्दी में ही करते हैं। कुछ लोग मुसलमानों के कृपा पाने के वास्ते अगर पूरे नहीं, तो आधे मुसलमान जरूर हो गए हैं। लेकिन जिन्होंने ऐसा नहीं किया, वे अब भी तुलसीदास, सूरदास, कबीर, बिहारी इत्यादि की रचनाओं का आदर करते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि हर जगह हिन्दी की सभी बोलियों में फारसी के शब्द काफी पाए जाते हैं बजार से लेकर हमारे जानने तक में वे घर–घर बोले जाते हैं। भाषा का यह नया मिला–जुला रूप ही उर्दू कहलाता है। ... मेरा निवेदन है कि अदालतों की भाषा से फारसी लिपि को हटा दिया जाए और उसकी जगह हिन्दी लिपि को लागू किया जाए।"[3] इस मेमोरेन्डम में भाषा परिवर्तन का सवाल नहीं उठाते हुए भी उन्होंने हिन्दुओं की आर्यभाषा के फारसी से दूषित होने की बात की है। यही नहीं फारसी प्रभाव से समस्त आर्य संस्कृति के दूषित होने का भी जिक्र किया है। ब्रिटिश सरकार के द्वारा जनता पर फारसीनिष्ट उर्दू थोपने का आरोप लगाते हुए राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' लिखते हैं – "आजकल की फारसी में आधी अरबी मिली हुई है। सरकार की इस नीति को विवेकपूर्ण नहीं माना जा सकता जिसने हिन्दुओं के बीच सभी तत्त्वों को खड़ा कर उन्हें अपनी आर्यभाषा से वंचित कर दिया है, न सिर्फ आर्यभाषा से बल्कि उन सभी चीजों से जो आर्य हैं, क्योंकि भाषा से ही विचारों का निर्माण होता है और विचारों से प्रथाओं तथा दूसरे तौर–तरीकों का। फारसी पढ़ने से लोग फारसी दाँ बनते हैं। इससे हमारे सभी विचार दूषित हो जाते हैं और हमारी जातीयता की भावना खत्म हो जाती है।"[4]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने हिन्दी–उर्दू को एक भाषा मानने के बावजूद लिपिगत भिन्नता के कारण इनका हिन्दू मुस्लिम आधार तय कर दिया। इस मेमोरेन्डम से सात महीना पहले भी राजा साहब द्वारा दिया गया एक मेमोरेन्डम का उल्लेख मिलता है। इसका जिक्र नागरी प्रचारिणी पत्रिका के एक अंक में छपे लेख 'हिन्दी के उन्नायक और रक्षक राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' के लेखक उमेश नन्दन सिन्हा ने किया है। उक्त लेख में भी राजा साहब वैचारिक अन्तर्विरोध स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं।[5] दरअसल यह अन्तर्विरोध उस दौर में हिन्दी का आन्दोलन कर रहे तमाम लेखकों–पत्रकारों के यहाँ दिखाई पड़ता है। वस्तुतः यह अन्तर्विरोध इनकी राजनीति और धर्मनीति के द्वन्द्व के कारण उपजा है।

यह अन्तर्विरोध भारतेन्दु के यहाँ भी मौजूद है। भारतेन्दु भी प्रारम्भिक सालों में राजा साहब के भाषा नीति के समर्थक थे, और हिन्दी–उर्दू में कोई भेद नहीं मानते थे। 15 अक्टूबर 1873 ई. को छपे 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के पहले अंक में 'हिन्दी भाषा' नामक एक लेख में उन्होंने स्पष्ट तौर पर कहा है – "हमें अपनी देशी भाषा को समृद्ध करने के लिए कहीं से भी शब्द लेने में संकोच नहीं करना चाहिए। अपनी भाषा को समृद्ध करने के लिए जिस किसी खजाने से हो सके शब्द लिए जाएँ और हमारी भाषा को आज जिस नाम से चाहें पुकार सकते हैं, लेकिन वह भाषा उपयोगी और आम लोगों के समझने योग्य हो।"[6] यही नहीं शुरुआती दौर में भारतेन्दु ने संस्कृत भाषा के शब्दों को हिन्दी भाषा के साथ जोड़ने के लिए उतना आग्रही नहीं थे जितना बाद के दिनों में हुए। भारतेन्दु के इन विचारों को उद्धृत करते हुए वसुधा डालमिया ने ठीक ही लिखा है – "भारतेन्दु को यह मानने और कहने में कोई संकोच नहीं था कि हिन्दी और उर्दू अनिवार्यतः एक भाषा है जो बहुसंख्यक जनता द्वारा बोली जाती है। भारतेन्दु की इस भाषा नीति में बाद में काफी बदलाव आता है, जैसे–जैसे वे हिन्दी आन्दोलन का हिस्सा बनते हैं, उनका उर्दू विरोध भी बढ़ता जाता है। लिहाजा राजा शिवप्रसाद की नीति का खुलकर विरोध करना वे प्रारम्भ करते हैं। यह विरोध इतना बढ़ जाता है कि 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के फरवरी 1874 के अंक में सम्पादक मण्डल की सूची से राजा साहब का नाम हटा दिया जाता है और इस बारे में यह सूचना दी जाती है कि पहले अंक में राजा साहब का नाम गलती से चला गया था। इसके साथ ही 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में ऐसे लेख छपने लगे जिनमें धड़ल्ले से हिन्दी के संस्कृतनिष्ठ रूप को बढ़ावा दिया जाए।"[7] 1873ई. के 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में हिन्दी भाषा में संस्कृत के शब्दों को भरने का विरोध करने वाले भारतेन्दु बाद के दिनों में हिन्दी और संस्कृत को एक–दूसरे से इस तरह जोड़ देते हैं

कि उनके लिए संस्कृत का विकास हिन्दी का विकास हो जाता है।

असल में संस्कृत के बारे में ऐसी धारणा बनाई जा रही थी कि देश–दुनिया के तमाम ज्ञान संस्कृत में भरे पड़े हैं। किसी भी आविष्कार या नई खोज का बहुत पहले संस्कृत ग्रंथों में उल्लेख हो चुका है। संस्कृत का यह महिमा मण्डन उससे हिन्दी को जोड़कर हिन्दी के मुकाबले उर्दू–फारसी को नीचे और ज्ञान के मामले में बहुत पीछे दिखाने की नीयत से भी किया गया था। प्रतापनारायण मिश्र का लेख 'हमारी आवश्यकता (2)' इसका उदाहरण है। उक्त लेख में उन्होंने स्पष्ट किया है – "आज हम लाख गई बीती दशा में हैं पर हमारी भाषा किसी अन्य भाषा के किसी अंग से किसी अंश में कुछ भी कम नहीं है और यदि इसे संस्कृत का सहारा मिल जाए तो मानों सोने में सुगंध हो जाए। क्योंकि संस्कृत के यद्यपि लाखों ग्रंथ आज लुप्तप्राय हो गए हैं तथापि जो मिलते हैं अथवा दौड़–धूप से मिल सकते हैं वह ऐसे नहीं कि किसी लौकिक अथवा पारलौकिक विद्या से रहित हों। वरन् यह कहना अत्युक्ति नहीं है, अनेक सहृदयों की साक्षी से सिद्ध है कि जो कुछ संस्कृत के प्राचीन ग्रंथ लिख गए हैं वही अभी तक दूसरी भाषा के अभिमानियों को कैसा पूरी रीति से समझना ही कठिन है। एक बार नहीं सैकड़ों बार देखने में आया है कि जिस विद्या के जिस अंग को विदेशी विद्वानों ने वर्षों परिश्रम करके, सहस्रों का धन खो के, हस्तगत किया है और अनेक लोगों की समझ में उसके आचार्य (ईजाद करने वाले) समझे गए हैं वहीं बात संस्कृत की किसी न किसी पुस्तक में सहस्रों वर्ष पूर्व की लिखी हुई ऐसी मिल गई है कि बुद्धिमान चकित रह गए हैं। फिर हम नहीं जानते ऐसी सर्वांग सुन्दर भाषा के भंडार के रतन अपनी मातृभाषा के कोष में क्यों नहीं भर लिए जाते।"[8] संस्कृत के साथ हिन्दी को जोड़ने की प्रवृत्ति और फारसीके साथ उर्दू को जोड़ने की प्रवृत्ति आगे चलकर और भी खतरनाक रूख अख़्तियार कर लिया। आज भी नवीनतम वैज्ञानिक आविष्कारों का उल्लेख वेदों में ढूँढ़कर विद्वानों को अचम्भित कर देने वाले लोगों की कमी नहीं है।

1868 में राजा साहब ने प्रान्तीय सरकार को जो मेमोरेन्डम दिया उसमें यद्यपि उर्दू को हिन्दी से अलग भाषा नहीं माना गया, लेकिन उसमें फारसी के शब्दों के अंधाधुंध प्रवेश को रोकने की बात जरूर की गई। साथ ही लिपि के रूप में फारसी को हटाकर नागरी लागू करने की बात जरूर की गई। इस मेमोरेन्डम का सरकार पर तो कोई असर नहीं पड़ा, लेकिन इसने मुस्लिम भद्रवर्ग में 'जो सरकारी नौकरियों का भरपूर लाभ उठा रहे थे', उनके बीच खलबली मचा दी। उन्नीसवीं सदी का हिन्दी आन्दोलन दरअसल उस समय के

युक्तप्रान्त में हिन्दू–मुस्लिमके बीच के शक्ति–समीकरण को बदलने का प्रयास था। मुस्लिम भद्रवर्ग के प्रतिनिधि सर सैयद ने फारसी लिपि की जगह नागरी के आने से मुसलमानों को होने वाले नुकसान का अनुमान लगा रहे थे। 29 अप्रैल, 1870 ई. को उन्होंने इंग्लैण्ड से मुहसिन–उल–मुल्क को पत्र लिखा कि – 'एक और मुझे खबर मिली है जो मेरे लिए अत्यंत दुख एवं चिंता का कारण है। वह यह कि बाबू शिवप्रसाद साहब के अभियान से आम हिन्दू लोगों के दिल में जोश आया है कि ज़बान उर्दू व फारसी लिपि को, जो मुसलमानों की निशानी है, मिटा दिया जाए। ... यह एक ऐसा उपाय है कि हिन्दू–मुसलमान में किसी तरह एकता नहीं रह सकती। मुसलमान हरगिज हिन्दी पर सहमत न होंगे और अगर हिन्दू मुस्तैद हुए और हिन्दी पर आग्रह किया तो वे उर्दू पर सहमत न होंगे और परिणाम इसका होगा कि हिन्दू–मुसलमान अलग हो जाएँगे। यहां तक तो कोई चिन्ता नहीं, बल्कि मैं समझता हूँ कि अगर मुसलमान हिन्दू से अलग होकर अपना कारोबार करे तो मुसलमानों को ज्यादा फायदा होगा। और हिन्दू नुकसान में रहेंगे। हाँ, इसमें दो बातों का ख्याल है। एक खास अपनी तबीयत के कारण कि मैं सभी भारतवासियों क्या हिन्दू, क्या मुसलमान सबकी भलाई चाहता हूँ। दूसरे बड़ा डर इस बातका है कि मुसलमानों का बुरा समय चल रहा है वे हरगिज इस काबिल नहीं हैं जो अपनी भलाई के लिए कुछ कर सकें।"[9] इस चिट्ठी से सर सैयद की चिंता साफ मालूम पड़ती है। सैयद अहमद राजा साहब के प्रयासों से चिंतित तो हैं लेकिन वे हिन्दी–उर्दू या हिन्दू–मुसलमान के बीच एकता स्थापित करने की कोई बात नहीं करते हैं उल्टे यह कहते हुए कि मुसलमान हरगिज हिन्दी पर सहमत नहीं होंगे और हिन्दू उर्दू पर सहमत नहीं होंगे कहकर हिन्दू और मुस्लिम का आधार और स्पष्ट कर देते हैं। उन्नीसवीं सदी में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच बढ़ते हुए अलगाव और इस कारण हिन्दी और उर्दू के बीच की बढ़ती हुई दूरी के कारणों पर विचार करते हुए शम्सुर्रहमान फारुकी ने लिखा है – "हिन्दुओं में नए उर्दू लेखक तो फिर भी पैदा होते रहे, लेकिन मुसलमानों ने अब एक नया तरीका अपनाया। शायद अचेतन तौर पर अंग्रेजों के मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक दबाव के कारण या फिर उर्दू–हिन्दी के झगड़ों में दिन–ब–दिनबढ़ती कटुता के चलते मुसलमानों ने हिन्दुओं को उर्दू की प्रामाणिक तालिका से निकालने की मनोवृत्ति को अपनाना आरम्भ किया। अपनी अत्यधिक लोकप्रिय कूटि (जो उर्दू शायरी का इतिहास है) अर्थात् 'आब–ए–हयात' (प्रथम संस्करण, 1880) में मुहम्मद हुसेन आजाद को केवल एक हिन्दू शायर (दयाशंकर नसीम,1811–1844) उल्लेखनीय दिखाई दिया। और उनका भी उल्लेख आजाद ने ऐतिहासिक क्रम में सही स्थान पर नहीं, बल्कि मीर हसन (1727–1786) के साथ किया।

लिहाजा ढूँढ़ने वाला अगर चाहे भी तो नसीम का विवरण आसानी से नहीं ढूँढ़ सकता।"[10] इस तरह के और भी अलगाववादी प्रयास हिन्दी–उर्दू दोनों पक्षों के लोगों द्वारा भरपूर किए गए। इसमें यह ढूँढ़ना या कहना की यह प्रयास सबसे पहले किसके तरफ से हुआ या कौन ज्यादा प्रयास किया अतार्किक है।

उन्नीसवीं सदी के हिन्दी आन्दोलन को व्याख्यायित करते हुए फ्रॅचेस्का ऑरसिनी ने अपनी पुस्तक 'द हिन्दी पब्लिक स्फीयर' में लिखा है – "उन्नीसवीं सदी के अंतिम दिनों में चल रहा हिन्दी–उर्दू विवाद पुराने नौकरी–पेशा वाले भद्रवर्ग ओर नए समुदाय के बीच नौकरी और रुतबे के लिए होने वाली प्रतिस्पर्धा मात्र नहीं था, बल्कि यह अपनी सांस्कृतिक पहचान सुनिश्चित कराने के लिए चल रहा संघर्ष भी था जिसमें नए–नए सांस्कृतिक प्रतीक गढ़े जा रहे थे।"[11] वही हिन्दी–उर्दू के प्रसंग को व्याख्यायित करते हुए रामविलास शर्मा ने लिखा है – "हिन्दी प्रदेश में इस लिपि (फारसी) के साथ–साथ या उसके स्थान में नागरी लिपि के चलन के लिए प्रबल आन्दोलन हुआ। किसी सभा का नाम नागरी प्रचारिणी सभा रखा जाए, इसी से विदित होता है कि अपनी लिपि के लिए इस प्रदेश की जनता को कैसा विकट संघर्ष करना पड़ा। बंगाल जैसे प्रदेश में बंगला लिपि के लिए ऐसा संघर्ष नहीं हुआ यद्यपि उस प्रदेश की आधाी जनता मुसलमान थी। ... कल्पना कीजिए कि हिन्दी प्रदेश में नागरी लिपि के लिए संघर्ष न हुआ होता तो उत्तर भारत की क्या स्थिति होती। महाराष्ट्र, गुजरात और बंगाल छोड़कर उत्तर भारत में समस्त हिन्दी–भाषी प्रदेश में तथा पंजाबी–डोगरी, सिन्धी आदि भाषाओं के प्रदेशों में फारसी लिपि का ही आधिपत्य होता।"[12] ध्यान से देखें तो रामविलास जी की यह बात फ्रॅचेस्का के ठीक उलट है। फ्रॅचेस्का का इशारा उस तरफ है जहाँ इस आन्दोलन (हिन्दी आन्दोलन) में हिन्दुओं को एकजुट करने की प्रक्रिया में तमाम ऐसे प्रतीक गढ़े गए जिसके आधार पर हिन्दुओं को एक छत के नीचे लाया जा सके। हिन्दी, नागरी, गाय आदि प्रतीक उसी प्राचीन 'आर्यधर्म' की रक्षा के लिए इस आन्दोलन में इस्तेमाल हुए थे जिसके वारिस हिन्दू थें जहाँ रामविलास जी हिन्दी जातीय परम्परा का उत्थान देखते हैं वही फ्रॅचेस्का उस उत्थान में उन विन्दुओं की तरफ इशारा करती है, जो हिन्दी–उर्दू अलगाव के सांस्कृतिक कारणों का पहचान करता है।

रामविलास जी अपने पूरे चिंतन में जिस बात पर सबसे ज्यादा अडिग है, वह है – 'साम्राज्यवाद विरोध'। इस कारण वे हिन्दुस्तान की जितनी भी खामियां हैं उसके लिए 'ब्रिटिश उपनिवेश' को ही जिम्मेदार मानते हैं। यह बात सही है कि आधुनिककाल में जितने भी मतभेद हुए उसमें अधिकांश समस्या या विवाद अंग्रेजी शासन के द्वारा ही फैलाया गया,

लेकिन जब आप सभी कारणों को सिर्फ उन्हीं के माध्यम से देखने लगते हैं तो कुछ तर्क अस्पष्ट और अतार्किक भी लगने लगता है। भाषा–विवाद सम्बन्धी चिंतन में रामविलास जी की यह कमजोरी स्पष्ट दिखती है। रामविलास जी के भाषा–विवाद सम्बन्धी दृष्टिकोण को जानने के लिए तीन महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं। 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण', 'भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा' और 'भाषा और समाज'। उक्त पुस्तकों में रामविलास जी की मान्यताओं का सार यही है कि मुसलमानों के भारत आने और हिन्दुओं से उनके मिलन से उर्दू (फारसी से लदी हुई) तैयार नहीं हुई। अंग्रेजों से पहले जो विदेशी यहाँ आए वे यहाँ की जातीय हिस्सा बनते गए ओर उन्होंने यहाँ की भाषा को भी अपनाया। इस कारण आप देखेंगे कि अंग्रेजों से पहले यहाँ (भारत में) भाषा का विभेद (हिन्दी–उर्दू) विवाद नहीं दिखाई पड़ता है। बहुत से ऐसे मुस्लिम कवि मिल जायेंगे जो भारत के कई जनपदीय बोलियों में कविता रच रहे थे। 18वीं सदी तक भी दिल्ली के कवि अपनी भाषा को हिन्दी (!) कहते पाए जाते हैं दक्कनी का जो स्वरूप निर्मित हुआ, वह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी–उर्दू का सामाजिक रूप विद्यमान था और वास्तविक भेद अठारहवीं सदी में ज्यादा तैयार हुआ। 18वीं सदी के बाद संकुचित सामन्ती परिवेश के बीच उर्दू की एक ऐसी शक्ल तैयार होने लगी, जिसका देश के जनपदीय बोलियों से संबंध विच्छेद होने लगता है, और फारसी का आवरण उस पर हावी होने लगता है। कवि लोग सप्रयास भाषा में ऐसे शब्द और लहजा लाने लगते हैं जिनका संबंध हिन्दुस्तान की संस्कृति हिन्दी की परम्परा और जनपदीय बोलियों से न होकर फारसी के परिवेश से अधिक होता है। यह प्रक्रिया संस्कृत के माध्यम से हिन्दी के साथ भी घटित होती है, लेकिन उतने बड़े पैमाने पर नहीं जितना की उर्दू के साथ घटित होता है। इस प्रकार हिन्दी–उर्दू का एक भेद अंग्रेजों के भारतीय राजनीति में दबदबा कायम होने तक तैयार हो चुका था। अंग्रेजों ने इस अवसर का लाभ उठाकर अपनी कूटनीति से इस भेद को गहरा धार्मिक रंग दे दिया। अंग्रेजों ने अपनी शिक्षा–नीति और भाषा–नीति ऐसे तैयार की जिस कारण यह पुख्ता होता चला गया कि हिन्दी और उर्दू दो अलग भाषाएँ हैं और उनका जातीय स्वरूप एक नहीं है। रामविलास जी का जोर इस बात पर है कि आज भी हिन्दू–मुसलमान यह समझ नहीं पाते हैं कि उनका धर्म भले अलग है, लेकिन उनकी जाति एक है।

रामविलास जी अपनी व्यवस्थित चिंतन–प्रणाली से उक्त अवधारणाओं के सन्दर्भ में असहमति का कोई अवकाश नहीं लेने देते है, लेकिन उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक दो दशकों के भाषायी परिदृश्य और उस दौरान ब्रिटिश राजसत्ता की भाषा–नीति का जो विश्लेषण वे

प्रस्तुत करते हैं उनके साथ सहमत होना कठिन लगता है। इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि ब्रिटिश राजसत्ता ने हिन्दू–मुस्लिम अलगाववाद को पुष्ट करने के लिए उन्नीसवीं सदी में भाषायी मामलों में भी सचेत प्रयास किया, लेकिन रामविलास जी इसके बीज को फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना और गिलक्रिस्ट की भाषा नीति से जोड़ते हैं। इस खोज में वे कुछ देर के लिए भूल जाते हैं कि इस विवाद में हिन्दी नवजागरण के अग्रदूतों की भूमिका भी कितनी महत्त्वपूर्ण रही है। दरअसल रामविलास जी बहुत ही तत्परता से ब्रिटिश कूटनीतियों की उस मानसिकता को उद्‌घाटित करना चाहते थे जिसमें हिन्दी जाति को बाँटने का प्रयास' किया जा रहा था। यह चाह इतनी बढ़ जाती है कि रामविलास जी भाषा के मसले को भी 1800 ई. में ही लोकेट करने लगते हैं। दरअसल रामविलास जी भारतीय इतिहास को उन दुर्व्याख्याओं से बाहर निकालना चाहते हैं, जिसको अंग्रेजी राज ने भारतीय सांस्कृतिक विकास में क्षति पहुंचायी थी। इन दुर्व्याख्याओं को हटाकर वे समन्वयकारी भारतीय संस्कृति को उचित सम्मान के साथ स्थापित करना चाहते हैं इस चाहत के क्रम में ही कई जगह उनका चिंतन एकपक्षीय व्याख्याओं का शिकार हो जाता है। उन्होंने लिखा है – "अंग्रेजों ने भाषा के मामले में अपनी साम्प्रदायिक नीति क्रमशः व्यापक बनाई। इसकी पहली मंजिल है फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से लेकर गदर तक। दूसरी मंजिल है गदर के बाद से 1920 में स्वाधीनता आन्दोलन की शुरुआत होने तक। तीसरी मंजिल है सन् 20 के बाद से पाकिस्तान की स्थापना होने तक। और इसकी चौथी मंजिल है पाकिस्तान के बनने से लेकर बंगला देश के अलग स्वाधीन राष्ट्र बनने तक।"[13] मैं इन चारों मंजिलों की व्याख्या यहाँ नहीं प्रस्तुत करके सिर्फ दो मंजिल पर ही अपनी बात रखता हूँ। इसका कारण यह है कि इस दो मंजिल की तस्वीर साफ हो जाने पर रामविलास जी का पक्ष भी सामने आ जाएगा और मेरे अध्ययन का विषय भी स्पष्ट हो जाएगा।

रामविलास जी की पहली मंजिल या कहें कि भाषा–विवाद की शुरुआत वो फोर्ट विलियम कॉलेज से मानते हैं। वे फोर्ट विलियम कॉलेज को जातीय चेतना के निर्माण में एक बाधा के रूप में स्थापित करते हैं। यहाँ सवाल यह उठता है कि अगर भाषायी माध्यमों से जातीय चेतना को ध्वस्त करना अंग्रेजों के चिंतन में 1800 ई. में ही इतना प्रमुख था तो उसी फोर्ट विलियम कॉलेज को निरन्तर दुर्दशा में अंग्रेज क्यों ढकेलते रहे? यहाँ ठहर कर सोचने की जरूरत है कि अगर यह कॉलेज हिन्दी–उर्दू अलगाव के लिए तैयार था, तो उसके शुरुआती दौर में क्यों इसे आर्थिक दुरावस्था में झोंक दिया गया। सन् 1800 ई. में यह कॉलेज बनता है और 1837 तक अदालती भाषा फारसी ही रहती है। क्या कारण है कि 1868 में राजा

साहब के मेमोरेन्डम से यह विवाद शुरू होता है। इन प्रश्नों पर रामविलास जी व्यवस्थित रूप से विचार नहीं करते हैं। शीतांशु ने अपनी पुस्तक 'कम्पनी राज और हिन्दी' में ठीक नोट किया है – "हिन्दी–उर्दू के संबंध में या तो साधारणतया यह मान लिया जाता है कि ये दोनों अलग–अलग भाषाएं हैं या यह कहा जाता है कि कम्पनी ने 'बाँटो और राज करो' की नीति के तहत यह भेद पैदा कर दिया।कॉलेज के सन्दर्भ में यह फॉर्मूला स्वाभाविकतया मस्तिष्क में आ जाता है कि कॉलेज कम्पनी के नियंत्रण में था, कम्पनी 'बाँटो और राज करो' की नीति के तहत कार्य करती थी इसलिए कॉलेज में बाँटो और राज करो की नीति रही होगी और हिन्दी–उर्दू भेद पैदा कर दिया गया होगा। गिलक्रिस्ट और कॉलेज की भाषा–नीति पर चर्चा करते वक्त हम यह देख चुके हैं कि कम्पनी और कॉलेज की व्यवस्था और भाषा–नीति को इस तरीके से हमेशा एक करके देखना कितना भ्रामक है। (विशेष अध्ययन के लिए इसी पुस्तक का एक अध्याय 'कम्पनी और कॉलेज की भाषा नीति में फर्क' देखें) गिलक्रिस्ट की भाषा–नीति में हमें कुछ बिन्दु मिलते हैं जो इस अलगाववाद की व्यापक स्वीकारोक्ति के कारणों की ओर ध्यान ले जाते हैं। ... प्रस्तुत विषय पर रामविलास जी के विवेचन में इस प्रस्थान बिन्दु का अभाव है।"[14] लेकिन इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि गिलक्रिस्ट पहले अंग्रेज हैं जिन्होंने मज़हब के आधार पर भाषा का विभाजन किया और उर्दू का संबंध मुसलमानों से जोड़ दिया।

गदर के बाद हिन्दी–उर्दू विवाद में हिन्दू–मुस्लिम भद्रवर्ग के अपने फायदे और नुकशान क्या थे? इसका जिक्र मैंने शुरू में ही किया है। दरअसल इनके यहाँ सवाल अपने स्वार्थ का अधिक था और जातीयता के उत्थान का कम। असल में हिन्दी और उर्दू दोनों पक्षों की ओर से कुछ भद्रवर्गीय नेता उठ खड़े हुए जो शुद्ध हिन्दी और खालिस उर्दू की रहनुमाई करने का दावा करने लगे। इन भद्रजन नेताओं ने अपने–अपने राजनैतिक और सामाजिक स्वार्थों के लिए बहुसंख्यक जनता की भाषा को तो अतिवाद छोरों पर पहुँचा दिया। जनता की भाषा को उन्हीं के लिए दुरूह बना दिया। आज भी सरकारी दफ्तरों में हिन्दी के इस प्रभाव को देखा जा सकता है।

जब सन् 1900 में संयुक्त प्राप्त के गवर्नर मैकडॉनल ने हिन्दी को उर्दू के बराबर दर्जा देने का ऐलान किया तो सर सैयद के उत्तराधिकारी नवाब मोहसिन–उल–मुल्क ने विरोध की अगुवाई की। अब सवाल यह उठता है कि हिन्दी को उर्दू के बराबर दर्जा देने से उस समय उर्दू को कौन सा खतरा था। किस खतरे से बचाव के लिए मुहिम चलाई जा रही थी? नामवर

सिंह ने हंस, मार्च 1887 में लिखे एक लेख 'उर्दू का सवाल : बासी भात में खुदा का साझा' में नोट किया है – "इस आन्दोलन (उर्दू के लिए चल रहे आन्दोलन) का नेतृत्व 'अलीगढ़ आन्दोलन' कर रहा था जो मुख्यतः उत्तर भारत के मुस्लिम नवाबों, ताल्लुकेदारों, जमीदारों और सरकारी अफसरों के संगठित प्रयास का फल था। यह एक मनगढंत 'मिथक' है कि उत्तर भारत के मुसलमान पिछड़े हुए थे। पाल आर ब्रास ने अपनी पुस्तक 'लैंग्वेज रिलिजन एंड पालिटिक्स इन नार्थ इंडिया (1974)' में तथ्यों और आँकड़ों के साथ प्रमाणित किया है कि संयुक्त प्रान्त में कम–से–कम1859 से 1931 के बीच मुसलमान हिन्दुओं से किसी भी तरह पिछड़े न थे, यही नहीं बल्कि नगर–निवास, साक्षरता, अंग्रेजी शिक्षा, सरकारी नौकरी आदि क्षेत्रों में वे कहीं अधिक बेहतर हालत में थे। यह मुस्लिम सामन्त वर्ग स्वभावतः अपनी सुविधाओं और अधिकारों की रक्षा के लिए चिन्तित था। मुस्लिम अलगाववाद इस अधिकार रक्षा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति थी। फारसी बहुल उर्दू की हिफ़ाजत अलगाववाद का एक अंग था। आकस्मिक नहीं है कि जिस 'अलीगढ़ आन्दोलन' ने 1906 में मुस्लिमलीग को जन्म दिया, वही उर्दू की हिमायत में भी अग्रणी थां इसीलिए आगे चलकर मुस्लिम लीग ने इस्लाम और पाकिस्तान के साथ उर्दू को भी अपने नारे का अंग बना लिया।"[15] इस सन्दर्भ में इसी लेख में नामवर जी बाबा–ए–उर्दू डॉ. मौलवी अब्दुल हक के भाषण का जिक्र करते हैं, जो 1961 की 15 फरवरी को ग़ालिब के 92वें जन्मदिन पर करांची में उन्होंने दिया था। वे लिखते हैं – "पाकिस्तान को न जिन्ना ने बनाया, न इकबाल ने, पाकिस्तान बनाया उर्दू ने। मुसलमानों और हिन्दुओं के विद्वेष का मुख्य कारण उर्दू थी। दो राष्ट्रों का सिद्धान्त और इस तरह के सारे मतभेद उर्दू से पैदा हुए थें इसलिए पाकिस्तान को उर्दू का एहसानमंद होना चाहिए।"[16]

इस सन्दर्भ में देखा जाए तो द्विवेदी युग में रचनाकारों ने हिन्दी–उर्दू को नज़दीक लाने की कोशिश की। आगे चलकर इस कोशिश को 'हिन्दुस्तानी' आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। खुद महात्मा गाँधी ने इस हिन्दुस्तानी आन्दोलन का प्रतिनिधित्व किया। इस युग के लेखक 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' से आगे निकल कर हिन्दी भाषा का प्रचार कर रहे थे। उनके यहाँ हिन्दी से प्रेम और उसके उत्थान की भावना जरूर दिखती है, लेकिन उर्दू के प्रति उनका दुराग्रह नहीं है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है – "जिस काम में झगड़े की सम्भावना हो उस पर दोनों पक्षों को खुले दिल से और भी अधिक विचार करना चाहिए। बिना विचार किये झगड़े की जड़ ही न जायगी। उसका भय सदा बना ही रहेगा। हिन्दी का प्रचार किसी के दबाने से दब नहीं सकता। अतएव उसका सामना करना ही चाहिए और

आपस में फैसला कर ही लेना चाहिए। हजारों हिन्दू–उर्दू लिखते–पढ़ते हैं। पर मुसलमान हिन्दी के नाम से कोसों दूर भागते हैं। यह कैसी उदारता है। ऐसे बर्ताव से झगड़ा उत्पन्न होता है बढ़ता है, दबता या घटता नहीं। न हमें उर्दू से नफरत है और न हम उसे सीखना ही छोड़ना चाहिते हैं, पर अपने सुभीते के लिए हिन्दी का प्रचार अवश्य चाहते हैं।"[17] (कौंसिल में हिन्दी)

यहाँ द्विवेदी की धारणा स्पष्ट दिखती है। वे उर्दू से किसी भी प्रकार से नफरत नहीं करते हैं। उनके लिए हिन्दी का प्रचार–प्रसार हो यह बात महत्त्वपूर्ण होती है, लेकिन उर्दू को दबाकर उसे अपदस्त करके हिन्दी को विस्तृत किया जाए ऐसा विचार उनके मन में नहीं था। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसा विचार प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट जैसे हिन्दी प्रेमियों और सरसैयद अहमद, नवाब मोहसिन आदि भद्रवर्गीय मुस्लिम उर्दू प्रेमियों का था, उससे अलग द्विवेदी जी सोचते थे। जिस उर्दू को सिर्फ मुसलमानों की भाषा बनाए जाने की कवायद की जा रही थी उस विचार को तोड़ते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है – "यह हम मानते हैं कि मुसलमानों ही की बदौलत उर्दू अमल में आई है। पर उसके उन्नायक एक मात्र मुसलमान ही नहीं। बहुत पुराने जमाने से हिन्दू उर्दू और फारसी सीखते आए हैं। उनकी लिखी हुई सैकड़ों पुस्तकें मौजूद हैं अब तक भी कितने ही स्कूलों और कॉलेजों में उर्दू–फारसी पढ़ाने वाले अध्यापक तक हिन्दू हैं। पंजाब और संयुक्त प्रान्त से उर्दू के कईयों अखबार ऐसे निकलते हैं जिनके लेखक और सम्पादक हिन्दू ही हैं। इस दशा में मुसलमानों को ही उर्दू की उन्नति का कारण समझना भ्रम के सिवा और ही कुछ हो सकता है।"[18] द्विवेदी जी के यहाँ उर्दू को लेकर वह तल्ख़ता नहीं है जैसा कि पीछे के साहित्यकारों में दिखता है। हाँ कुछ जगह द्विवेदी जी के अन्तर्विरोध जरूर दिख पड़ते हैं। 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के बारे में लिखते हुए नोट करते हैं – "कुछ समय से विचारशील जनों के मन में यह बात आने लगी है कि देश में एक भाषा और एक लिपि होने की बड़ी जरूरत है, और हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि ही इस योग्य है। हमारे मुसलमान भाई इसकी प्रतिकूलता करते हैं। वे विदेशी फ़ारसी लिपि और विदेशी भाषा के शब्दों से लबालब भरी हुई उर्दू को ही इस योग्य बतलाते हैं। परन्तु वे हमसे प्रतिकूलता करते किस में नहीं? सामाजिक, धार्मिक, यहाँ तक कि राजनैतिक विषयों में भी उनका हिन्दुओं से 36 का संबंध है। भाषा और लिपि के विषय में उनकी दलीलें ऐसी कुतर्कपूर्ण, ऐसी निर्बल, ऐसी सदोष और ऐसी हानिकारक हैं कि कोई भी न्यायनिष्ठ और स्वदेशप्रेमी मनुष्य उससे सहमत नहीं हो सकता। बंगाली, गुजराती, मराठी और मदरासी तक जिस देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा को देशव्यापी होने योग्य समझते

हैं वह अकेले मुट्ठी भर मुसलमानों के कहने से अयोग्य नहीं हो सकती। आबादी के हिसाब से मुसलमान इस देश में हैं ही कितने? फिर थोड़े से होकर भी जब वे निर्जीव दलीलों से फारसी लिपि और उर्दू भाषा की उत्तमता की घोषणा देंगे तब कौन उनकी बात सुनेगा?"[19] यहाँ द्विवेदी जी का हिन्दी के प्रति मोह तो दिखता ही है साथ ही साथ तल्खता भी देखने को मिलती है। सवाल यह है कि हिन्दी–उर्दू की समस्या को विश्लेषित किस प्रकार से किया गया है। क्या एक भाषा की दो लिपियाँ नहीं हो सकती हैं? क्या दो लिपियों में लिखे जाने से भाषा कमज़ोर हो जाती है। क्या दो लिपि जानना किसी जातीयता के खण्डन का सूचक है? अगर ऐसा नहीं है तो यह विवाद विशुद्ध रूप से राजनैतिक था और सत्ता में अपने प्रभुत्व को लेकर लड़ा गया था।

रामविलास शर्मा ने भाषा के सवाल को लेकर लिखा है – "साम्प्रदायिकता चाहे हिन्दुओं की हो, चाहे मुसलमानों की, वह भाषा को धर्म के साथ जोड़ती है और इसके जातीय आधार को अस्वीकार करती है। इसलिए वह चाहे जितना राष्ट्रीय एकता की बात करे, वह अपनी नीति से राष्ट्रीय विघटन को ही बढ़ावा देती है। ... धर्म को राष्ट्रीय एकता का आधार बनाने पर एक मंजिल ऐसी आती है जब यह आधार टूट जाता है और टूटे बिना रह नहीं सकता। तब यदि राष्ट्रीय एकता का पुष्ट आधार नहीं है, तो यह राष्ट्रीय एकता निराधार होकर टूटेगी ही।"[20] भारत के सन्दर्भ में यही हुआ। आगे चलकर पाकिस्तान के सन्दर्भ में भी यही हुआ। पहले धर्म के आधार पर भाषा की लड़ाई लड़ी गई और हिन्दुस्तान पाकिस्तान का बटवारा हुआ। फिर पाकिस्तान से बंगलादेश भाषा के आधार पर अलग हो गया। यहाँ सबसे पहले सवाल है भाषा को धर्म से अलगाने की। जातीयता के निर्माण में जब तक भाषा को धर्म के साथ जोड़ा–जाता रहेगा तब तक व्यापक जातीयता का आधार नहीं बन सकता है। यह बात सहज स्वीकार लेनी चाहिए कि किसी भी भाषा की अगर दो लिपियाँ हैं तो, वह उस भाषा के समृद्धि की सूचक है। द्विवेदी युगीन अधिकांश रचनाकार दोनों लिपियाँ जानते थे। 'प्रेमचन्द' इस बात के सबसे उम्दा प्रमाण हैं। प्रेमचन्द अगर भाषा के जादूगर बन पाएँ तो इसमें सबसे बड़ा योगदान उनके जानकारी के साथ–साथ लिपियों का भी है। इस युग में पद्मसिंह शर्मा ने मीर, गालिब आदि कवियों के शायरी के साथ बिहारी के दोहों को जोड़ा। उनके सन्दर्भ को व्याख्यायित किया। आगे प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा भी हिन्दी–उर्दू के विवाद को मिटाने की भरपूर कोशिश की गई।

आज भी जब हम हिन्दी–उर्दू विवाद पर सोचते हैं तो द्विवेदी जी का लिखा हुआ सहज ही याद आ जाता है। उन्होंने लिखा है – "संगठन की महिमा जानकर भी हमलोग,

भारतवासी, दुर्भाग्य तथा अन्य कई कारणों से भी, फूट का शिकार हो रहे हैं। हिन्दू मुसलमानों से फूटकर अलग रहना चाहते हैं, मुसलमान हिन्दुओं से। यहीं तक नौबत रहती तो बात न बिगड़ती। यहाँ तो एक धर्मावलंबी आपस में लड़े–झगड़ते और एक दूसरे का सिर फोड़ते हैं। शिया–सुन्नी की नहीं पटती, ब्राह्मण–अब्राह्मण की नहीं पटती, शाक्त–शैव की नहीं पटती। इस पारस्परिक संघर्षण और फूटमें अपनी ही नहीं, सारे देश और समाज की हानि हो रही है। इधर हमारी मूर्खता और दुर्बलता की बदौलत चैन की वंशी और लोग बचा रहे हैं।"[21] आज भी साम्प्रदायिक शक्तियों द्वारा हिन्दी को हिन्दू से और मुस्लिम को उर्दू से जोड़ने की कवायद लगातार चल रही है। जरूरत है इन साम्प्रदायिक शक्तियों के खिलाफ सांस्कृतिक स्तर पर एक व्यापक लड़ाई लड़ने की। भाषा को धर्म या मजहब से अलग करने की। हिन्दी–उर्दू का विवाद केवल इतिहास में बार–बार जाने से हल नहीं होगा। इतिहास इतनी ही मदद कर सकता है कि वह अपने को दुहराने से रोके। वास्तविक रूप में समस्या का समाधान भविष्य से सामना करने में ही है। यह ध्यान रहे कि यहाँ सिर्फ अपने भविष्य की चिंता न हो, बल्कि उनके भविष्य का भी जो 1947 से पहले इतिहास से ही बंचित थे। इस भविष्य की चुनौतियाँ समाज की जिन शक्तियों को एक साथ मिलकर लड़ने में बाधा पहुँचा रही हैं उसका डटकर सामना करना होगा। यदि इस लड़ाई में भाषा या लिपि दीवार बनती है तो उसे तोड़ने का साहस करना होगा। नामवर जी ने ठीक ही लिखा है – आत्मरक्षा रक्षात्मक लड़ाई नहीं, उस साहसिक अभियान में है जिसका लक्ष्य भविष्य की विजय है।[22] यह विजय सांस्कृतिक स्तर पर एकजुट होकर इन साम्प्रदायिक शक्तियों के खिलाफ लड़ना होगा। ठीक वैसे ही जैसे द्विवेदी युगीन रचनाकार साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ रहे थे।

5.2 खड़ी बोली और ब्रजभाषा का विवाद

उन्नीसवीं सदी के हिन्दी–उर्दू विवाद के अलावा ब्रजभाषा और खड़ी बोली का विवाद भी बना हुआ था। यह विवाद कविता के क्षेत्र में छायावाद के दौर तक बना रहां इस विवाद को लेकर ही छायावाद के प्रसिद्ध कवि पंत ने अपनी पुस्तक 'पल्लव' की लम्बी भूमिका लिखी। उन्नीसवीं सदी में भारतेन्दु से लेकर उस दौर के कई बड़े लेखकों का विचार था कि खड़ी बोली कविता के लिए मुकम्मल नहीं है। खड़ी बोली में कविता हो ही नहीं सकती। बावजूद इसके उन सबो ने खड़ी बोली में कविताएँ लिखी। उस समय खड़ी बोली का आन्दोलन करने वाले बिहार के बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री थे जो ब्रजभाषा को 'गँवारू बोली' मानते थे। वे ब्रजभाषा की कविता को हिन्दी की कविता नहीं मानते थे। इन्होंने भारतेन्दु की हिन्दी की बारह शैलियों की तर्ज पर खड़ी बोली की पाँच शैलियाँ बनाई। सरस्वती : सितम्बर 1902 ई, पृ. 292 पर महावीरप्रसाद द्विवेदी ने एक दोहा के साथ खत्री का चित्र लगाया। इस चित्र में पाँच सरों के साथ खत्री जी को दिखाया गया है। खड़ी बोली पद्य का जो पाँच भेद खत्री जी ने किया है उन पाँचों भेदों को ऊपर अंकित किया गया है। वे पाँच भेद इस प्रकार हैं –

1. मुन्शी शैली
2. मौलवी शैली
3. पण्डित शैली
4. यूरेशियन शैली
5. यूरोपियन शैली

और दोहा इस प्रकार है –

दो पैरों पर एक धड़, फिर सिर पाँच अनूप।
मुझ पँचरंगे पद्य का, देखो सुघर स्वरूप।।

इन पाँचों शैलियों में खत्री जी 'मुंशी जी की हिन्दी को खड़ी बोली पद्य के लिए सबसे उपयुक्त मानते थे। उन्होंने 'मुंशी जी की हिन्दी' के बारे में लिखा है – "मुंशी जी की हिन्दी पण्डित जी और मौलवी साहब की हिन्दी के बीच की हिन्दी है और इसको यूरोपियन विद्वान हिन्दुस्तानी कहते हैं।"[23] अयोध्याप्रसाद खत्री के 'खड़ी बोली आन्दोलन' का खूब विरोध किया गया। यह विरोध ऐसा था कि खड़ी बोली पद्य की भाषा स्वीकार लेने के बावजूद भी इसका श्रेय खत्री जी को नहीं दिया गया। अब तक लिखे गए हिन्दी साहित्य के अधिकांश इतिहासों में खत्री जी के बारे में की गई टिप्पणियों को आप देख सकते हैं नजीर के तौर पर आप

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इन पंक्तियों को देखें – मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री खड़ी बोली का झंडा लेकर उठे। ... इसी प्रकार खड़ी बोली के पक्ष में जो राय मिलती, वह भी उसी पोथी में दर्ज होती जाती थी। धीरे–धीरे एक बड़ा पोथा हो गया। जिसे बगल में दबाए वे जहाँ कहीं हिन्दी के सम्बन्ध में सभा होती जा पहुँचते। यदि बोलने का अवसर न मिलता या कम मिलता तो वे बिगड़कर चल देते थे।"[24] शुक्ल जी ने अपने इतिहास में जो भी आठ दस पंक्तियां खत्री जी पर लिखी हैं, उनमें शुक्ल जी का व्यंग्य और उनकी जिद साफ–साफ दिखाई पड़ती है। खत्री जी को खड़ी बोली पद्य के लिए किए गए आन्दोलनों और प्रयासों का सार्थक विवेचन हिन्दी साहित्य में नहीं हो पाया है। इसका कारण संभवतः यह भी था कि खत्रीजी ने 'एक अगर वाले के मत पर एक खत्री की समालोचना' शीर्षक पैम्पलेट में लिखा था कि भारतेन्दु को शब्दशास्त्र का कुछ भी ज्ञान न था। इस कारण भी भारतेन्दु को मानने वाले खत्री जी से चिढ़ते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि शुक्ल जी से लेकर बाद के इतिहासकारों ने भी जरूरत नहीं समझी की खत्री जी के आन्दोलन को ठीक ढंग से विश्लेषित किया जाए। अगर कुछ कहा भी जाता है तो सिर्फ इतना कि वे खड़ी बोली का आन्दोलन कर रहे थे तथा इस आन्दोलन में ब्रजभाषा के विरोध में खड़ी बोली का पक्ष ले रहे थे। नलिन विलोचन शर्मा ने ठीक ही नोट किया है कि – "खत्री जी की उपेक्षा हिन्दी के प्रेमियों और विद्वानों ने उनके जीवन–काल में ही की और बाद में भी उनकी हिन्दी के लिए की गई सेवाओं के महत्व को स्वीकृति नहीं मिली। ... इसका कारण केवल यह नहीं था कि ब्रजभाषा पद्य के प्रेमी खत्री जी के खड़ी बोली के पद्य के आग्रह से क्षुब्ध थे, या कि उनकी शास्त्रार्थवाली मनोवृत्ति अनायास विरोध का वातावरण उत्पन्न करती थी। वास्तविक कारणों में से प्रमुख यह प्रतीत होता है कि हिन्दी की जिस 'स्टाइल' को वह आदर्श हिन्दी घोषित करते थे, वह राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' की हिन्दी या महात्मा गाँधी तक की हिन्दुस्तानी बनने पर भी, हिन्दी–प्रेमियों को कठोर बनने के लिए बाध्य करती रही। खड़ी बोली में पद्य–रचना हो, इसके लिए खत्री जी ने जिस आन्दोलन का नेतृत्व किया था, उसके प्रबल समर्थकों में एक पं. श्रीधर पाठक ने भी खत्री जी की इस 'स्टाइल' की हिन्दी के विरुद्ध विचार व्यक्त करना आवश्यक समझा था।' कटु होने पर भी वस्तुस्थिति यह है कि खड़ी बोली पद्य के लिए खत्री जी का आग्रह ब्रजभाषा पद्य के प्रति घृणा में परिणत हो गया था, जिसके फलस्वरूप उनका दूरदर्शिता–पूर्ण भाषा–आन्दोलन खड़ी बोली के समर्थकों के लिए भी कुछ अंशों में अग्राह्य सिद्ध हुआ।"[25] ब्रजभाषा के प्रति तल्ख़ता खत्री जी के विरोध के कारणों में एक था।

अब सवाल यह है कि स्वयं खड़ी बोली में कविता कर रहे लोग खत्री जी का विरोध क्यों कर रहे थे? क्या उन लोगों का ब्रजभाषा के प्रति आग्रह इसलिए था कि ब्रजभाषा की काव्य परम्परा लम्बी और समृद्ध है, जबकि खड़ी बोली पद्य की कोई परम्परा विकसित नहीं हो पाई है? जहाँ तक खड़ी बोली कविता की परम्परा का सवाल है स्वयं भारतेन्दु उर्दू (जो खड़ी–बोली की एक शैली है) में कविता लिख रहे थे। उन्होंने 1882 ई. में हंटर कमीशन के सवालों का जवाब देते हुए खुद अपना परिचय संस्कृत, हिन्दी और उर्दू के कवि के रूप में दिया था। ध्यान से देखें तो खड़ी–बोली विरोध का एक कारण यह भी दिखता है कि खड़ी–बोली में न चाहते हुए भी उर्दू (फारसी–अरबी) के शब्द आ जाएँगे। इसके विपरीत ब्रजभाषा इस प्रयोग से बची हुई थी। ब्रजरत्नदास के 'खड़ी–बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस ओर संकेत किया गया है। उन्होंने लिखा है – "यद्यपि भारतेन्दु जी के काल ही में यह प्रश्न उठा था कि गद्य तथा पद्य की भाषा एक होनी चाहिए। पर उस समय प्रमुख साहित्यकारों ने यही निश्चय किया कि पद्य में खड़ी बोली के उपयोग से सरसता नहीं आती और उर्दू शब्दों की भरमार हो जाने से हिन्दी पद का अभाव सा हो जाता है।"[26]

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने भी नागरी प्रचारिणी सभा के गृहप्रवेश के मौके पर सुधाकर द्विवेदी द्वारा ब्रजभाषा में दिए गए 'एड्रेस' पर खत्री जी की प्रतिक्रिया का जवाब देते हुए कहा था – "बाबू साहब को उन कठिनाइयों का ज्ञान न था जो खड़ी बोली में एड्रेस देने पर सभा को पड़ती, क्योंकि सबके सामने पॉलिसी में 'सरल भाषा के पक्षपाती' बनने वालों को निखालिस उर्दू शब्द काम में लाने पड़ते और काशी नाम को कुछ गौरव से रहित करना पड़ता।"[27] चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की यह टिप्पणी ब्रजरत्नदास की उस बात को और साफ कर देता है जिसमें उन्होंने कहा है कि खड़ी बोली में पद्य रचना का विरोध इसलिए हो रहा था, क्योंकि उसमें उर्दू के शब्दों की अधिकता आ जाएँगी।

खत्री जी का खड़ी बोली का आन्दोलन सिर्फ खड़ी बोली को कविता का माध्यम बनाने का नहीं था। हकीकत तो यह है कि उनका आन्दोलन उस दौर में हिन्दी भाषा के स्वरूप–निर्धारण की नीति में बुनियादी परिवर्तन लाने का आन्दोलन था। जिस मुन्शी 'स्टाइल' की खत्री जी बात कर रहे थे वह और कुछ नहीं, बल्कि 'हिन्दुस्तानी' ही थी, जिसमें न तो अरबी–फारसी के भारी भरकम शब्द आते थे और न ही संस्कृत के। उनका मानना यह था कि हिन्दी वाले ब्रजभाषा और संस्कृत का मोह छोड़ दें और उर्दू वाले अरबी–फारसी का वह अपने भाषा आन्दोलन से एक ऐसा मार्ग तैयार करना चाहते थे जिसमें 'हिन्दुस्तानी' भाषा

पर दोनों पक्षों में (हिन्दू और मुसलमान में) एक आम सहमति बनाई जा सके और हिन्दू–मुसलमानों के अलगाव को रोका जा सके। निस्संदेह उस दौर के तमाम लेखकों ने इस अलगाववादी रवैये से मुक्त सृजन किया। इसमें वे लोग भी शामिल थे जिसका झुकाव ब्रजभाषा और संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के तरफ था। उदाहरण स्वरूप आप भारतेन्दु का प्रसिद्ध नाटक 'अंधेर नगरी' तथा उनके यात्रा–वृत्तान्त और बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र के कुछ–एक निबंध देख सकते हैं। इन लेखकों के प्रति पूरा सम्मान रखते हुए हमें इस सच्चाई को भी स्वीकार करनी चाहिए कि उस दौर में भाषा के मामले पर ऐसा 'सेक्युलर' लेखन की अपेक्षा विवादास्पद लेखन की अधिकता थी। आगे चलकर इसका नतीजा भी वही हुआ जिसकी तैयारी ब्रिटिश सरकार वर्षों से कर रही थी।

रामविलास शर्मा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण में भारत की भाषा–समस्या वाले अध्याय में ब्रजभाषा और खड़ी–बोली का अन्तर्विरोध बताते हुए लिखा है – "जैसे–जैसे हिन्दी प्रदेश में व्यापारी पूंजीवाद का प्रसार हुआ, इंग्लैण्ड और यूरोप के लिए यहाँ कपड़ा तैयार किया जाने लगा, कातने–बुनने के पुराने साधन बने रहने पर भी उत्पादन मुनाफे के लिए होने लगा, विदेश के अलावा भारत के ही अन्य प्रदेशों से व्यापार बढ़ा, वैसे–वैसे बड़ी–बड़ी मंडियां आबाद हुईं, जनपदों के बीच बड़े–बड़े शहर उठ खड़े हुए और इन शहरों की भाषा ब्रजभाषा नहीं खड़ी बोली हिन्दी थी। विभिन्न जनपदों की जनता को नये आर्थिक विकास के साथ जो भाषा मिल रही थी, पुराना अलगाव दूर करके एक नयी जाति के गठन में साधन बन रही थी, वह खड़ी बोली थी। स्वभावतः जनपदीय उपभाषाएँ इस जातीय भाषा की तुलना में गौण स्थान ग्रहण करती जा रही थीं। ... भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पहले हिन्दी गद्य का यथेष्ट विकास हो चुका था। उन्होंने हिन्दी साहित्य को नयी राष्ट्रीय और जनवादी दिशा की ओर प्रेरित किया। उनके समय में अनेक लेखक अनुभव करने लगे थे कि गद्य की भाषा खड़ी बोली हो और पद्य की भाषा ब्रज हो, यह स्थिति हानिकारक है। और ज्यादा दिन चलने की नहीं, किन्तु उन्हें लगता था कि ब्रजभाषा की मिठास खड़ी बोली में नहीं आ सकती, इसीलिए गद्य में खड़ी–बोली का व्यवहार हो और पद्य में ब्रजभाषा का। अनेक लेखकों ने इस नीति का विरोध किया किन्तु उनका प्रयत्न सफल न हुआ। साहित्य में ब्रजभाषा की जगह हिन्दी को प्रतिष्ठित करने का काम द्विवेदी जी ने किया।"[28]

द्विवेदी जी खुद ब्रजभाषा में कविता लिखते थे, लेकिन उन्हें यह पता था कि हिन्दी अगर केवल गद्य की भाषा रही तो उसका व्यापक विकास नहीं हो सकता है। उसे व्यापक

और विस्तृत बनाना है तो उसको पद्य की भाषा भी बनानी पड़ेगी। इस कार्य को द्विवेदी जी ने चुनौती की तरह स्वीकार किया। आपने तो खड़ी–बोली में कविताएँ लिखी ही साथ–ही–साथ अपने समकालीन लेखकों से भी खड़ी बोली में कविता लिखने का आग्रह किया और लिखवाया भी। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और मैथलीशरण गुप्त की कविताई इस बात की प्रमाण है। द्विवेदी जी का मानना था "गद्य और पद्य की भाषा पृथक न होनी चाहिए। यह एक हिन्दी ही ऐसी भाषा है जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य–समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य–पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए। गद्य का प्रचार हिन्दी में थोड़े दिनों से हुआ है। पहले गद्य न था, भाषा का साहित्य केवल पद्यमय था। गद्य साहित्य की उत्पत्ति के पहले पद्य में ब्रजभाषा ही का सार्वदेशिक प्रयोग होता था। अब कुछ अन्तर होने लगा है। ... जो लोग हिन्दी ही बोलते हैं, और हिन्दी ही के गद्य–साहित्य की शुश्रुषा करते हैं उनके पद्य में ब्रज की भाषा का आधिपत्य बहुत दिनों तक नहीं रह सकता।"[29] द्विवेदी जी को पूरा विश्वास था कि आगे आने वाले दिनों में गद्य की तरह पद्य में भी खड़ी बोली प्रतिष्ठित होगी। वह इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते थे कि गद्य में एक भाषा और पद्य में दूसरी भाषा का प्रयोग हिन्दी भाषा (खड़ी–बोली) के विकास के लिए किसी भी प्रकार से उचित नहीं है। हकीकत भी यही है कि जब तक भाषा का यह अन्तर्विरोध बना रहेगा व्यापक जातीयता का निर्माण नहीं हो सकता है। हिन्दी उर्दू का अपना अन्तर्विरोध तब तक खत्म नहीं होगा जब तक स्वयं अपने भीतर का गद्य–पद्य वाला अन्तर्विरोध दूर न हो। भाषायी अन्तर्विरोध को धार्मिकता से न जोड़कर, जीवन के अनुकूल और ग्राह्य भाषा निर्माण की प्रक्रिया जब चलेगी, तभी मुकम्मल जातीयता का निर्माण सम्भव हो सकता है। इस दृष्टि से देखें तो महावीरप्रसाद द्विवेदी, अयोध्याप्रसाद खत्री, श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' मैथलीशरण गुप्त इत्यादि साहित्यकारों ने जो भूमिका खड़ी–बोली को प्रतिष्ठित करने में अदा की उसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

फरवरी–मार्च 1903 की सरस्वती में 'हिन्दी भाषा और उसका साहित्य' नामक द्विवेदी जी ने एक निबंध लिखा। इस निबंध में उन्होंने नोट किया – "कुछ दिन से हिन्दी के लेखकों का ध्यान पद्य की भाषा की ओर गया है। अब तक हिन्दी का पद्य ब्रजभाषा में ही था। अब बोलचाल की भाषा में भी कविता होने लगी है। इस विषय की ओर पहले–पहल बाबू अयोध्याप्रसाद का ध्यान गया। बोलचाल की भाषा में कविता अवश्य होनी चाहिए। कोई कारण नहीं देख पड़ता कि हम लोग बोलैं एक भाषा में और कविता करैं दूसरी भाषा में। बातचीत के समय जो जिस भाषा में अपने विचार प्रकट करता है, वह यदि उसी भाषा में

कविता भी करे तो और भी उत्तम हो। ब्रजभाषा बहुत काल से कविता में प्रयोग होती आई है। अतएव एक बारगी में उसका परित्याग नहीं किया जा सकता। क्रम–क्रम से बोलचाल की भाषा में गद्य का प्रसार होना उचित है। यदि नए प्रकार की कविता से लोगों का भलीभाँति मनोरंजन हुआ तो, काव्य में ब्रजभाषा का प्रचार किसी दिन आप ही उठ जावैगा। और सम्भव है कि शीघ्र ही किसी दिन ऐसा हो, क्योंकि एक अथवा दो जिले की भाषा पर देश भर के निवासियों का प्रेम बहुत दिन तक नहीं रह सकता।"[30] यहाँ स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ब्रजभाषा के प्रति दुराग्रही नहीं हैं जैसे कि खत्री जी है।, लेकिन हिन्दी भी पद्य की भाषा बने इसके लिए वह लगातार प्रयास करते रहे हैं। यह प्रयास द्विवेदी जी के धैर्य का प्रमाण तो है ही : साथ ही साथ उस मान्यता का खंडन भी है जिसमें अन्य साहित्यकारों का मानना था कि 'खड़ी बोली में सरस कविता हो ही नहीं सकती है।'

द्विवेदी जी के समय में ही ब्रजभाषा को साहित्य में प्रतिष्ठित रखने के अनेक प्रयत्न हुए। कहीं भाषा की कोमलता और सरसता की दुहाई दी गई तो कहीं पुरस्कार बांटा गया। दुलारेलाल भार्गव को ब्रजभाषा में लिखी हुई दोहावली पर 2000 रुपयों का 'देव' पुरस्कार दिया गया। रामविलास जी ने इस प्रकरण का जिक्र करते हुए लिखा है – "दुलारेलाल भार्गव लखनऊ में रहते थे, खड़ी–बोली हिन्दी के मुख्य प्रकाशक थे, देव पुरस्कार देने वाले ओरछा के राजा थे और ओरछा बुन्देलखण्ड में है। ओरछा नरेश की सहायता से बनारसीदास चतुर्वेदी ने जनपद–आन्दोलन चलाया था जिसकी एक माँग यह भी कि बुन्देलखण्ड को संयुक्त–प्राप्त से अलग करके एक नया सूबा बनाया जाए। यह अलगाव की माँग हिन्दी जनता की जातीय एकता में वैसे ही बाधक थी जैसे पद्य में ब्रजभाषा का व्यवहार। सामन्ती तत्व और हिन्दी साहित्य में रीतिवादी रूढ़ियाँ इस विघटन को बढ़ावा दे रही थीं।"[31] यह सवाल केवल ब्रजभाषा का नहीं है, बल्कि अधिकतर जनपदीय भाषाओं के साथ उसकी अस्मिता से जुड़ा हुआ है। जातीयता का विकास जरूरी है, लेकिन इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आप इस जातीयता के विकास की भावधारा में इतना न बह जाएँ कि जनपदीय बोलियों का कोई अस्तित्व ही न रह जाए। मेरा भी मानना है कि हिन्दी भाषा का विकास होना चाहिए। उसका संबंध हिन्दी प्रदेश के जातीयता से जुड़नी चाहिए। उसकी शब्द सम्पदा विशाल होनी चाहिए, लेकिन हिन्दी प्रदेश की जितनी भी जनपदीय और लोक भाषाएँ हैं उसका अस्तित्व बना रहे। यह भी ध्यान रखना हमारी जिम्मेदारी है। यदि हिन्दी का अस्तित्व जनपदीय बोलियों को खत्म करके बनता है तो किसी भी स्तर पर हिन्दी के अस्तित्व को स्वीकार करने की जरूरत नहीं है।

द्विवेदीयुग के प्रमुख आलोचक कृष्ण बिहारी मिश्र के यहाँ ब्रजभाषा के प्रति विशेष आग्रह दिखाई पड़ता है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'देव और बिहारी' की भूमिका में 'ब्रजभाषा ही कविता के लिए अच्छी है', इसको लेकर अनेक तर्क दिए हैं। उसकी कोमलता, सुकुमारता, मधुरता इत्यादि पर विशेष बल इन्होंने दिया है। ब्रजभाषा को संगीत तथा चित्रकला से जोड़ते हुए काव्य के लिए उपयुक्त माना है। उन्होंने इस बात की ओर संकेत तो जरूर किया है कि – 'राष्ट्रीयता के विचार से खड़ी बोली में कविता होनी चाहिए' लेकिन भ्रामक उदाहरण देकर या दुर्बलता का कारण बताकर ब्रजभाषा की कविता का अंत करना ठीक नहीं है। मिश्र जी के लिए अपनी कोमलता और मधुरता के कारण ब्रजभाषा ही कविता के लिए उपयुक्त है। उन्होंने लिखा है – "हिन्दी कविता का आरम्भ जिस भाषा में हुआ, वह चंद की कविता पढ़ने से जान पड़ता है। पृथ्वीराज–रासो का अध्ययन हमें प्राकृत को हिन्दी से अलग होते दिखलाता है। इसके बाद ब्रजभाषा का प्रभाव बढ़ा। प्राकृत की सुकुमारता और मधुरता ब्रजभाषा के बाँटे पड़ी थी, वरन् इसमें उसका विकास उससे भी बढ़कर हुआ। ऐसी भाषा कविता के सर्वथा उपयुक्त होती है, यह ऊपर प्रतिपादित हो चुका है। निदान हिन्दी–कविता का वैभव ब्रजभाषा द्वारा ही बढ़ता गया। समय और आश्रयदाताओं का प्रभाव भी इस ब्रजभाषा कविता का कारण माना जा सकता है। पर सबसे बड़ा आकर्षण भाषा की मधुरता का या और है।"[32] उनका मानना है कि ब्रजभाषा में सभी लोगों ने कविताएँ लिखी हैं। चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान। (संस्कृत लिखने वाले पंडित भी ब्रजभाषा की मधुरता के कारण इसकी तरफ आकर्षित हुए)। हकीकत तो यह है कि मिश्र जी ब्रजभाषा की मधुरता पर इतना मोहित थे कि उन्हें उसके अलावा और किसी भी भाषा में उतना मिठास और मधुरता दिखता ही नहीं था।

उर्दू और ब्रजभाषा की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा है – "उर्दू और ब्रजभाषा में से किसमे अधिक मधुरता है, इसका निर्णय भली–भांति हो चुका है। नर्तकी के मुँह से बीसों उर्दू में कही हुई चीजें सुनकर भी ब्रजभाषा में कही हुई चीज को सुनने के लिये ख़ास उर्दू–प्रेमी कितना आग्रह करते हैं, यह बात किसी से छिपी नहीं। शृंगार–लोलुप श्रोता ब्रजभाषा की कविता इस कारण नहीं सुनते हैं कि वह अश्लील होने के कारण आनंद देगी, वरन् इस कारण कि उसमें एक सहज मिठास है, जिसको वे उर्दू की, शृंगार से सराबोर, कविता में ढूँढने पर भी नहीं पाते।"[33] ध्यान से देखें तो यहाँ मिश्र जी जिस बात को नकार रहे हैं प्रकारान्तर से वही बात निकलकर आती है। ब्रजभाषा की कविता कोमलता से अधिक शृंगारिक प्रवृत्ति के कारण लोग सुनते हैं मिश्र जी ब्रजभाषा की व्यापकता को सिद्ध करने के लिए भारत के तमाम क्षेत्रों और विदेशी लोगों तक को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर, यह

दिखाने की कोशिश करते हैं कि अपने मधुरता और रसकता के कारण ब्रजभाषा सभी भाषाओं से ऊपर है। देव, हित हरिवंश आदि कवियों के पंक्तियों को उद्धृत कर वे लिखते हैं – "भाषा की (यानी ब्रजभाषा की) मधुरता से यदि पाठक द्रवीभूत न हों, तो इसे कवि का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। कैसे छोटे–छोटे कोमल शब्दों की योजना है? क्या मजाल कि कोई अक्षर भी व्यर्थ रक्खा गया हो? मीलित शब्द कितने कम हैं? सानुस्वार शब्द–माधुर्य को कैसे बढ़ा रहे हैं? संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का अभाव कानों का कैसा उपकार कर रहा है? खड़ी बोली की कविता के पक्षपातियों को इस बात की शिकायत रहती है कि उनकी कविता में संस्कृत शब्द व्यवहृत होते ही कर्कश कहे जाने लगते हैं। ... ब्रजभाषा संस्कृत से मधुर है। उसमें आते ही तुलना–वश ब्रजभाषा वाले उनको कर्कश जरूर कहेंगे।"[34] इस तरह ब्रजभाषा के सन्दर्भ में मिश्र जी ने अनेक तर्क दिये हैं।

अब सवाल यह है कि क्या कोई भाषा केवल 'मधुर' होने से कविता के लिए उपयोगी होगी? मसला केवल मधुरता का नहीं है। आधुनिक काल में जीवन को नाना–प्रकार से उद्घाटित किया जा रहा था। साम्राज्यवाद का विरोध हो रहा था। राष्ट्रीयता की भावना बनाने की कोशिश चल रही थी। कविता को श्रृंगार के धरातल से निकालकर जीवन–संघर्षों के साथ जोड़ा जा रहा था। जीवन के विविध–क्षेत्र कविता के विषय बन रहे थे। वैसे समय में केवल ब्रजभाषा की कोमलता का पूँछ पकड़कर महान घोषित करना कितना उचित है। ब्रजभाषा में जरूर कोमलता है, मधुरता है, संगीत में उसको सुना जाता है, लेकिन अपने समसामयिक जीवन–संघर्षों की अभिव्यक्ति वहाँ कम या न के बराबर दिखती है। जिसको कविता में केवल श्रृंगार से ही संतोष करना है, केवल कोमलता ही ढूँढ़नी है, उसके लिए ब्रजभाषा काव्य उत्तम प्रतीत होता है। पर जीवन की विविधता का सवाल है? उसके संघर्ष का सवाल है जहाँ ब्रजभाषा की कविता कमजोर दीख पड़ती है। द्विवेदी जी इसका अनुभव कर रहे थे। इसीलिए वे गद्य और पद्य दोनों की भाषा हिन्दी करना चाहते थे। 'गद्य को जीवन संग्राम की भाषा' तो कहा गया, लेकिन द्विवेदी जी पद्य को भी जीवन संग्राम की भाषा बनाना चाहते थे। यह भाषा तभी जीवन संग्राम की भाषा बन सकती थी जब वह श्रृंगारिकता की लीक को छोड़कर सामान्य मनुष्य के सुख–दुःख को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाए। आगे चलकर हिन्दी (खड़ी–बोली) ने इसको सप्रमाण प्रस्तुत किया। द्विवेदी जी की दूरदृष्टि और धैर्य का प्रमाण है कि छायावाद तक आते–आते हिन्दी कविता में वह कोमलता और मधुरता भी आ गई जिसको लेकर कुछ साहित्यकार अलग राग अलाप रहे थे।

हिन्दी (खड़ी बोली) के पद्य भाषा को विश्लेषित करते हुए सुमित्रानन्दन पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में लिखा है – "हिन्दी ने अब तुतलाना छोड़ दिया, वह 'प्रिय' को 'प्रिय' कहने लगी है। उसका किशोर कण्ठ फूट गया, अस्फुट अंग कट–छँट गए, उसकी अस्पष्टता में स्पष्ट स्वरूप की झलक आ गई, वक्ष विशाल तथा उन्नत हो गया, पदों की चंचलता दृष्टि में आ गई, वह विपुल विस्तृत हो गई, हृदय में नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगीं, ज्ञान की परिधि बढ़ गई, चारों दिशाओं से त्रिविध समीर के झोंके उसके चित को रोमांचित करने लगे, उसे चाँद में नवीन सौन्दर्य, मेघ में नवीन गर्जन सुनाई देने लगा। ... उस ब्रज की बाँसुरी में अमृत था, नन्दन की मधु ऋतु थी, उसमें रसिक श्याम के प्रेम की फूँक थी, उसके जादू से सूर सागर लहरा उठा था, मिठास से तुलसी मानस उमड़ चला। आज भी वह कुछ हाथों की तुम्बी बनी हुई है।"[35] जिस प्रकार कृष्णबिहारी मिश्र ब्रजभाषा के लिए संगीत, चित्रकला, मधुरता, कोमलता आदि का तर्क देकर काव्य को उत्तम बताते हैं, वैसे ही पंतजी भी खड़ी–बोली की विशेषता बताते हैं। पंतजी मानते हैं कि ब्रजभाषा नवीन विचारों की अभिव्यक्ति के लिए पुरानी हो चुकी है। जिस तरह नये–नये परिवेश का चित्रण आधुनिक काव्य में होना चाहिए ब्रजभाषा की रसिकता उसके लिए जरूरी नहीं है। 'पल्लव' की भूमिका में ही उन्होंने लिखा है – "अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड़ पांचजन्य उठा लिया, सुप्तदेश की सुप्त वाणी जागृत हो उठी, खड़ी बोली उस जागृति की शंख ध्वनि है। ब्रजभाषा में नींद की मिठास थी, इसमें जागृति का स्पंदन, उसमें रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमय ज्योत्स्ना, इसमें दिवस का सशब्द कार्यव्यग्र प्रकाश।"[36] इस तरह पंतजी ने खड़ी–बोली की उन विशेषताओं को प्रकट किया जिसका आरोप लगाकर खड़ी बोली को काव्य की भाषा मानने में कुछ लोगों को दिक्कत तो रही थी। पंतजी ने अपनी लम्बी भूमिका में इसके (खड़ी–बोली के) छन्द, ध्वनि, संगीत, चित्र, माधुर्य आदि का वर्णन कर काव्य के लिए उपयुक्त भाषा बताया। साथ ही साथ यह भी स्थापित किया कि नए विचार और जीवनानुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए अब हिन्दी तैयार हो गयी है। यही कारण है कि 'पल्लव' के इस भूमिका को छायावाद का 'मेनोफेस्टो' भी कहा जाता है। पंतजी 'पल्लव' की भूमिका लिख पं. बालकृष्ण भट्ट के उस विचार को भी खारिज कर दिया, जिसको भट्ट ने इस प्रकार व्यक्त किया था – "मेरे विचार में खड़ी बोली में एक इस प्रकार का कर्कशपन है कि कविता के काम में ला उससे सरसता, सम्पादन करना प्रतिभावान के लिए भी कठिन है, तब तुकबन्दी वालों की कौन कहे। मैं खड़ी बोली की कविता का सर्वथा विरोध नहीं करता मेरा यह प्रयोजन है कि कविता की भाषा बोलचाल की भाषा से निराली ही सोहती है।"[37] कहने का तात्पर्य है कि ब्रजभाषा 'कोमल–मसृण'

पदावली के साथ माधुर्य भाषा थी। काव्य–भाषा की यह कोमलता आधुनिक मनुष्य के जटिल मनोवेगों की अभिव्यक्ति में अक्षम थी। (या यों कहें कि कविता द्वारा बना दी गई थी)। अतः द्विवेदी युग की माँग थी कि काव्य–भाषा के रूप में खड़ी बोली को प्रतिष्ठित किया जाए।

द्विवेदीयुग में ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली की लड़ाई गद्य और पद्य की भाषा में अलगाव और एकता के सवाल से जुड़ गया था जिसमें खड़ी बोली के समर्थक गद्य–पद्य की एकता के लिए संघर्षरत थे। इस दिशा में खत्री जी से लेकर पंत जी तक साहित्यकारों ने जो प्रयास किया वह एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति करता है। पर यह ध्यान रहे कि कोई भी भाषा अगर किसी भाषा को अपदस्त कर, उसके विरोध में खड़ी हो रही है तो यह किसी भी दृष्टि से न्यायोचित नहीं है। संसार की जितनी भी भाषाएँ हैं उसका अस्तित्व बना रहना चाहिए। आगे चलकर हिन्दी ने ब्रजभाषा, अवधी तथा कई प्रान्तीय भाषाओं को अपने साथ मिला तो ली, लेकिन आज उन भाषाओं के स्वतंत्र अस्तित्व पर खतरा मड़रा रहा है। हिन्दी को अगर और ज्यादा समृद्ध बनना है तो उसके जनपदीय बोलियों को व्यापक बनाना होगा। हिन्दी प्रदेश की जनपदीय बोलियाँ जितना अधिक समृद्ध होंगी हिन्दी का विकास भी उतना ही अधिक व्यापक होगा। आगे चलकर आप देखें तो हिन्दी के समृद्धि में लोक के ग्रामीण शब्द तथा उसकी संस्कृति, का महत्त्वपूर्ण योगदान है। हिन्दी की जातीयता धर्म, सम्प्रदाय से ऊपर उठे यह बात तो ठीक है, लेकिन इस जातीयता के निर्माण में आप जनपदीय बोलियों और भाषाओं को पीछे छोड़ दें यह सर्वथा अनुचित है।

हिन्दी और जनपदीय बोलियों के अस्तित्व को लेकर द्विवेदी जी में भी अर्न्तद्वन्द्व था और आज भी बना हुआ है। द्विवेदी जी एक तरफ तो यह मानते हैं कि – "देशी भाषाओं के द्वारा शिक्षा देने की आवश्यकता का उल्लेख हम कई बार सरस्वती में कर चुके हैं। कैसा ही कठिन विषय क्यों न हो अपनी भाषा में वह आसानी से सिखाया जा सकता है।"[38] वहीं 1926 में द्विवेदी जी एक 'कवि सम्मेलन' शीर्षक से निबंध लिखते हैं, जिसमें उन्होंने लिखा है – "समय–प्रवाह किसी के रोके नहीं रुक सकता। उसके वेग के सामने हठ, दुराग्रह, अन्धभक्ति नहीं ठहर सकती। सभी समझदार मनुष्य इस बात को हृदयंगम कर सकते हैं। अतएव दो चार या दस पाँच सज्जनों के प्रयत्न से ब्रजभाषा की शिक्षा के लिए यदि स्कूल और कॉलेज खुलें तो भी वे बहुत दिनों तक टिकने के नहीं। यदि ब्रजमंडल में वहाँ की भाषा या बोली सिखाने और उसके साहित्य की शिक्षा देने के लिए स्कूल, कॉलेज या विश्वविद्यालय खोला जाए तो अन्यान्य प्रान्त या मंडल भी वैसा ही कोई शिक्षालय खोलने का आग्रह क्यों न करें?

तब तो बुंदेलखण्ड के लिए बुंदेलखण्डी भाषा का, बेसवारे के लिए बेसवारी का, मारवाड़ के लिए मारवाड़ी का और मिथिला के लिए मैथली का भी स्कूल, कॉलेज या विश्वविद्यालय खुलना चाहिए। तब तो खूब तरक्की होगी। भिन्न–भिन्न भाषाओं के प्रचाराधिक्य से एकता और राष्ट्रीयता की वृद्धि खूब होगी!"[39] यह अन्तर्विरोध द्विवेदी जी में दिखता है। एक तरफ तो वे देशी भाषाओं में शिक्षा देने का आग्रह करते हैं, लेकिन दूसरी तरफ राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय एकता के लिए उसे खतरा भी बताते हैं। दरअसल सवाल राष्ट्रीयता के खतरा का नहीं है, बल्कि भाषा को एक दूसरे के विरोध रूप में देखने के बजाए उसके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करने में है मैं फिर जोर देकर यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दी तभी समृद्ध होगी जब उसकी जनपदीय बोलियाँ भी समृद्ध होंगी। अतः बोलियों और भाषाओं के झगड़े से निकल कर मुक्त सृजन को स्वीकार करें, चाहे वह किसी भी भाषा और बोलियों में हो।

5.3 अनस्थिरता संबंधी विवाद

हिन्दी साहित्य में जब भी भाषा के मानक रूप पर बात होगी, अनस्थिरता संबंधी विवाद पर भी बात होनी लाज़मी है। 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक होने के बाद महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी भाषा का 'परिस्कार संस्कार' आरम्भ किया। नवम्बर 1905 की सरस्वती में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक आलेख लिखा। उक्त आलेख में द्विवेदी जी हिन्दी के प्रयोग में एकरूपता लाने के लिए किसी सर्वमान्य व्याकरण के अभाव पर खेद प्रकट करते हैं। उन्होंने लिखा है – "बहुत समय से हिन्दी–भाषा लिख जाती है। पर उसका एक भी सर्वमान्य व्याकरण अभी तक नहीं बना। फल इसका यह हुआ है कि पचास वर्ष की पुरानी भाषा आजकल की भाषा से नहीं मिलती। यहाँ तक कि वर्तमान समय में भी एक ही वाक्य को एक लेखक एक तरह लिखता है, दूसरा दूसरी तरह, तीसरा तीसरी तरह। एक अखबार की भाषा दूसरे की भाषा से नहीं मिलती और दूसरे की तीसरे की भाषा से। इससे क्या हुआ है कि भाषा को अनस्थिरता प्राप्त हो गई है। और बहुत सम्भव है कि यदि यही दशा बनी रही तो आज के सौ वर्ष बाद के लोग आज–कल की भाषा के बहुत–से वाक्यों को न समझ सकें।"[40] इस आलेख में द्विवेदी जी जिस 'अनस्थिरता' शब्द का प्रयोग करते हैं, उसी शब्द को बालमुकुन्द गुप्त व्याकरण की दृष्टि से सिद्ध करने को कहते हैं। बालमुकुन्द गुप्त श्री आत्माराम के नाम से 'भारत–मित्र' में द्विवेदी जी के आलेख (भाषा और व्याकरण) की आलोचना करते हैं दरअसल गुप्त जी 'अनस्थिरता' शब्द से ज्यादा भारतेन्दु, शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द', राधाचरण गोस्वामी, इत्यादि लेखकों के भाषा की आलोचना जिस प्रकार द्विवेदी जी करते हैं, उससे खफ़ा होते हैं। हाँ, यह जरूर है कि बात शुरू होती है 'अनस्थिरता' से। इस प्रकरण को लेकर उस दौर में काफी बाद–विवाद चलता है और कई लेखक इसमें भाग लेते हैं। पं. गोविन्द नारायण मिश्र ने हिन्दी वंगवासी में पं. शिवदत्त कविरत्न के नाम से उसे ब्राह्मण और वैश्य वर्ग की जातीय भावना का रूप देकर 'आत्माराम की टे–टें' शीर्षक लेखमाला निकाली तो पं. देवीप्रसाद शुक्ल ने 'विचार–विडम्बना' और पं. गिरजाप्रसाद वाजपेयी ने 'आत्माराम के वकील' शीर्षक लेख लिखे।

द्विवेदी जी और गुप्त जी के बीच जो विवाद चला उसमें देखते–देखते दो दल तैयार हो गए। एक द्विवेदी जी के समर्थन में और दूसरा गुप्त जी के। पं. गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पं. पद्मसिंह शर्मा तथा बाबू काशीप्रसाद – महावीरप्रसाद द्विवेदी के समर्थकों में थे तो विष्णुदत्त शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा, अक्षयवट मिश्र, गोपाल गहमरी,

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' तथा गोकुलनन्द प्रसाद वर्मा, बालमुकुन्द गुप्त के साथ। 'सरस्वती' और 'भारत–मित्र' के अलावा हिन्दी वंगवासी (कलकत्ता), आदि पत्रों ने भी इस विवाद में भाग लिया। कुल मिलाकर कहें तो हिन्दी भाषा के विकास पर इस वाद–विवाद का अच्छा प्रभाव पड़ां बहरहाल इस विवाद प्रकरण के वास्तविक कारण क्या थे? और किस रूप में यह विवाद चला, इसको समझना जरूरी है। रामविलास शर्मा ने अनस्थिरता के विवाद को रेखांकित करते हुए नोट किया है – "इस विवाद के लिए अंशतः द्विवेदी जी उत्तरदायी थे। पहले वाले निबंध में (भाषा और व्याकरण) में उन्होंने सबसे पहला उदाहरण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से दिया था। उन्होंने यह वाक्य उद्धृत किया था : "मेरी बनाई वा अनुवादित वा संग्रह की हुई पुस्तकों को श्री बाबू राम दीन सिंह 'खड्ग विलास' के स्वामी का कुल अधिकार है और किसी को अधिकार नहीं कि छापै।" इसमें पुस्तकों के साथ 'को' के प्रयोग पर द्विवेदी जी ने आपत्ति की। इसके सिवा अन्तिम शबद छापै के पहले सर्वनाम उन्हें या उनको का प्रयोग आवश्यक बताया। ... द्विवेदी जी यदि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की गद्य–लेखन–कला का पहले मूल्यांकन करते और उसके बाद उनके प्रयोग के दोष दिखाते तो लोग बुरा न मानते। तब वे दोष चन्द्रमा में कलंक जैसे दिखाई देते। पर जिस ढंग से उन्होंने लिखा, उससे कलंक प्रमुख हो गया, चन्द्रमा का प्रकाश पीछे पड़ गया।"[41] यही नहीं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उक्त लेख (भाषा और व्याकरण) में भाषा संबंधी, जो–जो भी साहित्यकारों के दोष गिनाए थे उसका जवाब भारत–मित्र के सम्पादक बालमुकुन्द गुप्त ने तर्कपूर्ण ढंग से दिया।[42] द्विवेदी जी की चिंता भाषा के एकरूपता को लेकर जायज है, लेकिन एक लेखक और दूसरे लेखक का गद्य एक समान हो इसको मानना उचित नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राधाचरण गोस्वामी, शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द', बालमुकुन्द गुप्त आदि के गद्य और द्विवेदी जी के गद्य में अंतर है। यह भेद गद्य की कलात्मक शैली को लेकर है। द्विवेदी जी गम्भीर विवेचनात्मक गद्य लिखते हैं। अतः वे गद्य लेखन में (साधारण गद्य में हिन्दी भाषा की खूबियों) वैसे गद्य की पहचान नहीं कर पाते हैं, जैसे शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द', और बालमुकुन्द गुप्त लिखते हैं व्याकरण की कई बातें भाषा के प्रति सूक्ष्म सम्वेदनशीलता से जानी जाती है। खासकर हिन्दी के साधारण गद्य लेखन को अगर कोई संस्कृत व्याकरण के आधार पर समझना चाहे तो, भूल होनी तय है। द्विवेदी जी समर्थ मेधावी लेखक थे, लेकिन जिस तरह हिन्दी के साधारण गद्य को वह (संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से) विवेचित करते हैं, उनका आरोप खटकने लगता है। बालमुकुन्द गुप्त के गद्य लेखन का सौन्दर्य (भाषागत दृष्टि से भी) द्विवेदी जी से बेहतर है।

द्विवेदी जी के गद्य लेखन की शैली की ओर ध्यान दिलाते हुए रामविलास शर्मा ने

लिखा हे – "द्विवेदी जी का व्यवहार सदा उनके सिद्धान्तों के अनुरूप न होता था। सिद्धान्त रूप में वह तद्भव रूपों के व्यवहार का समर्थन करते थे पर व्यवहार में कभी–कभी (यहाँ कभी–कभी, अधिकांश बार होता था) वह तत्सम रूप अधिक अपनाते थे। भारतेन्दु युग के गद्य और द्विवेदी जी के गद्य में मुख्य अन्तर तद्भव रूपों को लेकर है।"[43] रामविलास जी की यह बात द्विवेदी जी के बारे में ठीक प्रतीत होती है। भारतेन्दुयुगीन लेखकों के यहाँ पुराने तद्भव रूपों का प्रयोग तो होता ही है साथ–ही–साथ नए तद्भव रूप भी बनते रहते हैं इसी कारण उनकी भाषा जनपदीय बोलियों के करीब रहती है। द्विवेदी जी के यहाँ हिन्दी भाषा की एकरूपता लाने के प्रयास में तद्भवों का प्रयोग तो कम हो जाता ही है, नए तद्भवों का निर्माण भी रुक जाता है। यही नहीं, द्विवेदी युग में कुछ पुराने तद्भव रूप भी बदलकर तत्सम के करीब हो जाते हैं जैसे – चौवे का चतुर्वेदी हो जाना या दुबे का द्विवेदी हो जानां द्विवेदी जी के यहाँ सिर्फ हिन्दी ही नहीं, बल्कि अरबी ओर फारसी के शब्दो को भी शुद्ध लिखने (तत्सम जैसा) का आग्रह रहता है। ज़ियाहद, तअल्लुकेदार, रियाअ़ा इत्यादि शब्द द्विवेदी जी के लेखों में सहज ही देखने को मिल जाते हैं। संस्कृत के शब्द भी द्विवेदी जी के यहाँ काफी मात्रा में दिखते हैं। शुद्धता का यह आग्रह कुल मिलाकर हिन्दी के विकास के लिए हानिकारक ही है, क्योंकि मेरा मानना है कि भाषा को जितना अधिक परिनिष्ठित बनाया जाएगा, वह जातीयता के निर्माण में सहायक नहीं होगी। भाषा जितनी सहज होगी, उसकी विकास उतना ही व्यापक होगा।

द्विवेदी जी लिखने और बोलने की भाषा को अलग–अलग मानते हैं। उन्होंने बोलने की भाषा के लिए व्याकरण को अवरोध माना है। उनका मानना है कि बोलने की भाषा, अगर व्याकरण से बाँध दिया जाए तो उसकी रचनाशीलता, संचरणशीलता तथा उन्नति रुक जाती है। वे लिखते हैं – "व्याकरण, भाषा की वृद्धि का अवरोधक है। वह भाषा की सजीवता का नाश करनेवाला है। भाषाओं के भी जीवन की सीमा होती है। वे भी उत्पन्न होकर बढ़ती हैं और प्रतिकूल समय आते ही नाश को प्राप्त हो जाती हैं जो भाषा उन्नति कर रही है – उसमें व्याकरण की पंख लगाना मानों उसकी बाढ़ को रोक देना है। व्याकरण एक प्रकार की बेड़ी है। भाषा के पैरों से उसका योग होते ही भाषा बेचारी भयभीत होकर जहाँ–की–तहाँ रह जाती है। उसकी सारी संचरणशीलता चली जाती है। इस कारण, बोलने की भाषा को व्याकरण की शृंखता से बाँधने की जरूरत नहीं उसे यथेष्ट संचरण करने देना चाहिए। और, उसका व्याकरण बन भी नहीं सकता; क्योकि जो भाषा परिवर्तनशील है, उसका व्याकरण बनावेगा कोई कितनी दफे?"[44] वही लिखने की भाषा के लिए व्याकरण को जरूरी मानते हैं,

क्योंकि भाषा परिवर्तनशील है। अगर लिखने में भाषा की परिवर्तनशीलता को न रोका गया तो कुछ सालों बाद पुरानी भाषा को लोग बिल्कुल भी नहीं समझ सकेंगे। उदाहरण के तौर पर वे अपभ्रंश भाषा को पेश करते हैं। उन्होंने लिखा है – "विविध विषयों पर ग्रंथ लिखने वाले ग्रन्थकारों के अनुभव, खोज, परीक्षा और विचारों से भावी सन्तति को चिरकाल तक तभी लाभ पहुँचेगा, जब ग्रन्थों की भाषा व्याकरण के नियमों के द्वारा दृढ़ कर दी जायगी। व्याकरण का नियमन भाषा की उन्नति का प्रतिबन्धक अवश्य है। पर, यदि लिखने की भाषा उसका आश्रय लेकर अपनी परिवर्तनशीलता को न रोकेगी, तो उससे समाज की बड़ी हानि होगी; क्योंकि परिवर्तन होते–होते कोई समय ऐसा आवेगा जब पुरानी भाषा को लोग बिल्कुल ही न समझ सकेंगे। अतएव उस भाषा में भरे हुए ज्ञान–समूह से वे लोग वंचित रह जायंगे। पुरानी भाषाओं को भी जानने वाले हुआ करते हैं, परन्तु बहुत थोड़े। ... रासौ की भाषा ही को आप देखिए। उसमें कितने अपरिचित शब्द भरे हुए हैं छः सात सौ वर्ष में तो यह दशा है, हजार–दो–हजार वर्ष में यदि भाषा की वर्तमान स्थिति ज्यो–की–त्यों बनी रही, तो रासौ बिल्कुल ही समझ में न आवेगा। और सम्भव है, तुलसी, सूर और बिहारी की भाषा, किसी समय, भविष्य में, लोगों को वैसी अटपटी मालूम हो, जैसे रासौ की भाषा इस समय हम लोगों को मालूम होती है।"[45] द्विवेदी जी की यह चिंता कुछ अर्थों में जायज है। लम्बे समय तक भाषा के रूप को स्थिर रखने के लिए व्याकरण का होना जरूरी है। लेखन में एकरूपता लाने के लिए भाषा को व्याकरण बद्ध करना होगा, लेकिन क्या किसी भाषा को व्याकरण नियमों में बाँध कर व्यापक बनाया जा सकता है। द्विवेदी जी संस्कृत भाषा का उदाहरण देते हैं। वे लिखते हैं – "इस देश की पुरानी भाषाओं में से कोई भाषा विद्यमान भी है? है। कौन? संस्कृत भाषा। वह लिखित भाषा है। किसी समय वह बोली भी जाती रही होगी, पर जब से वह व्याकरण के दृढ़तम नियमों से प्रतिबद्ध हुई, तब से वह स्थिर हो गई। इसका फल यह हुआ कि हम आज उसे प्रायः उसी रूप में देखते हैं, जिस रूप में वह कई हजार वर्ष पहले थी। वाल्मीकि, व्यास, शंकर, कालिदास, भारती और भवभूति आदि ने इसी भाषा में ग्रन्थ रचना की है। उनके ग्रंथों को संस्कृत व्याकरण की सहायता से हम लोग अब भी अच्छी तरह समझ सकते हैं।"[46]

बालमुकुन्द गुप्त आत्माराम के नाम से द्विवेदी जी के इन्हीं बातों का जवाब देते हैं कुछ सवाल उठाते हैं। उन सवालों के साथ व्यंग्यपूर्ण प्रतिउत्तर देते हैं। द्विवेदी जी के बोलने और लिखने की भाषा में जिस अंतर को बताते हैं, गुप्त जी उसे नहीं मानते हैं उनका मानना है कि जो भाषा बोलचाल की होगी, लिखित रूप में भी वह सहज और ग्राह्य होगी। उन्होंने द्विवेदी जी पर व्यंग करते हुए लिखा है – "श्रीमान् की यह घबराहट उस देहात्म की घबराहट

से कम नहीं है, जो एक दिन शहर में सूत बदलवाने चली गई। वहाँ जाकर उसने देखा कि पचासों गाड़ियाँ रूई से भरी सामने आ रही हैं। देखकर बेचारी को ज्वर आ गया। काँप कर गिर गई और कहने लगी कि हाय–हाय, इतनी रूई को कौन कातेगा? उस बेचारी बुढ़िया को डर हो गया कि सब रूई उसे ही कातनी पड़ेगी। उसी तरह हमारे द्विवेदी जी महराज को भय हुआ है कि पचास साल पहले की हिन्दी आज की हिन्दी से नहीं मिलती है, तब सौ साल बाद क्या हाल होगा। पर आपको इतना भय न फरमाना चाहिए। सौ नहीं तीन सौ साल तक की हिन्दी समझी जाती है।"[47] आगे द्विवेदी जी के बोलचाल और लिखित भाषा के अंतर पर व्यंग करते हुए गुप्त जी लिखते हैं – "महाराजजी को जानना चाहिए कि लिखने की भाषा भी वही अच्छी होगी समझी जाती है बोल की भाषा हो, मनघड़न्त न हो। उसी को बामुहावरा भाषा कहते हैं। मुहावरे का अर्थ बोलचाल है। अहलेजुबान और जुबानदार लोगों की बोलचाल बामुहावरा बोली की गिनती में है। उक्त बामुहावरा भाषा ही बहुत काल पीछे तक समझ में आती है। सूरदास की भाषा बोलचाल की भाषा होने से ही आज तीन सो साल के बाद भी समझ में आती है, मीर अमन की भाषा सो साल हो जाने पर भी खूब समझ में आती है और गद्य उर्दू लेखक उसी के चलाए पथ पर चलकर कृतकार्य्य हुए हैं। पर मियां सरूर लखनवी की घड़न्त भाषा 'फिसानये अजाइब' ही में रह गई, किसी ने उसकी कद्र न की। सारांश यह है कि शिक्षित लोगों की बोलचाल लिखी जाने पर बहुत काल तक ठहरती है और समझ में आती है। वह खूब गठीली और चुस्त होती है गट्ठल और बेडौल नहीं होती। जो लेखक रोजमर्रह की भाषा नहीं लिख सकते, वह कितनी ही व्याकरणदानी से काम लें, उनकी भाषा उन्हीं तक रह जाती है। कोई उसकी पैरवी नहीं करता।"[48]

इन दोनो विचारकों के मत से पहला सवाल यह खड़ा होता है कि व्याकरण और शिष्ट भाषा प्रवाह में कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है? द्विवेदी जी और गुप्त जी दोनों भाषा के मानक रूप को स्वीकार करते हैं, फिर भी द्विवेदी जी व्याकरण को और गुप्त जी बामुहावरा (शिष्ट भाषा प्रवाह) भाषा को अधिक महत्त्व देते हैं द्विवेदी बोलचाल की भाषा और लिखित भाषा में जितना अधिक अंतर मानते हैं गुप्त जी के लिए उतना अंतर नहीं है। द्विवेदी जी बोलचाल की भाषा को स्वतंत्रता देकर, लिखित भाषा में व्याकरण की सहायता से एकरूपता लाने पर बल देते हैं वही गुप्त जी शिष्ट जनों की बोलचाल की और लिखने की भाषा में कोई भेद नहीं मानना चाहते हैं बोलचाल की भाषा के अनुरूप ही लिखित भाषा में भी 'प्रयोगभेद' की छूट देना चाहते हैं, जिससे भाषा की जीवंतता और स्वाभाविकता बरकरार रहे। यह सही है कि जीवित भाषाओं पर व्याकरण का सैद्धान्तिक शासन नहीं चल सकता। साहित्य रचना

के लिए बोलचाल की भाषा का प्रवाह अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें व्याकरण के नियमों का स्थूल पालन होने के स्थान पर उसका सूक्ष्म अन्तर्भाव होता है, जो साहित्यिक प्रयोगों की लोकानुरागी और सुन्दरता का हेतु है। आगे चलकर महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी इस बात को स्वीकार किया। विष्णुकान्त शास्त्री ने 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' में नोट किया है – "1923 ई. में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन की स्वागतकारिणी समिति के सभापति की हैसियत से भाषण करते हुए उन्होंने (द्विवेदी जी ने) स्वीकारा था कि वक्ताओं का मुँह और लेखकों की लेखनी वैयाकरण नहीं बंद कर सकते। एक शब्द या एक पद दो तरह भी लिखा जा सकता है और यदि दोनों रूपों के आश्रयदाता शिष्टजन हैं तो वे दोनों प्रचलित हो जाते हैं और दोनों ही शुद्ध माने जाते हैं। इसमें न तर्क काम देता है, न व्याकरण कोष।"[49] 1905–06 ई. में जो विवाद चला उसमें बालमुकुन्द गुप्त का भी यही मानना था।

इस विवाद में दूसरा बड़ा प्रश्न यह था कि खड़ी बोली हिन्दी के रचनाकार संस्कृत, लोकभाषा, फारसी और उर्दू का समन्वय कैसे करें। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश परम्परागत रूप से खड़ी बोली से जुड़ती तो थी, लेकिन फारसी उर्दू की परम्परा में मंजकर खड़ी बोली का जो रूप तैयार हुआ था, उसका उपयोग कर अपने प्रयोगों को प्रशस्त करना उन्हें ज्यादा उचित लगता था। द्विवेदी जी और गुप्त जी दोनों इस मूल सिद्धान्त पर एकमत थे कि हिन्दी के खड़ी बोली का विकास अपनी प्रकृति के अनुसार होना चाहिए। संस्कृत के कठिन शब्दों के बजाय अरबी, फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग ज्यादा अच्छा है। फिर भी द्विवेदी जी पर संस्कृत–हिन्दी परम्परा का संस्कार अधिक दिखता है तो गुप्त जी पर फारसी–उर्दू का अदब। गुप्त जी फारसी–उर्दू के शब्दों के नीचे नुकता लगाने का भी विरोध करते हैं। गुप्त जी के यहाँ उर्दू की देहली और लखनऊ शैलियों के प्रति एक अरिरिक्त सम्मान भी देखने को मिलता है। सिद्धान्त में कुछ हेरफेर के साथ ही साथ व्यवहार में द्विवेदी जी और गुप्त जी में जब, तब, जो, तो, को, लेखनी उठाना चाहिए या लेखनी उठानी चाहिए 'तथा' 'यह', 'वह' के बहुवचन रूप में ये, वे के प्रयोग को लेकर विवाद हुआ था। द्विवेदी जी और पं. गोविन्दनारायण मिश्र ने हिन्दी की परम्परा के अनुसार साधारणतः जब के साथ तब और जो के साथ तो का तथा विशेष स्थितियों में परवर्ती तब, जो के लोप का भी समर्थन किया था, लेखनी उठानी चाहिए जैसे प्रयोग को अधिक तर्कसम्मत माना था, भले ही उर्दू वाले 'यह', 'वह' का प्रयोग बहुवचन में करते भी करते हों, लेकिन हिन्दी लिखने वाले अधिकांश लोग बहुवचन में वे और ये का प्रयोग करते ही दिखते हैं।

गुप्त जी ने द्विवेदी जी की भाषा पर यह भी आरोप लगाया था कि 'तरजमें से भाषा तैयार' करने के कारण उनकी भाषा में स्वाभाविकता (असलियत) नहीं रहती है। उनकी यह द्विवेदी जी से शिकायत भी थी कि वे अधिकांश संस्कृत के कठिन और भारी भरकम शब्दों को अपनी लेखनी में प्रयोग कर अपने भाषा को 'गट्ठल' बना देते हैं। द्विवेदी जी ने, संस्कृत, बंगला, मराठी, अंग्रेजी, फारसी आदि भाषाओं का अनुवाद किया था, इस कारण उनके लेखन में उन भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी दिखता है। इस कारण कई स्थलों पर उनकी भाषा स्वच्छन्द न होकर बंधी–बंधी सी लगती है। गुप्त जी की भाषा जितनी सहज और प्रवाहमान है उसके तुलना में द्विवेदी जी की भाषा उतनी सरल नहीं है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि महावीरप्रसाद द्विवेदी ने व्याकरण शुद्ध भाषा लिखकर, व्याकरण विरुद्ध भाषा का संशोधन कर हिन्दी भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उनका यह कार्य ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

आगे चलकर द्विवेदी जी ने गुप्त जी के कई सवालों को सार्थक माना और उसे अपने प्रयोग में भी लाया। 'अनस्थिरता' और 'अस्थिरता' पर बहस हिन्दी भाषा के लिए कुल मिलाकर लाभदायक ही रही। रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है – "बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी को परिनिष्ठित रूप देने की आवश्यकता बहुत अच्छी तरह समझ रहे थे पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की आलोचना से क्रुद्ध होकर उन्होंने द्विवेदी जी के कार्य के उस पक्ष को आँखों से ओझल हो जाने दियां जब वाद–विवाद शान्त हो गया तब कानपुर जाकर उन्होंने द्विवेदी जी के चरण छुए। यह द्विवेदी जी के प्रति, उनके ब्राह्मण होने के कारण, श्रद्धा प्रदर्शन न था। द्विवेदी जी ने व्याकरणचर्चा निःस्वार्थ भाव से की थी और उनका कार्य महत्त्वपूर्ण था। ... गुप्त जी के देहांत के बाद रायकृष्णदास ने द्विवेदी जी से पूछा कि सबसे अच्छी हिन्दी कौन लिखता हे तो द्विवेदी जी ने कहा, "अच्छी हिन्दी बस एक व्यक्ति लिखता था – बालमुकुन्द गुप्त।" यह एक प्रतिद्वन्द्वी के प्रति उदारता का अतिरंजित प्रदर्शन नहीं था; यह भारतेन्दुयुगीन गद्य–परम्परा के महत्त्व की स्वीकृति थी जिसके यशस्वी प्रतिनिधि बालमुकुन्द गुप्त थे।"[50]

भाषा के मानक रूप की आवश्यकता द्विवेदी युग में थी और द्विवेदी जी ने उस कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। भाषा को अगर अधिक दिनों तक संरक्षित रखना है, या उसमें एकरूपता लानी है तो उसके लिए व्याकरण का होना जरूरी है। इस बात को द्विवेदी जी बखूबी समझते थे। हाँ, पूर्णतः सिद्धान्तों के शासन में भाषा बंध जाती है इसका ध्यान रखते हुए उसे बोलचाल के करीब रखना ज्यादा उचित है। बोलचाल की भाषा को व्यवस्थित करने के लिए व्याकरण की आवश्यकता है, इस बात पर अंततः द्विवेदी जी और गुप्तजी दोनो

सहमत थे। केवल व्याकरण के शासन से भाषा व्यापक नहीं हो सकती है, संस्कृत भाषा इसका प्रमाण है।

अंततः जब इस ऐतिहासिक विवाद को हम समझते हैं, तो यह विदित होता है कि इस ऐतिहासिक विवाद ने सबसे बड़ा काम यह किया कि उस समय के अधिकांश लेखकों को भाषा के प्रति सजग कर दिया। स्वयं द्विवेदी जी की भाषा भी इस विवाद के बाद काफी बदल जाती है। द्विवेदी युग का यह भाषा विवाद आज भी परिनिष्ठित और सजग लेखन के लिए अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

5.4 परम्परा और नवीनता का द्वन्द्व

नवीनता और परम्परा के ज्ञान को समझने के लिए परम्परा का सजग ज्ञान होना जरूरी है। कोई प्रक्रिया कड़े और निरन्तर प्रयोगों से गुजरने के बाद ही परम्परा का रूप लेती है, लेकिन जरूरी यह है कि वह अपने साथ एक संगत परिवर्तन की गुंजाइश भी लेकर चले। जब परम्परा जड़ हो जाती है तो नवीनता का आग्रह ही उसे तोड़ने का प्रयास करता है, क्योंकि परम्परा जब जड़ हो जाती है तो वह परम्परा न होकर एक प्रथा या रूढ़ि बन जाती है।

साहित्य की विशाल परम्परा में ऐतिहासिक चेतना के माध्यम से किसी कृति के कालजयी होने के फर्क को समझा जा सकता है। यहाँ कालजयी रचना का सन्दर्भ किसी समय विशेष में गम्भीर योगदान के साथ प्रासंगिकता से तय होता है। इसी प्रासंगिकता के साथ वह कृति अपने युग से इतर दूसरे युग में अतिक्रमण कर जाती है। फिर भी साहित्य के लिए हर प्रकार की रचनाओं का महत्त्व होता है। आधुनिक सन्दर्भ में देखें तो यह स्पष्ट होता है कि भक्तिकाल का काव्य और साहित्य अपने युग विशेष के साहित्य की परम्परा से कितने आधुनिक हैं। हिन्दी आलोचकों का भक्ति काव्य संबंधी मूल्यांकन इसका प्रमाण है।

परिवर्तन की प्रक्रिया परम्परा का ही हिस्सा है जो कि नवीनता को जन्म देती है, क्योकि नवीनता की शुरुआत शून्य से नहीं होती है। परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा ही किसी परम्परा के आधुनिक रूप ले लेने पर परम्परा की निरन्तरता मे ही नवीनता का आगाज होता है। परिवर्तन और निरन्तरता परम्परा को मांजने का कार्य करते हैं इस प्रक्रिया में ही परम्परा अपनी अर्थवत्ता को बनाए रखती हे और वास्तविक सन्दर्भों में आधुनिक गुणों को अपने साथ समाहित करती रहती है। इसीलिए जब हम अपनी परम्परा को जानने का प्रयास कर रहे होते हैं तब हमारा युगबोध भी सुदृढ़ होता रहता है। इस युगबोध के बाद ही हम आधुनिकता को सही मायने में समझ पाते हैं। जिसके पास यह युगबोध नहीं है वह परम्परा और नवीनता के द्वन्द्व को सार्थक अर्थों मे विश्लेषित नहीं कर पाता। यह युगबोध परम्परा और आधुनिकता के द्वन्द्व से ही उत्पन्न होता है। इस द्वन्द्व को समझे बिना आधुनिकता का विश्लेषण या आधुनिकता के नाम पर सही और गलत को परखे बगैर बढ़ना समस्याओं को बुलावा देना है। सच यह है कि आधुनिकता के आईने में सब वैसा नहीं होता जैसा दिखाई देता है। वैसे आधुनिकता की वास्तविकता के लिए परम्परा की प्रामाणिकता का होना आवश्यक है, तभी हम एक ठोस निष्कर्ष पर पहुँच पाएँगे।

किसी परम्परा की नई व्याख्या करना दरअसल सृजन करने जैसा कार्य है। दुनिया भर के साहित्य में मिथकों का विशेष महत्त्व होता है। इतिहास के किसी कालखण्ड से घटनाक्रम को निकालकर, युगबोध के साथ उसको साहित्यिक जमीन प्रदान करना रचनात्मकता को एक नया आयाम प्रदान करने जैसा है। इससे एक ओर तो साहित्य की परम्परा पुष्ट होती है वहीं दूसरी ओर 'दूसरी परम्परा की खोज' को वैचारिक आधार भी मिलता है। इस संदर्भ में देखे तो परम्परा एक गतिशील प्रक्रिया है जो लगातार मूल्यांकन के कारण आधुनिकता, नवीनता विरोधी न होकर उसके पूरक के रूप में सामने आती है।

नवजागरण के दौर में महावीरप्रसाद द्विवेदी परम्परा और आधुनिकता के बीच समन्वय के सबसे बड़े हिमायती थे। द्विवेदी युग में आलोचना का विकास हो रहा था, इस विकास की गति धीमी थी पर संयत थी। यद्यपि कुछ नए और पुराने आलोचक समय और सच के अंतर्द्वंद्व को समझे बगैर ही अपने निर्णय को चस्पां कर देते हैं। ऐसे ही निर्णय की बानगी रीतिकाल की स्वीकार्यता संबंधी विवाद में देखने को मिलती है। "रीतिकालीन साहित्यिक मूल्यों एवं विरासतों का नायिकाभेदपरक शृंगारी कविता की प्रधानता काव्यशास्त्रीयों रीतियों का अनुगमन, अतिशय अलंकरण, कवित्त, सवैया, दोहा आदि थोड़े से छंदों की ही सीमाहीन पुनरावृत्ति, काव्य भाषा के रूप में ब्रजी के ही प्रयोग आदि का 1901 ई. से ही उन्होंने उसका विरोध करना शुरू कर दिया था।[51]

भारतेन्दु युग में साहित्य की विभिन्न विधाओं का नवीनीकरण हुआ था, आलोचना की नई दृष्टि विकसित हुई थी। नवीनता की नई दृष्टि ने साहित्य में ईश्वरत्व को चुनौती देकर साहित्य को 'जन समूह के ह्रदय का विकास' माना। इस दौर में परम्परा को जिज्ञासा के साथ प्रश्नाकूल नजरिए से भी देखा जाने लगा था और यह दृष्टि उस दौर में युगीन दृष्टि थी जिसमें स्वाधीनता की अनुगूँज भी थी। इस युग में कविता की वस्तु और शिल्प सब में परिवर्तन देखा जाने लगा था। इस दौर मे ही साहित्यिक स्तर पर भाषा संबंधी विवाद भी शुरू होता है जो आगे चलकर ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का रूप ले लेता है। इस संदर्भ में बालमुकुन्द गुप्त लिखते हैं – "खड़ी बोली में कविता लिखने का विरोध, व्यवहार के स्तर पर कर्कशता, रूक्षता, नीरसता आदि का उपहास कर, शुरू–शुरू में बहुतों ने किया पर विचार के स्तर पर उसे नए लोगों का व्यापक समर्थन मिला।"[52]

उस दौर में साहित्य की भाषा तो ब्रजभाषा थी लेकिन बोल–चाल में खड़ी बोली का अधिक प्रभाव था (ब्रज क्षेत्र को छोड़कर)। लोक साहित्य की अधिकतर रचनाएँ खड़ी बोली

में ही होती थीं, परिणामस्वरूप हम नाथपंथी संतों और निर्गुणियों संतों की लोक–प्रचलित कविता की भाषा को देख सकते हैं। आधुनिक काल में गद्य की भाषा खड़ी बोली हो गई, कविता ब्रजभाषा में ही होती रही। इस संबंध में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने एक बड़ा कार्य किया कि खड़ी बोली गद्य को व्याकरण सम्मत बनाया, अपने युग के भाषा की त्रुटियों को उन्होंने व्याकरण के जरिए दूर करने का सफल प्रयास किया। इस संदर्भ में 'भाषा की अनस्थिरता' को लेकर द्विवेदी जी का बालमुकुन्द गुप्त के साथ लंबा विवाद चला, बाद में द्विवेदी जी ने अपनी गलती का सुधार किया। यह भाषा संबंधी विवाद का महत्त्व है।

हिन्दी आलोचना का विकास इन्हीं विवादों और द्वन्द्वों के बीच से हुआ है। जिसमें कई मान्यताएँ टूटी हैं और नए तर्क विकसित भी हुए हैं, जो साहित्य की जागरूकता को, जिज्ञासा को बनाए रखे हैं।

सन्दर्भ

1 इसका विस्तृत वर्णन Robinson Francis ने अपनी पुस्तक 'Separation among Indian Muslims: the politics of the United Provinces' Muslims, 1860–1923 में किया है। उनके मुताबिक – 'इस भद्रवर्ग की एकता में पहली दरार 1867 में पड़ी जब सेयद अहमद ने पश्चिमोत्तर प्रान्त की देशी भाषा में एक विश्वविद्यालय खोलने का प्रस्ताव सरकार (अंग्रेजी शासन) के सामने रखा। इससे यह बहस खड़ी हुई कि इस प्रान्त की देशी भाषा कौन–सी है। उर्दू या हिन्दी?' जाहिर है सैयद अहमद जिस उर्दू को प्रान्त की देशी भाषा बता रहे थे वह आम लोगों की भाषा नहीं, बल्कि उस छोटे भद्रवर्ग की भाषा थी जो सरकारी नौकरियों में था और जिसे कुछ हिन्दू और ज्यादातर मुसलमान बोलते और जानते थे।

2 वीरभारत तलवार – रस्साकशी, पृ. 58–61 पर उद्धृत।

3 वही, पृ. 63, यह मेमोरेन्डम सितारेहिन्द ने अंग्रेजी में दिया था जिसका हिन्दी तरजुमा वीरभारत तलवार ने अपनी पुस्तक रस्साकशी में किया है।

4 वही

5 देखें – नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत्–2034, वर्ष–82, अंक–34, पृ.–90

6 देखें – हरिश्चन्द्र मैगजीन, 15 अक्टूबर, 1973 में प्रकाशित निबंध – 'हिन्दी भाषा' (अंग्रेजी में) हरिश्चन्द्र मैगजीन साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित, पृ. 11–12

7 Vasudha Dalmia - The Nationalization of hindu traditions - पृ. 197 (अनुवाद हिन्दू परम्पराओं का राष्ट्रीयकरण – संजीव)

8 संपा. विजयशंकर मल्ल – प्रतापनारायण ग्रंथावली, पृ. 270

9 वीरभारत तलवार – 'रस्साकशी', से उद्धृत, विशेष अध्ययन के लिए देखें, पृ. 89–98, सं. 2002

10 शमसुर्ररहमान फारुकी, उर्दू का आरम्भिक युग, पृ. 45

11 francesca Orsini- The Hindi Public Sphere - पृ. 29, अनु.

12 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 207

13 वही, पृ. 210–211

14 शीतांशु – कम्पनी राज और हिन्दी, पृ. 132

15 नामवर सिंह – जमाने से दो–दो हाथ, पृ. 97

16 वही, पृ. 98

17 संपा. रामबक्ष, नामवर सिंह – महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रतिनिधि संकलन, पृ. 172

18 वही

19 संपा. भारत यायावर – महावीरप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग–1, पू. 21

20 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ. 210–212

21 वही, पृ. 212–213 से उद्धृत

22 नामवर सिंह – जमाने से दो–दो हाथ, पृ. 103

23 अयोध्याप्रसाद खत्री स्मारक ग्रन्थ, संपा–शिवपूजन सहाय एवं नलिन विलोचन शर्मा, पृ. 117

24 रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 324–325

25 अयोध्याप्रसाद खत्री स्मारक ग्रन्थ, संपा–शिवपूजन सहाय एवं नलिन विलोचन शर्मा, पृ. च, छ

26 वही, पृ. 209 पर उद्धृत

27 संपा. विश्वनाथ त्रिपाठी – चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', प्रतिनिधि संकलन, पृ. 138

28 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी ओर हिन्दी नवजागरण, पृ. 226

29 वही, पृ. 228 से उद्धृत

30 वही, पृ. 229

31 वही, पृ. 230

32 कृष्णबिहारी मिश्र – 'देव और बिहारी', पृ. 22

33 वही, पृ. 23

34 वही, पृ. 29

35 सुमित्रानन्दन पंत – पल्लव, पृ. 15, 16

36 वही, पृ. 16

37 मर्यादा – सितम्बर 1911 में प्रकाशित यह आलेख भट्ट जी ने द्वितीय साहित्य सम्मेलन में जो भाषण दिया था, उसी को लिपिबद्ध कर मर्यादा में प्रकाशित किया गया था। 'खड़ी बोली पद्य' की समीक्षा 'हिन्दी प्रदीप' अक्टूबर, नवम्बर–दिसम्बर 1887 में भी भट्ट जी की मान्यता थी – 'कविता के लिए उत्तम और उपयुक्त भाषा ओज–माधुर्य गुण विशिष्ट बुंदेलखण्ड की मर्दानी बोली है – क्योंकि भाषा कवियो के समूह के समूह उसी प्रान्त में हुए हैं। खैर उसके अभाव में मधुर पर जनानी ब्रजभाषा भी उपयुक्त है।' भट्ट जी को श्रीधर पाठक की कविता अच्छी लगती है किन्तु वे खड़ी बोली में कविता को ही इसके साथ खड़े नहीं होते हैं।

38 संपा. रामबक्ष, नामवर सिंह – महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ.

39 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण पृ. 236 से उद्धृत

40 संपा. – भारत यायावर – 'हिन्दी की अनस्थिरता : एक ऐतिहासिक बहस', पृ. 12

41 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 265–266

42 द्विवेदी जी के उक्त लेख (भाषा और व्याकरण) पर भारत–मित्र के सम्पादक बालमुकुन्द गुप्त को द्विवेदी जी की कई बातें खटकती हैं। इन बातों का उत्तर वह आत्माराम छद्म नाम से, भारत–मित्र के 10 अंकों में लिखे 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक लेख में देते हैं।

43 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 256

44 संपा. – भारत यायावर – 'हिन्दी की अनस्थिरता : एक ऐतिहासिक बहस', पृ. 13, 14

45 वही, पृ. 14

46 वही, पृ. 14, 15

47 वही, पृ. 62

48 वही, पृ. 64

49 हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग–9, पृ. 102

50 रामविलास शर्मा – महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 269

51 विष्णुकान्त शास्त्री – हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग–9, पृ. 134 से उद्धृत

52 वही

उपसंहार

उपसंहार

हिन्दी साहित्येतिहास में 19वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी के शुरुआती दो दशकों का समय अतयंत महत्त्वपूर्ण और भविष्य निर्धारक बहसों से बंधा हुआ है। हिन्दी साहित्य के महत्त्वपूर्ण सवालों और गम्भीर समस्याओ को समझने के लिए इस युग का सम्यक् मूल्यांकन आज भी जरूरी है। हिन्दी ही नहीं, बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं के लेखकों की इस दौर की रचनाएँ, आधुनिक भारतीय साहित्य और तत्कालीन मनोवृत्ति को विश्लेषित करने के लिए जरूरी है। यह दौर हिन्दी साहित्य के लिए इस कारण भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें आलोचनात्मक मानदण्ड के निर्माण प्रक्रिया के साथ ही साथ जातीयता की अवधारणा भी विकसित होती है। यह युग एक तरफ जहाँ 1857 की जंग–ए–आजादी और नवजागरण से जुड़ा हुआ है तो वहीं दूसरी तरफ छायावाद जैसे राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति से। इसलिए सन् 1900 से 1920 ई. तक के हिन्दी आलोचना को समझना है तो सबसे पहले 1857 और हिन्दी नवजागरण के अन्तर्द्वन्द्व को समझना होगा।

भारतीय इतिहास और साहित्य में 1857 और नवजागरण (खासकर हिन्दी नवजागरण) का विशेष महत्त्व है। कुछ विद्वानों का मानना है कि 1857 से हिन्दी प्रदेश में नवजागरण की शुरुआत होती है और आगे चलकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस नवजागरण के अग्रदूत बनते हैं। कुछ विचारकों ने माना है कि हिन्दी नवजागरण पर राजा राममोहन राय और बंगाल नवजागरण का प्रभाव दिखता है। अब सवाल यह है कि क्या हिन्दी नवजागरण 1857 की अगली कड़ी है? या बंगाल नवजागरण की। दरअसल हिन्दी प्रदेश का नवजागरण कई अन्तर्विरोधों से भरा पड़ा है। हिन्दी नवजागरण के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या तभी सम्भव है, जब 1857 की जंग–ए–आजादी, भारतेन्दु युग के साहित्यकारों का अन्तर्द्वन्द्व और द्विवेदी युगीन लेखकों का सांस्कृतिक तथा सामाजिक स्तर पर द्वन्द्वात्मक मूल्यांकन हो। हिन्दी नवजागरण में 1857 की धमक जरूर सुनाई पड़ती है, लेकिन हिन्दी नवजागरण 1857 की अगली कड़ी नहीं है।

1857 की जंग–ए–आजादी के बाद ब्रिटिश सत्ता द्वारा इस लड़ाई को साम्प्रदायिक रंग देने की भरपूर कोशिश की गई। इस कोशिश में तथाकथित सुधार के नाम पर सामन्तों के साथ अधिकारियों और वकीलों के रूप में मुखर हो रहे मध्यवर्ग का उदय होता है। इस मध्यवर्ग को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने के लिए ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा कई स्तरों पर प्रयास

किया जाता है। इस प्रयास में वे एक हद तक सफल भी होते हैं। यही कारण है कि 1857 की जंग-ए-आजादी के बाद सांस्कृतिक स्तर पर जितने सुधारवादी आन्दोलन चले उसमें 'धर्मनिरपेक्षता' का प्रखर स्वरूप देखने को नहीं मिलता है। हिन्दी नवजागरण के लिए 'धर्मनिरपेक्षता' का मतलब 'सर्वधर्म समभाव' ही था। अतः हिन्दी नवजागरण को 1857 की अगली कड़ी के रूप में देखने से ज्यादा उचित है – हिन्दी नवजागरण के अन्तर्विरोधों को समझना। सम्वेदना और मूल्यबोध के क्षेत्र में हिन्दी नवजागरण 1857 का प्रत्यावर्तन है।

हिन्दी आलोचना की शुरुआत, हिन्दी गद्य के उद्‌भव के साथ भारतेन्दु युग से होती है। इस युग (भारतेन्दु युग) के लेखकों के सामने साहित्य सिद्धान्त संबंधी चिंतन की दो परम्पराएँ मौजूद थीं। पहली संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा और दूसरी साहित्य चिंतन की पाश्चात्य परम्परा। इन्हीं परम्पराओं के बीच से हिन्दी आलोचना अपना स्वतंत्र मार्ग विकसित करती है। वह न तो संस्कृत काव्यशास्त्र का पूर्ण अनुकरण करती है और न ही पाश्चात्य विचार पद्धति की। इन दोनों परम्पराओं के सिद्धान्तों को अपने आलोचनात्मक मानदण्ड के निर्धारण में वह साधन के रूप में इस्तेमाल करती है। भारतेन्दु युगीन लेखक अपने समय और समाज को देखते हुए यह अनुभव करते हैं कि भारतीय समाज के साथ–ही–साथ साहित्य को भी नई दिशा में ले जाने की आवश्यकता है। इस आवश्यकता को महसूस करते हुए जहाँ भारतेन्दु 'नाटक' पर सैद्धान्तिक आलोचना लिखकर हिन्दी आलोचना के सैद्धान्तिक रूप को काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त से अलग हटाकर वर्तमान सन्दर्भों के साथ जोड़ते हैं, वहीं बालकृष्ण भट्‌ट साहित्य को 'जनसमूह के हृदय का विकास' बनाकर युगीन साहित्य के भाव पक्ष पर जोर देते हैं। नाटक, उपन्यास, कविता आदि विधाओं पर नई दृष्टि से विचार कर इस युग के लेखक हिन्दी आलोचना की शुरुआत करते हैं। यही कारण है कि भारतेन्दु युग को हिन्दी आलोचना का 'प्रवर्तन–काल' भी कहा जाता है।

सन् 1900 से 1920 के बीच हिन्दी आलोचना का विकास दो स्तरों पर प्रमुखता से होता है। पहले स्तर पर हिन्दी आलोचना वैज्ञानिक विचारों तथा विवेक–सम्मत चिंतन से अपने को जोड़ते हुए, समय के सरोकरों को पहचानते हुए, इतिहास तथा सामाजिक गतिविधियों से अपना संबंध स्थापित करती है। दूसरे स्तर पर हिन्दी की जातीय परम्परा को समीक्षा के केन्द्र में लाती है। यही कारण है कि भारतेन्दु युग में जो साहित्य 'जनसमूह के हृदय का विकास' करता है वह द्विवेदी युग में आकर 'ज्ञान राशि का संचित कोश' बन जाता है। इस युग की आलोचना ज्ञान के अन्य अनुशासनों के साथ जुड़कर अपने फलक को विस्तृत करती है। इस विस्तार की निर्माण प्रक्रिया में हिन्दी आलोचना का एक सुनिश्चित मानसिक धरातल

निर्मित होता है। यह धरातल एक तरफ आदर्श, नैतिकता तो दूसरी तरफ समाज–सुधार की प्रवृत्ति के भीत पर खड़ा होता है। इसी नैतिकता और सुधारवादी दृष्टि के अनुसार इस युग के आलोचक रचनाओं और पुस्तकों की समीक्षा भी करते हैं।

द्विवेदी युग में आलोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों रूपों का विवेचन होता है। एक तरफ रस, ध्वनि, अलंकार को काव्यशास्त्रीय पैमाने से अलग हटाकर कविता के नए मानदण्ड बनाए जाते हैं, तो वहीं दूसरी तरफ पाश्चात्य जगत में विकसित होने वाली व्याख्यात्मक आलोचना के सिद्धान्तों को भारतीय सम–सामयिक चिंताओं से जोड़कर अलग रूप में व्याख्यायित किया जाता है। इस विवेचन के क्रम में इस युग के आलोचकों के यहाँ 'उपयोगितावादी' और नैतिकतावादी दृष्टि प्रमुखता से दिखाई देती है। चूँकि इस युग के आलोचक 'मध्य वर्ग' के व्यक्ति थे। इनके संस्कारों में नैतिकता तथा आचार–शास्त्र की भावना भरी पड़ी थी। यद्यपि तत्कालीन युग की हलचल ने उनके मानस में विकासोन्मुखी तथा साम्राज्यवाद विरोधी भावना का प्रस्फुटन किया था, लेकिन अतीत के प्रति बनी हुई अपनी आस्थाओं में ये आलोचक इतने सुदृढ़ थे कि नवीनता का आलोक उन्हें बिना किसी सांस्कृतिक चमत्कार के मुग्ध नहीं बना सकता था। इसलिए उन्होंने साहित्य को यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति न मानकर, उसे जीवन की 'संजीवनी' और 'मंगलविधायिनी' प्रेरणा के रूप में देखा।

उपयोगितावादी दृष्टि किसी भी साहित्य की समीक्षा के लिए एकांगी दृष्टि है। इस दृष्टि से जब भी साहित्य को देखा–परखा जाएगा तब साहित्य की मूलधारा संकुचित होगी। साहित्य अपनी चेतना में हमेशा संकुचित धरातल को तोड़ता है। उसकी व्यापकता ही उसके सार्थकता को प्रतिविम्बित करती है। उपयोगितावादी दृष्टि उसके व्यापकता को संकुचित करती है। यह दृष्टि तत्कालीन रूप से तो अपना प्रभाव उस युग पर अंकित करती है, लेकिन आगे उसकी धारा मंद पड़ जाती है। इसलिए इस दृष्टि का प्रभाव स्थूल और पार्थिव होता है। वह अपनी सुरुचि और आवश्यकता के अनुसार ही सभी चीजों को देखने–समझने के दावे को सत्य मान लेती है। द्विवेदी युगीन आलोचकों ने इसी 'उपयोगितावादी' दृष्टि के कारण साहित्य को अपने अनुसार पसंद किया तथा उसके साँचे में जो फिट नहीं बैठा उसे नकार दिया।

द्विवेदीयुगीन आलोचना की सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी है – जातीय साहित्य की खोज। जातीय साहित्य की सत्ता एक सजीव इकाई है। वह सदैव परिवर्तनशील और विकासमान रहती है। इस कारण जातीय साहित्य के अध्ययन में ऐतिहासिक रूप में दो बातों पर विचार

आवश्यक हो जाता है। पहली बात तो यह कि जिस जातीय साहित्य का हम अध्ययन कर रहे हैं, उसके परम्परागत जीवन के भाव क्या है? और दूसरी बात यह कि उस जाति या देश की मानसिक जीवन शैली कैसी थी और उसका विकास किस रूप में हुआ? किसी भी समय में जातीय साहित्य को पहचानना और उसका विवेचन करना सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है। जब भी सांस्कृतिक स्तर पर राष्ट्र को एकत्रित करना हो, जातीय साहित्य अपनी सबसे बड़ी भूमिका का निर्वहन करता है। द्विवेदी युग में भारतीय जनमानस को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ एकजुट होकर लड़ना था। इस कारण उस समय जातीय साहित्य की आवश्यकता प्रबल थी। उस तत्कालीन समय के साहित्यकार इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे। जातिगत स्तर पर यह देश जिस तरह बंटा हुआ था (आज भी है) उसको एकजुट करने के लिए, उनमें राष्ट्रीय भावनाओं का विकास करने के लिए जातीय साहित्य की खोज जरूरी थी। इसीलिए द्विवेदी युगीन आलोचक अपने समकालीन पहलुओं पर तो विचार कर ही रहे थे, साथ–ही–साथ अतीत के साहित्यकारों को भी अपने विवेचन का विषय बना रहे थे।

अब सवाल यह है कि अगर इस युग में जातीय साहित्य की खोज सांस्कृतिक स्तर पर हुई तो फिर क्या कारण था कि हिन्दी प्रदेश में विभेद भी सांस्कृतिक स्तर पर ही हुआ? और इस सांस्कृतिक विभेद का कारण भाषा बनी। दरअसल पश्चिमोत्तर प्रान्त और अवध में 1860 के दशक में हिन्दी–उर्दू विवाद का जन्म हुआ। यह विवाद कुछ समय तक ठंढ़ा रहा, लेकिन 1882 ई. में इसे फिर से जीवित किया गया। 1882 के बाद यह विवाद केवल पश्चिमोत्तर प्रान्त और अवध तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि पंजाब और मध्य प्रान्त भी इसकी जद में आ गए। 1890 के दशक में यह आन्दोलन और तेज हुआ। 1893 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा बनारस में स्थापित हुई। सभा के द्वारा पुराने साहित्य को व्याख्यायित करने, हिन्दी भाषा को समृद्ध करने तथा शब्दकोश निर्माण करने का काम शुरू हुआ। इस निर्माण प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों की खोज और उनपर समालोचनाएँ लिखी तो जाती हैं, लेकिन भाषाई स्तर पर हिन्दी–उर्दू के बीच खाई बढ़ती जाती है। वास्तव में उस समय उत्तर भारत की बहुसंख्यक जनता जिस भाषा को बोलती थी, उसमें हिन्दी–उर्दू का ज्यादा विभेद नहीं था। आम जनता फारसी से उतनी ही महरूम थी जितनी संस्कृत से। हिन्दी–उर्दू बोलचाल के स्तर पर एक ही भाषा थी, जो दो लिपियों में लिखी जाती थी; बोलचाल में दोनों भाषाओं के शब्दों को आम जनता आसानी से समझ जाती थी। एक भाषा की दो लिपियाँ हो सकती हैं। पर इस विवाद ने हिन्दी को संस्कृत के पास तो उर्दू को फारसी के पास पहुँचा दिया। हिन्दी हिन्दुओं की भाषा बन गई और उर्दू मुसलमानों की। विभेद के बीज तो

उन्नीसवीं सदी के नवजागरण में ही अंकुरित हो गए थे, लेकिन इस विभेद को जहाँ द्विवेदी युग में खत्म हो जाना चाहिए था, वह नहीं हुआ। भाषा का यह अन्तर्द्वन्द्व द्विवेदीयुगीन आलोचना को भी प्रभावित करता है।

उन्नीसवीं सदी के अंत तक कांग्रेस के भीतर दो गुटों का विभाजन स्पष्ट रूप से दिखने लगा है। कांग्रेस के भीतर से एक गुट निकलता है जो प्रतिक्रियावादी और उग्र था। इस गुट को गरमपंथ (Extremist) कहा गया। यह गरमपंथ तीन प्रमुख क्षेत्रों में तीन महत्त्वपूर्ण नेताओं के नेतृत्व में विकसित हुआ। बंगाल में विपिनचन्द्र पाल, महाराष्ट्र में बाल गंगाधर तिलक और पंजाब में लाला लाजपत राय। इन नेताओं का प्रभाव इन तीन राज्यों में तो पड़ता ही है, भारतीय राजनीति और आन्दोलनों को भी अपने प्रभावक्षेत्र का हिस्सा बनाने की कोशिश करता है। हकीकत तो यह है कि गरमदल के प्रतिक्रियावादी राजनीति को वैचारिक प्रेरणा नए क्षेत्रीय साहित्य से ही मिलती है। यह प्रेरणा भारतीय राष्ट्र की परिभाषा विशिष्ट सांस्कृतिक आधार पर या अपनी सभ्यता की श्रेष्ठता बोध के आधार पर करने के लिए एक रास्ता तैयार करती है। दरअसल यह रास्ता प्राच्यवाद से भरपूर पुनरुत्थानवाद को सम्वाद का अवसर प्रदान करता है। इस सम्वाद से एक परिकल्पित स्वर्णयुग सामने आता है। अतीतोन्मुखी पुनर्सजित इतिहास से प्राप्त प्रतीकों का उपयोग कर समाज में फिर से अपने अधिकार की वैधता स्थापित करने के लिए परिकल्पित आर्य युग के क्षत्रियत्व में अपनी श्रेष्ठताबोध के निर्माण की प्रक्रिया यहीं से शुरू होती है। द्विवेदी युगीन आलोचना में इस पुनरुत्थानवादी दृष्टि का अन्तर्द्वन्द्व दिखता है।

द्विवेदीयुगीन आलोचक अपने आलोचनात्मक मानदण्ड में जिस सुरुचि और नैतिकता के विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे थे वे एक हद तक आर्यसमाजी भावनाओं से जुड़ा हुआ था। इस कारण वे कला के विषय में जीवनपक्ष की आदर्शात्मकता को भी इतना अधिक बोझिल बनाकर पेश करते हैं कि साहित्य की मूल–वृत्ति कुंठित सी हो जाती है। दरअसल आधुनिक काल में बुर्जुवा जनतांत्रिक क्रांतियों के साथ–साथ जीवन के विविध क्षेत्रों में जिस नैतिक और आदर्शवादी मूल्यों की स्थापना हुई। इस स्थापना में नवजागरण के अग्रदूतों ने अपने आपको संस्कृति के क्षेत्र में 'नवजागरण' के रूप में व्याख्यायित किया। ज्ञान और विवेक के निर्विवाद साम्राज्य की स्थापना उस संस्कृति की घोषणापत्र बनी जिसकी प्रतिज्ञा–स्वतंत्रता, समानता और भातृत्व के मूल्य थे। सामंती पिछड़े हुए मूल्यों से इनका टकराहट प्रमुख रूप से ऐन्द्रियता के धरातल पर हुआ। अब अगर ध्यान से देखें तो ज्ञान की प्राथमिक स्रोत इन्द्रियां होती हैं, इसलिए वेदान्त समेत सभी भाववादी विचार परम्पराएँ इन्हीं इन्द्रियों के दमन

का उपदेश देती हैं ऐन्द्रियता का निषेध इनके प्रमुख मूल्यों में होता है। वास्तविकता यह है कि इस ऐन्द्रियता के निषेध से वह तर्क और विवेक की सम्भावना का भी निषेध करती हैं। इसीलिए ऐन्द्रियता भी 'नवजागरण' में भूमिका निभाने वाला अनिवार्य तत्त्व है। द्विवेदी युग के आलोचकों के यहाँ यही ऐन्द्रियता का निषेध उन्हें रीतिवादी काव्य का विरोधी बना देता है। यही कारण है कि अलौकिक आनंद के स्थान पर 'ऐन्द्रिय उद्दीपन' से मन को 'कलुषित' करने वाले स्त्रियों का और देवी–देवताओं तक का शृंगारिक वर्णन करने वाले कवि नवजागरण के हिन्दी संस्करण से खारिज होकर रीतिकाल की कालीसूची का हिस्सा बन जाते हैं।

द्विवेदीयुगीन आलोचना वाद, विवाद और सम्वाद के बीच से अपना स्वरूप विकसित करती है। इसलिए इस युग की आलोचना में कई अन्तर्द्वन्द्व दिखाई पड़ते हैं। चूँकि यह कालखंड (सन् 1900 से 1920 ई. तक का) हिन्दी आलोचना का सम्वर्धन काल है, इस कारण यहाँ द्वन्द्व होना स्वाभाविक है। यह द्वन्द्व भाषा के स्तर पर भी दिखता है और विषयवस्तु के स्तर पर भी। हिन्दी–उर्दू विवाद, खड़ी बोली और ब्रजभाषा का विवाद, अनस्थिरता संबंधी विवाद, परम्परा और नवीनता का द्वन्द्व, रीतिकाल और आधुनिकता का द्वन्द्व इत्यादि इसके प्रमुख उदाहरण हैं। ये विवाद और द्वन्द्व हिन्दी आलोचना के विकास को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। द्विवेदी युग में कविता की भाषा को 'ब्रजभाषा' से अलग हटाकर खड़ी बोली में करने पर जोर दिया गया। उस दौर में कविता की भाषा तो ब्रजभाषा थी, लेकिन बोलचाल में खड़ी बोली का अधिक प्रभाव था। लोकसाहित्य की अधिकतर रचनाएँ खड़ी बोली में होती थीं। आधुनिक काल में गद्य की भाषा खड़ी बोली हो तो गई, लेकिन कविता की भाषा पर द्वन्द्व बरकरार था। इस सन्दर्भ में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने बड़ा काम यह किया कि खड़ी बोली गद्य को व्याकरण सम्मत बनाया। उसकी त्रुटियों को सुधारते हुए, कविता की भाषा को भी खड़ी बोली में लिखने के लिए अपने युग के साहित्यकारों को प्रेरित किया। भाषा की सुकुमारता और भाषा की अनस्थिरता सम्बन्धी लम्बे विवाद का होना इसका प्रमाण है। इन विवादों और द्वन्द्वों से साहित्य सम्बन्धी कई मान्यताएँ टूटती हैं और नए तर्क विकसित भी होते हैं, जो हिन्दी आलोचना के विकास के साथ ही साथ साहित्य की जागरुकता को भी बनाए रखते हैं।

इन अन्तर्द्वन्द्वों के बावजूद द्विवेदी युग की हिन्दी आलोचना में साहित्य के जो मानदण्ड विकसित हुए वह हिन्दी आलोचना के स्वरूप और विकास के लिए महत्त्वपूर्ण थे। इस युग की आलोचना सिर्फ साहित्यिक आलोचना तक सीमित नहीं थी। उसमें राजनीति, समाज, धर्म, संस्कृति आदि विविध क्षेत्रों की समस्याओं पर विचार किया जाता था। इसलिए द्विवेदी युग की आलोचना साहित्यिक समीक्षा के साथ ही साथ सभ्यता समीक्षा भी है। एक

तरफ इस युग के आलोचकों ने अतीत के कवियों का मूल्यांकन कर साहित्य के जातीय स्वरूप को विस्तार दिया, तो वहीं दूसरी तरफ धार्मिक रूढ़ियों, जाति–भेद, लिंग–भेद जैसी समस्याओं पर विचार कर भारतीय जनमानस को जागरूक बनाने का भी प्रयास किया। यही नहीं इन समस्याओं की जड़ में जो देश की पुरानी सामंती मूल्य प्रणाली थी, उसके विरोध में अपने विचारों को व्यक्त किया। भारतीय और पाश्चात्य पतनशील प्रवृत्तियों के खिलाफ लिखकर साहित्य के लिए जनतांत्रिक रचनात्मक संघर्ष का रास्ता तैयार किया। महावीरप्रसाद द्विवेदी और चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने भारतीय जीवन की कूपमंडूकता पर कई आलेख लिखे। परम्परा की जो रूढ़ियाँ थीं उसपर तार्किक प्रश्न उठाए। हर युग के आलोचक का यह दायित्व होता है कि वह सजग रूप से अपनी परम्परा को देखे। उसके भीतर जो रूढ़ियां व्याप्त हैं उसको रेखांकित करे। आलोचना की दुनिया तार्किक विचारों की दुनिया है। विचार के लिए उसे रूढ़िगत परम्परा को तोड़ना पड़ता है और एक नवीन परम्परा का सृजन करना पड़ता है। इसी सृजनात्मकता के जरिए एक पीढ़ी में जो सवाल उठते हैं, उसका जवाब दूसरी पीढ़ी देती है। आलोचना में परम्परा का विकास इसी तरह होता है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग द्वारा आयोजित पुनश्चर्या पाठ्क्रम के समापन के अवसर पर मई 2002 में दिए गए एक व्याख्यान में नामवर सिंह ने हिन्दी आलोचना की परम्परा पर बात रखते हुए ठीक ही कहा था – "आलोचना का एक काम है – इतिहास का, परम्परा का मर्म समझना–समझाना और उसे आगे की पीढ़ियों के बीच जीवित रखना। उस परम्परा में जो श्रेष्ठ है, उसे बचाया जाता है। बाढ़ आती है तो लोग कहते हैं आग बचा लो, नहीं तो बाढ़ उतर जाएगी तब चूल्हा कैसे जलेगा, तो अतीत की जो आग है, उसे बचाना आलोचना का काम होता है।" कहना न होगा कि द्विवेदीयुगीन आलोचकों ने भी अपने अतीत के कवियों का मूल्यांकन कर उनके ग्रंथों का संकलन कर अपनी परम्परा आग को बचाने की कोशिश की, जो आलोचक का दायित्व होता है।

द्विवेदीयुगीन आलोचकों का सबल पक्ष है साम्राज्यवाद विरोध। चूँकि जिस समय ये आलोचक रचना कर रहे थे, वह समय भारतीय जनता के शोषण और दमन से भरा पड़ा है। जिस तरह ब्रिटिश सत्ता का प्रतिबन्ध साहित्य और संस्कृति पर बढ़ता जा रहा था, उसका प्रखर विरोध उस युग के रचनाकारों के यहाँ स्वाभाविक रूप से मिलना कठिन है। एक तरफ सत्ता के खिलाफ कुछ भी लिखने पर उन्हें सजा दी जाती थी, तो वहीं दूसरी तरफ गलत व्याख्याओं के द्वारा भारतीय प्राचीन साहित्य और इतिहास को पुर्नव्याख्यायित किया जा रहा था। अतः दोनों स्तरों पर द्विवेदीयुगीन साहित्यकारों को लड़ना था। ब्रिटिश राजसत्ता के

दमन के खिलाफ आमजन को खड़ा करना था तो वहीं इतिहास को गलत व्याख्या से भी बचाना था। कभी–कभी ऐसा होता है कि वर्तमान ही नहीं अतीत भी दुश्मनों के हाथों में सुरक्षित नहीं होता है। इसलिए हमें केवल वर्तमान के लिए ही नहीं उस अतीत के लिए भी लड़ना होता है जो हमारे इतिहास का अंग हो चुके हैं। उनकी रक्षा का दायित्व भी हमारे ऊपर आ पड़ता है। कदाचित् मुझे ऐसा लगता है कि द्विवेदीयुगीन लेखक, विचारक साहित्यिक तत्परता के साथ अपने अस्तित्व को खोज रहे थे और उसकी गलत व्याख्याओं के खिलाफ लड़ रहे थे।

द्विवेदीयुगीन आलोचना अतीत की कविता के मूल्यांकन की तरफ अधिक झुकी हुई थी और साथ–ही–साथ भारतीय काव्यशास्त्र से प्रभाव ग्रहण कर रही थी। इस युग के आलोचकों में नवीनता का आग्रह तो था, लेकिन यह आग्रह उनके विश्लेषण का सम्यक् आधार नहीं बन पा रहा था। विचार के स्तर पर नवीनता को ग्रहण करना जितना सुगम होता है, अनुभूति के स्तर पर उतना सुगम नहीं होता है। इसलिए द्विवेदीयुगीन आलोचना में नवीनता और प्राचीनता का द्वन्द्व स्पष्ट रूप में दिखता है। यह द्वन्द्व हिन्दी आलोचना के विकास में काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। द्विवेदीयुगीन आलोचना में आलोचनात्मक पद्धति के कई रूपों का विकास होता है तथा कई नए रूप भी बनते हैं सैद्धान्तिक समीक्षा के लिए सार्थक भावभूमि का निर्माण होता है तो वहीं व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत, तुलनात्मक आलोचना, ऐतिहासिक आलोचना, पुस्तक समीक्षा, पाठालोचन, भूमिका आदि शैलियों के साथ हिन्दी आलोचना का फलक विस्तृत होता है।

आज भी जब हिन्दी आलोचना के विकास धारा को समझना होगा तो द्विवेदी युगीन आलोचना उसकी महत्त्वपूर्ण कड़ी होगी। चलताऊ ढग से केवल भाषा–सुधार का काल कह कर आगे बढ़ जाना, आलोचना के स्वरूप और विकास प्रक्रिया को सार्थक रूप में नहीं समझना ही है। दरअसल जो लोग आचार्य शुक्ल और 1920 ई. से हिन्दी आलोचना की शुरुआत मानते हैं, वह आलोचनात्मक विवेक की परम्परा और उसकी निर्माण प्रक्रिया को वास्तविक अर्थों में नहीं समझ पाते हैं सही अर्थों में आलोचना के अन्तर्द्वन्द्व और उसके विकास प्रक्रिया को समझना है तो सन् 1900 से 1920 ई. के बीच निर्मित हुए आलोचनात्मक प्रतिमानों और आलोचकों की आलोचना दृष्टि को समझना होगा। इसी कालखंड के उत्तरार्द्ध में ही रामचन्द्र शुक्ल या उस काल के अन्य आलोचकों के आलोचना कर्म पर विचार कर एक राह की प्राप्ति संभव हो सकती है।

.....

संदर्भ ग्रंथ सूची

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

1 कृष्ण बिहारी मिश्र — देव और बिहारी
गंगा पुस्तक माला, कार्यालय 20–30,
अमीनाबाद पार्क, लखनऊ, 1982 वि.

2 कृष्ण बिहारी मिश्र,
ब्रजकिशोर मिश्र, कविसंस्तपन
करूणापति त्रिपाठी, (सं. मण्डल) — मतिराम ग्रंथावली
नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी
2021 वि.

3 चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' — पुरानी हिन्दी : निबंध कहानियाँ
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 2042 वि.

4 जगन्नाथदास रत्नाकर — बिहारी रत्नाकर
प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2006

5 पद्मसिंह शर्मा
(सं. कुमार पंकज) — सतसई संहार एवं सजीवन भाष्य
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2014

6 बालमुकुन्द गुप्त — 'शिवशम्भु के चिट्ठे'
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009

7 भगवानदीन — बिहारी और देव
नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, 1983 ई.

8 भारत यायावर (सं.) — हिन्दी की अनस्थिरता : एक ऐतिहासिक बहस
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1993

9 महावीरप्रसाद द्विवेदी
(सं. भारत यायावर) — महावीरप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली
किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2007

10 मिश्रबंधु (श्याम बिहारी मिश्र,
गणेश बिहारी मिश्र,
शुकदेव बिहारी मिश्र) — हिन्दी नवरत्न
गंगा पुस्तक माला, कार्यालय लखनऊ, 1981 वि.

11 मिश्रबंधु – मिश्रबंधु विनोद, भाग–1, 2, 3, 4
गंगा ग्रंथाकार, हैदराबार, 1972

11 श्यामसुंदर दास – साहित्यालोचन
भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2006

12 वही, – कबीर ग्रंथावली
नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी–सं. 25, 2064 वि.

सहायक ग्रंथ

1 अभिषेक रौशन – बालकृष्ण भट्ट और हिन्दी आलोचना का आरम्भ
अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2009

2 अयोध्या सिंह – भारत का मुक्ति संग्राम
ग्रंथशिल्पी इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2005

3 अंतोनियो ग्राम्शी – सांस्कृतिक और राजनीतिक चिन्तन के बुनियादी सरोकार (अनु. – कृष्णकांत मिश्र)
ग्रंथशिल्पी इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2012

4 ई.एच. कार – इतिहास क्या है? (अनु. – अशोक वाजपेयी)
ग्रंथशिल्पी इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2009

5 ई. श्रीधरन – इतिहास दर्शन 500 ई.पू. से सन् 2000 तक
अनु. मनजीत सलूजा, ओरियंट ब्लैकस्वान प्रा.लि.
नयी दिल्ली, 2011

6 उदयभानु सिंह – महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग
लखनऊ विश्वविद्यालय, संवत–2008

7 ए.आर. देसाई – भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि
मैकमिलन प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011

8 एम.एन. श्रीनिवासन – आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1977

9 ओमप्रकाश सिंह (सं.) – भारतेन्दु ग्रन्थावली
प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2008

10 वही, – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रन्थावली
प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2007

11 वही, – जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली
प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2014

12 ओंकारनाथ श्रीवास्तव – हिन्दी साहित्य परिवर्तन के सौ वर्ष
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1996

13 कमला प्रसाद — आलोचक और आलोचना
आधार प्रकाशन, पंचकुला, 2011

14 कर्मेन्दु शिशिर — हिन्दी नवजागरण और जातीय गद्य परमपरा
आधार प्रकाशन, पंचकुला, 2008

15 कुमार पंकज (सं.) — सतसई संहार एवं संजीवन भाष्य
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2014

16 कृष्ण कुमार — विचार का डर
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–1999

17 कृष्णदत्त पालीवान — भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के श्रेष्ठ निबंध
सचिन प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1987

18 कृष्णमोहन — आधुनिकता और उपनिवेश
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015

19 के. दामोदरन — भारतीय चिंतन परम्परा
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2010

20 के. फ्रेंक ई. — हिन्दी साहित्य का इतिहास (अनु. सदानंद शाही)
लोकायतन प्रकाशन, गोरखपुर, 1998

21 ग्यार्ग लुकाच — इतिहास और वर्ग चेतना (अनु. नरेश नदीम)
प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2005

22 चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' — पुरानी हिन्दी : निबंध : कहानियाँ
चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ग्रन्थावली भाग–2
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 2042 संवत

23 चन्द्रबली पाण्डेय — राष्ट्रभाषा पर विचार
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 2014 संवत

24 गोपाल प्रधान — हिन्दी नवरत्न
स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009

25 जवाहरलाल नेहरू — हिन्दुस्तान की कहानी (सं. रामचन्द्र टंडन)
सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986

26 जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन – हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास
(अनु. किशोरी लाल गुप्त)
ओमप्रकाश बेरी हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,
वाराणसी, 1957

27 जोगेलकर – हिन्दी अनुसंधान
राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1978

28 ताराचंद – भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का इतिहास, भाग–9
प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नयी दिल्ली, 1969

29 दीपक कुमार – विज्ञान और भारत में अंग्रेजी राज
ग्रंथ शिल्पी इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1998

30 नगेन्द्र – हिन्दी साहित्य का इतिहास
मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 2011

30 वही, – रीतिकाव्य की भूमिका
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1953

31 नंदकिशोर नवल – हिन्दी आलोचना का विका
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011

32 नंद दुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999

33 वही, – नया साहित्य : नये प्रश्न
विद्या मंदिर, वाराणसी, 1959

34 नामवर सिंह – आलोचना और विचारधारा (सं. आशीष त्रिपाठी)
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2012

35 वही, – इतिहास और आलोचना
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011

36 वही, – वाद–विवाद–संवाद
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011

37 नामवर सिंह – हिन्दी का गद्य–पर्व (सं. आशीष त्रिपाठी)
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011

38 वही, – जमाने से दो–दो हाथ (सं. आशीष त्रिपाठी)
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011

39 नामवर सिंह व सत्यप्रकाश मिश्र – बालकृष्ण भट्ट–हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत
प्रतिनिधि संकलन
नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली, 1997

40 नामवर सिंह व विश्वनाथ त्रिपाठी – चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', हिन्दी नवजागरण के
अग्रदूत, प्रतिनिधि संकलन
नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली, 1997

41 नामवर सिंह व रामबक्ष – महावीरप्रसाद द्विवेदी – हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत
प्रतिनिधि संकलन
नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली, 1997

42 निर्मला जैन – हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी
राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006

43 नेमिचन्द्र जैन (सं.) – मुक्तिबोध रचनावली
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011

44 प्रेमचंद – साहित्य का उद्देश्य
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1983

45 बच्चन सिंह – हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास
राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1996

46 वही, – आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1997

47 बालकृष्ण भट्ट – साहित्य सुमन
गंगा ग्रंथाकार, लखनऊ, 1965

48 बिपिन चन्द्र – आधुनिक भारत
अनामिका प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011

49 बिपिन चन्द्र — आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद
अनामिका प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011

50 वही, — समकालीन भारत
अनामिका प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011

51 बिपिन चन्द्र, मृदुला मुखर्जी आदित्य मुखर्जी, क.न. पणिक्कर सुचेता महाजन — भारत का स्वतंत्रता संग्राम
हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली 1981

52 बिपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी देव अरुण — स्वतंत्रता संग्राम
नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली, 2003

53 बी.एल. ग्रोवर — आधुनिक भारत का इतिहास
एस चंद एंड कम्पनी लिमिटेड, नयी दिल्ली, 2003

54 भारत यायावर (सं.) — महावीरप्रसाद द्विवेदी रचना संचयन
साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 2010

55 वही, — महावीरप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2007

56 वही, — हिन्दी की अनस्थिरता : एक ऐतिहासिक बहस
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1993

57 मैनेजर पाण्डेय — आलोचना की सामाजिकता
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2005

58 वही, — साहित्य और इतिहास दृष्टि
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1981

59 वही, — आलोचना में सहमति–असहमति
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015

60 रमेश कुंतल मेघ — आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण
अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1980

61 रामचन्द्र शुक्ल — हिन्दी साहित्य का इतिहास
प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2011

62 रामदरश मिश्र — हिन्दी आलोचना : प्रवृत्तियाँ और आधार भूमि
नार्थ इंडिया पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2002

63 रामविलास शर्मा — संस्कृति और साहित्य
किताब महल, इलाहाबाद, 1948

64 वही, — प्रगति और परम्परा
किताब महल, इलाहाबाद, 1948

65 वही, — लोकजीवन और साहित्य
विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1955

66 वही, — भाषा और समाज
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1977

67 वही, — महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1977

68 वही, — भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1948

69 वही, — भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश
किताबघर, नयी दिल्ली, 1999

70 वही, — हिन्दी जाति का साहित्य
राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1981

71 वही, — भारतीय नवजागरण और यूरोप
हिन्दी कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,
नयी दिल्ली, 1996

72 रामस्वरूप चतुर्वेदी — हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2000

73 रूपकिशोर मिश्र — हिन्दी सैद्धान्तिक आलोचना
अनुभव प्रकाशन, कानपुर, 1980

74 रेने वेलेक — आलोचना की धारणाएँ (अनु. इन्द्रनाथ मदान)
हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1990

75 रेने वेलेक और आस्टिन वारेन – साहित्य सिद्धान्त (अनु. वी.एस. पालीवान)
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012

76 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971

77 विजयशंकर मल्ल (सं.) – प्रतापनारायण ग्रन्थावली
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 2014 वि.

78 विद्यानिवास मिश्र – हिन्दू धर्म जीवन में समानता की खोज
राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1975

79 विश्वनाथ त्रिपाठी – हिन्दी आलोचना
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997

80 विष्णुकांत शास्त्री (सं.) – हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास, भाग–9
नागरी प्रचारिणी सभा काशी, 2034 संवत

81 वीरभारत तलवार – रस्साकशी
सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 2002

82 वही, – हिन्दी नवजागरण और विचारधारा
सत्यार्थ प्रकाशन समालोचना का एक प्रयास,
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास
शिमला, 2001

83 वैंकेट शर्मा – आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास
आत्माराम एण्ड सन्स, नयी दिल्ली, 1962

84 श्यामसुंदर दास – साहित्यालोचन
भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2013

85 श्यामाचरण दुबे – परम्परा, इतिहास बोध और संस्कृति
राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1992

86 श्यामाचरण दुबे – परम्परा और परिवर्तन
भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2001

87 शंभूनाथ — राष्ट्रीय पुनर्जागरण और रामविलास शर्मा
नयी किताब, दिल्ली, 2013

88 वही, — सामाजिक क्रांति के दस्तावेज, (भारतीय नवजागरण के अग्रदूतों के लेखन और भाषण से एक संचयन)
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2004

89 शंभूनाथ (सं.) — 1857 नवजागरण और भारतीय भाषाएँ
केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, 2008

90 शमसुर्रहमान फ़ारुख़ी — उर्दू का आरम्भिक युग
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2007

91 शिवकुमार मिश्र — साहित्य और सामाजिक संदर्भ
प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2012

92 शिवपूजन सहाय और नलिन विलोचन शर्मा (सं.) — अयोध्या प्रसाद खत्री स्मारक ग्रन्थ
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 2017 संवत

93 शीतांशु — कम्पनी राज और हिन्दी
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2018

94 शेखर बंदोपाध्याय — पलासी से विभाजन
ओरिऐंटल ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली, 2006

95 सुमित सरकार — आधुनिक भारत
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009

96 सुमित्रा नंदन पंत — पल्लव
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006

पत्र–पत्रिकाएँ

1 अभ्युदय – साप्ताहिक, सं. मदन मोहन मालवीय, प्रयाग
2 नागरी प्रचारिणी पत्रिका – मासिक, सं. श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, वेणीप्रसाद, काशी
3 बालोबोधनी – मासिक, सं. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, काशी
4 ब्राह्मण – मासिक, सं. प्रताप नारायण मिश्र, कानपुर
5 समालोचक – मासिक, सं. बाबू गोपालराम गहमरनिवासी, जयपुर
6 सरस्वती – मासिक, सं. महावीरप्रसाद द्विवेदी, इलाहाबाद
7 सुदर्शन – मासिक, सं. देवकीनंदन एवं माधव, काशी
8 स्त्री दर्पण – मासिक, सं. श्रीमती रामेश्वरी नेहरू, प्रयाग
9 श्री शारदा (जुलाई, सितम्बर, नवम्बर, दिसम्बर 1920)
हिन्दी प्रदीप – मासिक, सं. बालकृष्ण भट्ट, प्रयाग

इन्टर–नेट सामग्री

- https://www.scribd.com/doc/282924131/Asbab-e-Baghawat-e-Hind-pdf
- http://ncrb.gov.in/
- http://www.hindisamay.com/content/3389/1/
- http://www.hindisamay.com/contentDetail.aspx?id=954&pageno=1

अंग्रेजी पुस्तक

- Alok Rai - Hindi Nationalism (tracks for the Times) Orient Blackswan, 2001
- Daniel Gold - Organize hinduism: For vedic truth to hindu nation, in martin and r. scott apply eds. Accounting for Fundamentalism: the dynamic character of movement (Chivago: university of Chicago press,1994), p. 534
- Francesca Orsini - The Hindi Public Sphere 1920-1940, Oxford Book, 2009
- Javed Majeed - Ungoverned imaginings: james mill's the history of britishindia and orientalism, oxford : clarendon press, 1992
- Vasudha Dalmia - The Nationalization of Hindu Traditions: Bharatendu Harischandra and Nineteenth-century Banaras Oxford University Press, 1997